# सांख्य एवं योग दर्शन



सम्पादक
वेदमूर्ति तपोनिष्ठ पं० श्रीराम शर्मा आचार्य
माता भगवती देवी शर्मा



प्रकाशक
वेदमाता गायत्री ट्रस्ट
वेदविभाग, शान्तिकुञ्ज, हरिद्वार ( उत्तराञ्चल )



प्रथम आवृत्ति २००० मूल्य - ७० रुपये

* प्रकाशक
**वेदमाता गायत्री ट्रस्ट**
**वेद विभाग, शान्तिकुञ्ज ,हरिद्वार( उत्तराञ्चल )**

* सम्पादक
**पं० श्रीराम शर्मा आचार्य**
**माता भगवती देवी शर्मा**



* प्रथम आवृत्ति (संशोधित-परिवर्धित संयुक्त संस्करण)
**कार्तिक पूर्णिमा संवत् २०५७**
(महापूर्णाहुति समारोह, कुम्भक्षेत्र हरिद्वार)

* **मूल्य**- ७० रुपये

*मुद्रक :
**युगान्तर चेतना प्रेस**
**शान्तिकुञ्ज, हरिद्वार ( उत्तराञ्चल )**

# प्रकाशकीय

युगऋषि ने अपनी प्रत्यक्ष तपःसाधना की पूर्णाहुति के साथ ही देव-संस्कृति के पुनरुत्थान का अभियान प्रारंभ कर दिया था। उसी संदर्भ में यह भी उचित और आवश्यक लगा कि देव संस्कृति के आधार रूप आर्षग्रन्थों को जन सुलभ बनाया जाय। उन्होंने उस समय लौकिक दृष्टि से विपरीत परिस्थितियों और साधनों के अभाव के बीच भी चारों वेद, १०८ उपनिषदों और षट्दर्शनों के जन-सुलभ अनुवाद एवं प्रकाशन का असाधारण पुरुषार्थ कर दिखाया। आर्ष ग्रन्थों के प्रथम संस्करण प्रकाशित करते समय ही उन्होंने यह इच्छा भी व्यक्त की थी कि समय आने पर इनके अपेक्षाकृत उत्कृष्ट संवर्धित संस्करण भी प्रकाशित किए जाएँगे।

सन् १९७१ में मथुरा से विदाई लेकर हिमालय प्रवास पूरा करके शान्तिकुञ्ज में विराजने पर उन्होंने इस ओर ध्यान देना प्रारंभ किया। उसके लिए मार्गदर्शन परक सूत्र-संकेत देने और उन्हें नैष्ठिकों द्वारा विकसित कराने का क्रम प्रारंभ किया। उसी आधार पर वन्दनीया माताजी के प्रत्यक्ष मार्गदर्शन में वेद विभाग की स्थापना हुई तथा वेद और उपनिषदों के नए संस्करण प्रस्तुत-प्रकाशित किए गये। उन्हें जन साधारण के साथ विद्वत्समाज ने भी बहुत सराहा। इसी के साथ दर्शनों के भी ऐसे ही संस्करण प्रकाशित करने का आग्रह भी किया जाने लगा। परिजनों और विज्ञजनों के अनुरोध और ऋषि के अनुग्रह के आधार पर ही दर्शनग्रन्थों के नए संस्करण प्रकाशित करने का प्रयास प्रारंभ किया गया। उसी प्रयास के प्रथम पुष्प के रूप में 'सांख्य और योग' दर्शन का यह संयुक्त संस्करण प्रस्तुत किया जा रहा है।

इस संस्करण का मूल आधार पू० आचार्य श्री द्वारा पूर्व प्रकाशित संस्करण ही है। इसमें जो परिष्कार और संवर्धन किया गया है - वह उन्हीं के द्वारा समय-समय पर दिये जाते रहे संकेत सूत्रों के अनुसार ही किया गया है। भाषा और अभिव्यक्ति को अधिक स्पष्ट तथा प्रामाणिक बनाने के लिए दर्शन ग्रन्थों पर विभिन्न विज्ञ-पुरुषों और संस्थानों द्वारा प्रस्तुत शोध प्रबन्धों का भी सहारा लिया गया है। प्रयास यह भी किया गया है कि दर्शन शास्त्र के संदर्भ में जो भ्रान्तियाँ या शंकाएँ, फैलाई जाती रही हैं, उनका समुचित समाधान सुधी पाठकों को मिल सके। अध्येताओं की सुविधा की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण शब्दों और सूत्रों की अनुक्रमणिका के परिशिष्ट भी जोड़ दिए गये हैं।

युग ऋषि के चिन्तन को जन-जन तक पहुँचाने के लिए किए गये इस विनम्र प्रयास से स्वाध्यायशीलों को पर्याप्त लाभ मिलेगा— ऐसी आशा है।

— प्रकाशक

# विषयानुक्रम





# भूमिका

## दर्शन शब्द का अर्थ

भारतीय मनीषियों के उर्वर मस्तिष्क से जिस कर्म, ज्ञान और भक्तिमय त्रिपथगा का प्रवाह उद्भूत हुआ, उसने दूर-दूर के मानवों के आध्यात्मिक कल्मष को धोकर उन्हें पवित्र, नित्य-शुद्ध-बुद्ध और सदा स्वच्छ बनाकर मानवता के विकास में योगदान दिया है। इसी पतितपावनी धारा को लोग दर्शन के नाम से पुकारते हैं। अन्वेषकों का विचार है कि इस शब्द का वर्तमान अर्थ में सबसे पहला प्रयोग वैशेषिक दर्शन में हुआ।

**'दर्शन' शब्द का अर्थ—** दर्शन शब्द पाणिनीय व्याकरणानुसार **दृशिर् प्रेक्षणे** धातु से ल्युट् प्रत्यय करने से निष्पन्न होता है। अतएव दर्शन शब्द का अर्थ दृष्टि या देखना, 'जिसके द्वारा देखा जाय' या 'जिसमें देखा जाय' होगा। दर्शन शब्द का शब्दार्थ केवल देखना या सामान्य देखना ही नहीं है। इसीलिए पाणिनि ने धात्वर्थ में '**प्रेक्षण**' शब्द का प्रयोग किया है। प्रकृष्ट ईक्षण, जिसमें अन्तश्चक्षुओं द्वारा देखना या मनन करके **सोपपत्तिक** निष्कर्ष निकालना ही दर्शन का अभिधेय है। इस प्रकार के प्रकृष्ट ईक्षण के साधन और फल दोनों का नाम दर्शन है। जहाँ पर इन सिद्धान्तों का संकलन हो, उन ग्रन्थों का भी नाम दर्शन ही होगा, जैसे— न्याय दर्शन, वैशेषिक दर्शन, मीमांसा दर्शन आदि-आदि।

## दर्शन - शास्त्र का उद्भव एवं विकास

दर्शन ग्रन्थों को दर्शन शास्त्र भी कहते हैं। यह शास्त्र शब्द '**शासु अनुशिष्टौ**' से निष्पन्न होने के कारण दर्शन का अनुशासन या उपदेश करने के कारण ही दर्शन-शास्त्र कहलाने का अधिकारी है। दर्शन अर्थात् साक्षात्कृत धर्मा ऋषियों के अन्तश्चक्षु या दिव्य चक्षुओं द्वारा देखे गये तत्त्वों के उपदेशक ग्रन्थों का नाम ही दर्शन शास्त्र है।

**दर्शन का प्रतिपाद्य विषय —** दर्शनों का उपदेश वैयक्तिक जीवन के सम्मार्जन और परिष्करण के लिए ही अधिक उपयोगी है। आध्यात्मिक पवित्रता एवं उन्नयन, बिना दर्शनों के होना दुर्लभ है। दर्शन-शास्त्र ही हमें प्रमाण और तर्क के सहारे अन्धकार में दीपज्योति प्रदान करके हमारा मार्ग-दर्शन करने में समर्थ होता है। गीता के अनुसार '**किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः**' संसार में करणीय क्या है और अकरणीय क्या है? इस विषय में विद्वान् भी अच्छी तरह नहीं जान पाते। परम लक्ष्य एवं पुरुषार्थ की प्राप्ति दार्शनिक ज्ञान से ही संभव है, अन्यथा नहीं।

दर्शन द्वारा प्रतिपाद्य विषयों को हम संक्षेप में दो वर्गों में रख सकते हैं। लौकिक और अलौकिक अथवा भौतिक और आध्यात्मिक। दर्शन या तो विस्तृत सृष्टि प्रपंच के विषय में सिद्धान्त या आत्मा के विषय में हमसे चर्चा करता है। इस प्रकार दर्शन के विषय जड़ और चेतन दोनों ही हैं। प्राचीन ऋग्वैदिक काल से ही दर्शनों के मूल तत्त्वों के विषय में कुछ न कुछ संकेत हमारे आर्ष साहित्य में मिलते हैं।

**दर्शन की विकास यात्रा —** वेदों में जो आधार तत्त्व बीज रूप में बिखरे दिखाई पड़ते थे, वे ब्राह्मणों में आकर कुछ उभरे; परन्तु वहाँ कर्मकाण्ड की लताओं के प्रतानों में फँसकर बहुत अधिक नहीं बढ़ पाये। आरण्यकों में ये अंकुरित होकर उपनिषदों में खूब पल्लवित हुए। दर्शनों का विकास जो उपनिषदों में हमें दृष्टिगोचर होता है, आलोचकों ने उसका श्रीगणेश लगभग दो सौ वर्ष ईसा पूर्व स्थिर किया है। महात्मा बुद्ध से ये प्राचीन हैं। इतना ही नहीं विद्वानों ने सांख्य, योग और मीमांसा को भी बुद्ध से प्राचीन माना है। सम्भव है कि ये दर्शन वर्तमान रूप में उस समय न हों, तथापि वे किसी न किसी रूप में अवश्य विद्यमान थे। वैशेषिक दर्शन भी शायद बुद्ध से प्राचीन ही है; क्योंकि जैसे आज के युग में न्याय और वैशेषिक समान तन्त्र समझे जाते हैं, उसी प्रकार पहले पूर्व मीमांसा और वैशेषिक समझे जाते थे। बुद्ध दर्शन पद्धति का आविर्भाव ईसा से पूर्व दो सौ वर्ष माना जाता है; परन्तु जैन दर्शन बुद्ध दर्शन से भी प्राचीन ठहरता है। इसकी पुष्टि में यह प्रमाण दिया जाता है कि प्राचीन जैन दर्शनों में न तो बुद्ध दर्शन और न किसी हिन्दू दर्शन का ही खण्डन उपलब्ध होता है। महावीर स्वामी, जो जैन सम्प्रदाय के प्रवर्तक माने जाते हैं, वे भी बुद्ध से प्राचीन थे। अतएव जैन दर्शन का बुद्ध दर्शन से प्राचीन होना युक्ति-युक्त अनुमान है।

भारतीय दर्शनों का ऐतिहासिक क्रम निश्चित करना कठिन है। इन सब भिन्न-भिन्न दर्शनों का लगभग साथ ही साथ समान रूप से प्रादुर्भाव एवं विकास हुआ है। इधर-उधर तथा बीच में भी कई कड़ियाँ छिन्न-भिन्न हो गई हैं। अत: जो कुछ शेष है, उसी का आधार लेकर चलना है। इस क्रम में शुद्ध ऐतिहासिकता न होने पर भी क्रमिक विकास की शृंखला आदि से अन्त तक चलती रही है। इसीलिए प्राय: विद्वानों ने इसी क्रम का अनुसरण किया है।

## दर्शन का महत्त्व

तत्त्वों के अन्वेषण की प्रवृत्ति भारतवर्ष में उस सुदूर प्राचीन काल से है, जिसे हम 'वैदिक युग' के नाम से पुकारते हैं। ऋग्वेद के अत्यन्त प्राचीन युग से ही भारतीय विचारों में द्विविध प्रवृत्ति और द्विविध लक्ष्य के दर्शन हमें होते हैं। प्रथम प्रवृत्ति प्रतिभा या प्रज्ञामूलक है तथा द्वितीय प्रवृत्ति तर्कमूलक है। प्रज्ञा के बल से पहली प्रवृत्ति तत्त्वों के विवेचन में कृतकार्य होती है और दूसरी प्रवृत्ति तर्क के सहारे तत्त्वों के समीक्षण में समर्थ होती है। अंग्रेजी शब्दों में पहली को हम 'इन्ट्यूशनिस्टिक' कह सकते हैं और दूसरी को रैशनलिस्टिक। लक्ष्य भी आरम्भ से ही दो प्रकार के थे-धर्म का उपार्जन तथा ब्रह्म का साक्षात्कार।

प्रज्ञामूलक और तर्क-मूलक प्रवृत्तियों के परस्पर सम्मिलन से आत्मा के औपनिषदिष्ठ तत्त्वज्ञान का स्फुट आविर्भाव हुआ। उपनिषदों के ज्ञान का पर्यवसान आत्मा और परमात्मा के एकीकरण को सिद्ध करने वाले प्रतिभामूलक वेदान्त में हुआ।

## भारतीय दर्शन का सच्चा स्वरूप

इस विषय में आज भी अनेक भ्रान्त धारणाएँ हमारे हृदय में विद्यमान हैं। इसका कारण कुछ तो अपने दर्शन-ग्रन्थों से अपरिचय है और बहुत-कुछ पाश्चात्य शिक्षकों की शिक्षा का दुष्परिणाम है। स्वार्थी लोगों ने हमारे दर्शन को निराशावादी कहकर बदनाम कर रखा है; परन्तु इसमें प्रवेश

करके इसका अवलोकन करने से तो यह दर्शन नितान्त आशावादी रूप में दिखाई देता है। तथ्य कुछ दूसरा ही है। भारत में दर्शन का जन्म दु:खों की जिज्ञासा तथा उनके दूर करने के उपायों के चिन्तन से ही होता है। (**दु:खत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदपघातके हेतौ**-सां० का०१)। इस भवसागर में प्राणी क्लेशों के लहरों के थपेड़ों को खाकर, पद-पद पर विपत्तियों से आक्रान्त होकर इतना अधीर हो उठता है कि उसे जीवन में निराशा ही निराशा दिखाई देने लगती है। दर्शन ही उसे सच्चा आश्वासन देकर नौका के समान सबको आश्रय देकर पार पहुँचा देता है। यदि हमारे दार्शनिकों की जिज्ञासा दु:ख तक ही समाप्त होती, तो हम उन्हें निराशावादी मानने के लिए कथमपि उद्यत भी होते; परन्तु वे तो आगे बढ़ते हैं और वे उसके कारणों को ढूँढ़कर उससे सदा के लिए (वास्तविक मोक्ष) छुटकारा पाने का मार्ग बतलाते हैं। मोक्ष-शास्त्र भी चिकित्सा-शास्त्र के समान ही चतुर्व्यूह है। रोग, रोग-हेतु, आरोग्य तथा भैषज्य इन चार तथ्यों के ऊपर वैद्यक शास्त्र आश्रित है। उसी प्रकार मोक्ष-शास्त्र भी संसार, संसार हेतु, मोक्ष और मोक्षोपाय के ऊपर अवलम्बित है। आनन्दमय आत्मा की प्राप्ति को चरम लक्ष्य मानने वाला दर्शन नैराश्यवादी क्योंकर हो सकता है? हमारा दर्शन परम आशावादी है। वह मनुष्यों को सदैव आगे बढ़ने का उपदेश देकर उस गन्तव्य देश की ओर ले जाता है, जिसे पाने के बाद अन्य कोई प्राप्तव्य वस्तु अवशेष ही नहीं रहती।

## भारतीय दर्शन का स्वरूप : आक्षेप और परिहार

**भारतीय दर्शन का लक्ष्य—** भारतीय दर्शन संसार के दु:खमय जीवन से विरक्ति को दिखाता हुआ क्रमश: भविष्य के प्रकाश और आनन्दमय अवस्था के मार्ग में हमें अग्रसर करता है।

इस मार्ग में निराशा का कोई स्थान नहीं है, जो कुछ ज्ञान जीव एक जन्म में प्राप्त कर लेता है, उसका नाश मरने से नहीं होता। वह ज्ञान तो जीवात्मा के साथ-साथ एक जर्जर शरीर को छोड़कर दूसरे नवीन शरीर में चला जाता है और दूसरे जन्म में वह जीव पूर्व जन्म के उस संचित ज्ञान के आगे ज्ञान के मार्ग में अग्रसर होता है।

**अन्धविश्वास—** कुछ लोगों का आक्षेप है कि भारतीय दर्शन में 'अन्धविश्वास' का ही प्राधान्य है और दार्शनिक विद्वान् आँख मूँदकर जो कुछ वेद या अन्य प्राचीन ग्रन्थों में लिखा है, उसे ही मानना अपना ध्येय रखते हैं। उससे थोड़ा सा भी विचलित होना परम अनुचित समझते हैं। अत: भारतीय दर्शन में मौलिकता नहीं है और न कहीं युक्ति का ही स्थान है।

यह आक्षेप निर्मूल है। दार्शनिक तत्त्वों को समझने का साधन श्रवण, मनन और निदिध्यासन है। जो कुछ हमें वेद में या शास्त्र में, उपदेश रूप में या सिद्धान्त के रूप में मिलता है अथवा जो कुछ हम गुरु के मुख से साक्षात् सुनते हैं, उसे तभी स्वीकार करना उचित है, जब हमें उसके तथ्य के सम्बन्ध में कोई भी शंका न रह जाय। उपनिषदों के अध्ययन से हमें पता चलता है कि उपनिषदों की मुख्य देन है — 'तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के लिए अच्छे प्रकार से 'तर्क' करना'। हमारे शास्त्र में राग-द्वेष रहित 'तर्क' का बहुत ऊँचा स्थान है। हाँ, इसमें एक बात है कि पाश्चात्य दार्शनिकों की तरह हम केवल तर्क पर ही निर्भर नहीं रह सकते।

**तत्त्वों का साक्षात् अनुभव —** शास्त्रों में सिद्धान्त रूप से तत्त्वों का प्रतिपादन तो है; किन्तु प्रत्येक जिज्ञासु के लिए साधनों के द्वारा उन तत्त्वों का साक्षात् अनुभव करना आवश्यक है।

**भारतीय दर्शन की प्रगतिशीलता—** ऋषियों

के सिद्धान्तों से हमें केवल परम पद के मार्ग का पता चलता है; किन्तु ज्ञान या परम पद की प्राप्ति तथा दु:ख की आत्यन्तिक निवृत्ति तो तभी होगी, जब हम उस मार्ग पर चलकर उस परम पद का साक्षात् अनुभव प्राप्त करें। श्रुतियों में कहा गया है कि 'आत्मा' व्यापक, नित्य, चित् और आनन्द है। जिज्ञासु इसे प्रतिज्ञा-वाक्य की तरह स्वीकार कर, उसका साक्षात्कार करने के लिए आगे बढ़ता है। इस प्रक्रिया से इतना लाभ होता है कि जिज्ञासु प्रत्येक पद पर स्वयं समझ सकता है कि वह कितना अग्रसर हुआ है और कितनी दूर उसे अभी और जाना है, इस प्रकार यह देखा जाता है कि भारतीय-दर्शन पूर्ण 'प्रगतिशील' होता हुआ भी ज्ञान-मार्ग में स्थिर होकर अपने अधिकार के अनुसार क्रमश: आगे बढ़ता है।

## सांख्य शास्त्र का स्वरूप

**१. सांख्य की प्राचीनता— 'न हि सांख्य समं ज्ञानम्'** अर्थात् यथार्थ ज्ञान तो सांख्य में ही है, ऐसा ज्ञान दूसरे शास्त्र में नहीं है। यही कारण है कि उपनिषद् से लेकर साहित्य तथा ज्योति:शास्त्र के भी ग्रन्थों में सांख्यशास्त्र के विषयों का किसी न किसी प्रसंग में उल्लेख मिलता ही है।

सांख्यशास्त्र के प्रवर्तक परमर्षि कपिल ही 'आदि विद्वान्' कहे गये हैं। शास्त्रों के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि सांख्य शास्त्र के समान व्यापक शास्त्र कोई दूसरा नहीं हुआ। सांख्य दर्शन तो वास्तव में मनोवैज्ञानिक दर्शन है। इसके तत्त्व स्थूल नहीं हैं। वे हमारे बौद्धिक जगत् के तत्त्व हैं।

**२. 'सांख्य' शब्द का अर्थ—** सांख्य शब्द की व्युत्पत्ति का आधार सं पूर्वक ख्या धातु है। इस ख्या धातु का अर्थ 'प्रकथन' है। इसके अतिरिक्त चक्षिङ् धातु को भी 'ख्या' आदेश हो जाता है, 'सम्' उपसर्गपूर्वक उससे भी 'संख्या' शब्द निष्पन्न हो सकता है। 'चक्षिङ्' का अभिप्राय 'व्यक्त' अर्थात् स्पष्ट कथन है। जिस शास्त्र में सर्वप्रथम तत्त्वों की गणना की गई या व्याख्या की गई हो, वही शास्त्र सांख्य कहलाता है। गणना के अतिरिक्त संख्या का अर्थ विचार करना भी होता है। इस आधार पर 'सम्यक् विचार करना' भी सांख्य का अर्थ है और इस आधार पर सम्यक् विचार करने वाले शास्त्र का नाम सांख्य है। कहा भी गया है—

**संख्यां प्रकुर्वते चैव प्रकृतिं च प्रचक्षते।**
**तत्त्वानि च चतुर्विंशत्तेन सांख्यं प्रकीर्त्तितम्॥**

अर्थात्- इसमें तत्त्वों की संख्या (गणना) की जाती है और प्रकृति की व्याख्या होती है इसलिए इसे सांख्य कहा गया है। सार संक्षेप में इसे इस तरह का समझा जा सकता है- 'संख्या' शब्द सम् पूर्वक 'चक्षिङ्' (ख्याञ्) धातु से बना है। इसका अर्थ है— 'सम्यक् ख्यानम् अर्थात् 'सम्यक् विचार'। इसी को 'विवेक बुद्धि' कहा है।

इस समय सांख्य के रहस्य को जानने वाले व्यक्ति इस देश में बहुत कम रह गये हैं। ऐसा मालूम होता है कि शास्त्र विचार की आध्यात्मिक प्रवृत्ति बौद्धों के साथ-साथ लड़ते-झगड़ते रहने के कारण सर्वथा बहिर्मुखी हो गयी। यही कारण है कि आधुनिक काल में सांख्य-शास्त्र के तत्त्वों के वास्तविक स्वरूप का परिचय अन्धकार में पड़ा हुआ है।

## सांख्य दर्शन के आचार्य तथा उनके ग्रन्थ

**कपिल—** सांख्य दर्शन के आदि प्रवर्त्तक महर्षि कपिल हैं। भागवत में इन्हें विष्णु का पञ्चम अवतार माना है। इन्होंने सांख्यदर्शन के रहस्यों को सूत्र-रूप में प्रतिपादित किया था।

**आसुरि—** पुराणों में तथा अन्य दार्शनिक ग्रन्थों में भी लिखा है कि कपिल के साक्षात् शिष्य 'आसुरि' थे। इनकी रचना के सम्बन्ध में कहीं कोई उल्लेख नहीं मिलता।

**पञ्चशिख** — आसुरि के प्रथम शिष्य 'पञ्चशिख' थे। इन्होंने सांख्यदर्शन पर एक 'सूत्रग्रन्थ' लिखा था,जो उपलब्ध नहीं है;किन्तु इनके नाम से कतिपय सूत्रों का उल्लेख मिलता है। किसी का मत है कि (षष्टितन्त्र) भी पञ्चशिख का ही ग्रन्थ है।

**विन्ध्यवास—** विन्ध्यवास या विन्ध्यवासिन् सांख्यदर्शन के एक बहुत प्रसिद्ध आचार्य थे। इनका मत अनेक ग्रन्थों में उल्लिखित मिलता है। कुमारिल के 'श्लोकवार्तिक', 'भोजवृत्ति' 'मेधातिथिभाष्य' आदि ग्रन्थों में भी इनके मत की चर्चा की गई है।

इनके अतिरिक्त वार्षगण्य, जैगीषव्य, वोढु, देवल आदि भी सांख्य के प्रसिद्ध आचार्य थे; किन्तु किसी का भी कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है।

**विज्ञानभिक्षु—** विज्ञानभिक्षु १६ वीं सदी में बहुत बड़े विद्वान् हुए हैं। कहा जाता है कि वर्तमान 'सांख्यसूत्र' और उसका भाष्य 'सांख्य प्रवचन भाष्य' ये दोनों इन्हीं की रचनायें हैं। यह बहुत स्वतन्त्र मत के विद्वान् थे। यही कारण है कि इनकी व्याख्याओं में बहुत स्वातंत्र्य है और सांख्य एवं वेदान्त के मतों का मिश्रण है।

**ईश्वरकृष्ण—** ईश्वर कृष्ण का समय ईसा के पूर्व दूसरी सदी कही जा सकती है। तन्त्र के आधार पर इन्होंने सांख्य दर्शन पर 'सांख्यकारिका' नाम का एक सर्वांगपूर्ण ग्रन्थ लिखा। इसको पढ़कर सांख्य दर्शन का परम्परागत ज्ञान हमें प्राप्त होता है इसको 'कनकसप्तति', 'सुवर्णसप्तति' आदि भी कहते हैं।

## सांख्यदर्शन और ईश्वरवाद : शंकायें एवं निराकरण

साख्य दर्शन को न मानने वाले कुछ विरोधी तत्त्व इस पर अनीश्वरवादी और नास्तिक होने का आक्षेप लगाते हैं कि महर्षि कपिल ने सांख्य दर्शन में ईश्वर की सत्ता को स्वीकार न कर उसका खण्डन किया है। ऐसे लोगों का कहना है कि सांख्यकार ने प्रकृति को ही जगत् का करण माना है और ईश्वर की सत्ता का जिक्र तक नहीं किया है। दूसरा आक्षेप यह है कि महर्षि कपिल ने सृष्टि रचना के निमित्त २५ तत्त्वों का वर्णन किया है, जिनमें २४ तत्त्व प्रकृति के विभाग स्वरूप और एक तत्त्व चैतन्य पुरुष का स्वीकार किया है; किन्तु उस चैतन्य पुरुष के जिन लक्षणों का वर्णन किया है, उनसे उसे (पुरुष को) जगत् का कर्त्ता नहीं माना जा सकता। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि सांख्य दर्शन प्रकृतिवादी है और सृष्टि रचना में वह ईश्वर की कोई महत्ता स्वीकार नहीं करता। इसे एक प्रकार की 'नास्तिकता' ही कह सकते हैं।

सांख्य दर्शन के सूत्रों का गम्भीरता पूर्वक चिन्तन-मनन करने पर विदित होता है कि उपर्युक्त आक्षेप निस्सार हैं। इसके तृतीय अध्याय में उल्लेख है कि ईश्वर जगत् का उपादान कारण भले ही न हो पर वह सृष्टि रचना का निमित्त कारण अवश्य है। यथा — **अकार्यत्वेऽपि तद्योग: परावश्यात्** (सां०द० ३.५५) भावार्थ यह है कि 'ईश्वर' का कार्य-परिणाम न होने के कारण जगत् को ईश्वर का कार्य तो नहीं माना जा सकता; किन्तु यह स्पष्ट है कि यह रचना अपने आप नहीं हो सकती। इसका कोई निमित्त कारण अवश्य है। अस्तु, यह तो नहीं कहा जा सकता कि जगत् ब्रह्म से मकड़ी में से जाले की तरह निकल आया, पर इतना अवश्य स्वीकार करते हैं कि प्रकृति ने इस जगत् की रचना ईश्वर की प्रेरणा से ही की है। अत: स्पष्ट है कि ईश्वर जगत् का उपादान कारण नहीं, वरन् नियामक है। सां०द० ३.५६ में इस तथ्य को इस सूत्र द्वारा स्वीकार भी किया गया है — **स हि सर्ववित्**

**सर्वकर्त्ता**। आशय यह है कि वह ईश्वर सर्वान्तर्यामी और सभी का कर्त्ता अर्थात् अधिष्ठाता है। विश्व का कोई पदार्थ ईश्वरीय सत्ता से रहित नहीं है। अत: ईश्वर सम्पूर्ण जगत् का अधिष्ठाता है- नियामक है। अगले सूत्र ३.५७ में तो स्पष्टत: कह दिया गया है— **ईदृशेश्वरसिद्धिः सिद्धा** अर्थात् ईश्वर की सिद्धि इस दर्शन में दृढ़ता से की गई है। इस प्रकार सांख्यदर्शन में ईश्वर द्वारा जगत् की सृष्टि को सीधे भले ही स्वीकर न किया गया हो, पर उसकी प्रेरणा से प्रकृति द्वारा सृष्टि उत्पत्ति मानने के कारण उसे (ईश्वर को) जगत् का नियामक-नियन्त्रणकर्त्ता और अधिष्ठाता अवश्य माना गया है। अत: सांख्यदर्शन नास्तिक नहीं, वरन् आस्तिक है।

## तत्त्व मीमांसा

**सांख्य के तत्त्व**— सांख्य दर्शन में यह समस्त जगत् २५ तत्त्वों का खेल माना गया है। इनके दो मुख्य विभाग हैं — पुरुष और प्रकृति। इनमें 'पुरुष' अथवा आत्मा तो चैतन्य स्वरूप है, उसका निर्माण न किसी तत्त्व से होता है और न उससे किसी का निर्माण होता है। प्रकृति के आठ विभाग माने गये हैं और उसमें से सोलह विकारों (विकृति) की उत्पत्ति कही गयी है। आठ प्रकृतियाँ इस प्रकार हैं — १. मूल प्रकृति २. महत्तत्त्व (बुद्धि) ३. अहंकार ४. शब्द ५. स्पर्श ६. रूप ७. रस ८. गन्ध। शब्द से लेकर रस तक पाँच तन्मात्राएँ कहलाती हैं। सांख्य में प्रकृति उसको कहते हैं, जिससे आगे चलकर कोई अन्य तत्त्व उत्पन्न हो, इसीलिए बुद्धि और अहंकार के साथ पाँचों तन्मात्राओं को भी प्रकृति माना गया है; क्योंकि उनसे ही सोलह विकृतियों की उत्पत्ति होती है। सोलह विकृतियाँ इस प्रकार हैं- पाँच स्थूलभूत- आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी; पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ — श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, रसना और घ्राण; तथा पाँच कर्मेन्द्रियाँ — वाणी, हाथ, पैर, उपस्थ और गुदा, ग्यारहवाँ मन कहा गया है। इस प्रकार ८ प्रकृतियाँ और १६ विकृतियाँ मिलकर चौबीस तत्त्व होते हैं तथा पुरुष को मिलाकर कुल पच्चीस तत्त्व होते हैं। पृथ्वी आदि पाँच स्थूलभूत तथा मन सहित ग्यारह इन्द्रियाँ प्रत्यक्ष हैं तथा इनसे आगे चलकर किसी अन्य तत्त्व का प्रादुर्भाव नहीं होता, इसलिए इन्हें विकृति कहा गया है। ये ग्यारह जिन सूक्ष्म तन्मात्राओं से उत्पन्न होती हैं, वे अनुभवगम्य हैं। जब कोई साधक अन्तर्मुखी होकर ध्यान करता है, तो उसे सूक्ष्म तन्मात्राओं शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध का ज्ञान होता है। जब इन पाँचों के भी मूल उद्‌गम को खोजा जाता है, तो 'अहंवृत्ति' का साक्षात्कार होता है। 'अहंकार' से भी ऊपर उठकर विचार करने में 'महत्तत्त्व' अथवा 'अस्मितावृत्ति' के दर्शन होते हैं; परन्तु उसके ऊपर और किसी कारण का पता न चलने पर अनुमान द्वारा 'महत्तत्त्व' को उत्पन्न करने वाली शक्ति को मूल प्रकृति मान लिया जाता है,जो कि अनादि है। इस प्रकार महर्षि कपिल ने जड़त्व के जो चौबीस विभाग बतलाये हैं, वे प्रत्यक्ष और अनुभवगम्य हैं, उन्हें केवल तर्क द्वारा सिद्ध नहीं किया गया है। यह मूल प्रकृति ही तीन गुणों — सत्त्व, रज, तम, की न्यूनाधिकता के कारण जगत् के विभिन्न तत्त्वों तथा नाम रूपों में प्रकट होकर विश्व की सृष्टि करती रहती हैं। इस प्रकार — सांख्य की भूमि में प्रमुख तीन प्रकार के 'तत्त्व' हैं— 'व्यक्त', 'अव्यक्त' तथा 'ज्ञ'। 'ज्ञ' चेतन है। 'अव्यक्त' को मूल प्रकृति या प्रधान कहते हैं। यह जड़ है। 'व्यक्त' के तेईस भेद हैं और ये कार्य-कारण की परम्परा में मूल-प्रकृति के परिणाम हैं। इन्हीं तत्त्वों के यथार्थ ज्ञान से सांख्यशास्त्र के अनुसार दु:ख की निवृत्ति होती है, जैसा कहा है — **'व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात्'**। इन तत्त्वों को समझने के लिए हमें यह ध्यान में रखना चाहिए

कि इन तत्त्वों में एक तत्त्व 'चेतन' है, जिसे 'ज्ञ' या पुरुष भी कहते हैं और अवशिष्ट दोनों 'व्यक्त' और 'अव्यक्त' जड़ हैं।

**पुरुष अथवा चेतन तत्त्व —** किसी जड़ पदार्थ की तरह पुरुष अथवा चेतन तत्त्व का प्रत्यक्ष अनुभव नहीं किया जा सकता; किन्तु जब इसकी रचना और उद्देश्य पर गहनता से विचार किया जाता है, तब स्वाभाविक रूप से वास्तविक तथ्य समझ में आ जाता है और इसके अस्तित्व को स्वीकार करना ही पड़ता है। दर्शन शास्त्र के नियम के अनुसार यह आवश्यक है कि जिसे हम अनुभव करते हैं, उसका कोई कारण अवश्य होना चाहिए। विश्व के कार्य में जब एक क्रम, एक व्यवस्था, एक चेतना का अनुभव होता है, तब उसके कारण स्वरूप किसी 'चेतन' का होना भी आवश्यक है। ऊपर सांख्य के जो २४ तत्त्व (प्रकृति के २४ विभाग) वर्णित हैं, उनके अतिरिक्त पच्चीसवाँ तत्त्व पुरुष है। वह चेतन है। उसका प्रमाण इस प्रकार दिया गया है —

**संघातपरार्थत्वात्त्रिगुणादिविपर्ययादधिष्ठानात्।**
**पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात् कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च॥**
(सां० का० १७)

इसका तात्पर्य है कि संघात के परार्थ होने से, त्रिगुणादि (सत्त्व, रज, तम) के विपरीत होने से, भोक्ता भाव से और मोक्ष की ओर प्रवृत्ति होने से पुरुष (चेतन तत्त्व) के अस्तित्व की सिद्धि होती है।

**पुरुष का बहुत्व—** जब चेतन सत्ता के अस्तित्व की सिद्धि हो गई, तब यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि उस चेतन सत्ता का स्वरूप क्या है? चेतन के स्वरूप के सम्बन्ध में वेदान्त दर्शन का यह प्रसिद्ध सिद्धान्त है कि परमात्मा और आत्मा में अभेद है। तात्पर्य यह है कि सभी आत्माएँ एक ही परमात्मा से उत्पन्न होती हैं और अन्ततः उसी में विलीन हो जाती हैं; किन्तु सांख्य दर्शन इस सिद्धान्त को नहीं मानता। इसके अनुसार तो प्रत्येक जीवात्मा की स्वतन्त्र सत्ता है। इस सिद्धान्त को पुष्ट करने के लिए सांख्यकारिका में तीन प्रमाण प्रस्तुत किये गये हैं —

**जननमरणकरणानां प्रतिनियमादयुगपत् प्रवृत्तेश्च।**
**पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव॥**
(सां० का० १८)

तात्पर्य यह है कि जन्म-मरण और करणों (साधनों) के पृथक्-पृथक् होने के नियम से सभी लोग (आत्माएँ) एक साथ ही किसी कार्य को सम्पन्न नहीं करते। अतः त्रिगुण भेद से पुरुष (ईश्वर-आत्मा) का बहुत्व (अनेक होना) सिद्ध होता है।

सांख्य दर्शन के अनुसार जन्म-मरण और इन्द्रियों के कार्यों में विभिन्नता रहती है, अतः स्पष्ट है कि सभी जीवात्माएँ एक दूसरे से भिन्न होती हैं। यदि ऐसा न होता, तो एक व्यक्ति के जन्मने पर सभी जन्म लेते तथा एक के मरने पर सभी की मृत्यु हो जाती। इसी तरह यदि एक व्यक्ति नेत्रज्योति शून्य हो जाता,तो सभी को नेत्रज्योति रहित होना चाहिए था, पर ऐसा कहाँ होता है? इसी तरह एक तथ्य यह भी है कि यदि सबमें एक ही जीवात्मा होती,तो सभी की रुचियाँ एक जैसी होतीं, पर देखा जाता है कि सबकी रुचियों में वैभिन्न्य होता है। इन समस्त विभिन्नताओं को देखकर यह स्पष्ट होता है कि पुरुष एक नहीं 'अनेक' है।

## सत्यकार्यवाद

सांख्य की दृष्टि सूक्ष्म है। इसके मत से 'कार्य' वस्तुतः 'कारण' में वर्तमान रहता है। कारण से कार्य की उत्पत्ति का अर्थ है 'अव्यक्त से व्यक्त होना' तथा कार्य के नाश का अर्थ है 'व्यक्त से अव्यक्त होना'। सांख्य में न किसी की 'उत्पत्ति', न किसी का 'नाश' होता है। केवल

स्वरूप में परिवर्तन होता है, वस्तु में नहीं। इसी को 'सत्कार्यवाद' कहते हैं। इसका सिद्धान्त है —

**'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः'**

अर्थात् 'असत्' से 'सत्' नहीं होता, और सत् का अभाव नहीं होता।

ईश्वरकृष्ण ने 'सत्कार्य' को सिद्ध करने के लिए ये पाँच युक्तियाँ दी हैं—

**असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसंभवाभावात्।**
**शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम्॥**

(सां० का० ९)

**१. असदकरणात्—** असतः अकरणात्- अर्थात् जो नहीं है (असत् है), उसमें उत्पन्न करने की सामर्थ्य नहीं (अकरण) है। जैसे — खरहे (खरगोश) की सींग (जो असत् है), कभी कुछ उत्पन्न नहीं कर सकती।

**२. उपादानग्रहणात्—** किसी वस्तु को उत्पन्न करने के लिए किसी विशेष कारण (उपादान) की ही खोज की जाती है। अर्थात् वह विशेष-कारण उस कार्य से किसी प्रकार सम्बद्ध होने के कारण ही उसे उत्पन्न कर सकता है, अन्यथा नहीं।

**३. सर्वसंभवाभावात्—** सभी वस्तुएँ सभी कारणों से उत्पन्न नहीं होतीं। अतः 'कार्य' 'कारण' में सत् अर्थात् कारण-व्यापार के पूर्व भी, विद्यमान है।

**४. शक्तस्य शक्यकरणात्—** किसी 'कारण' में कोई शक्ति है, जिससे कोई विशेष 'कार्य' उत्पन्न होता है, कारण से सम्बद्ध रहने से उसकी उत्पत्ति होती है और सम्बद्ध न रहने से उस कार्य की उत्पत्ति नहीं होती अर्थात् 'कार्य' सम्पन्न होने के पूर्व 'कारण' में विद्यमान है।

**५. कारणभावात्—** सांख्य में 'कारण'और 'कार्य' में अभेद या तादात्म्य सम्बन्ध माना जाता है। ऐसी स्थिति में यदि 'कारण' है, तो 'कार्य' भी है, ऐसा मानना पड़ेगा। अतएव 'कारण' में 'कार्य' विद्यमान है, यह मानना पड़ता है। यही सत्कार्यवाद है।

## सृष्टि प्रक्रिया

सांख्य दर्शन के मतानुसार मूल प्रकृति के तीन गुण सत्त्व, रज और तम हैं। जब ये गुण साम्यावस्था में रहते हैं, तब 'प्रलय' की स्थिति होती है। तब मूल प्रकृति और पुरुष के अतिरिक्त और कुछ शेष नहीं रहता। तत्पश्चात् जब प्रकृति में संक्षोभ (हलचल) होता है, तब तीनों गुण न्यूनाधिक होने लगते हैं। सबसे पहले सत्त्व गुण की प्रधानता से महत्तत्त्व (बुद्धितत्त्व) का उद्‌भव होता है। महत्तत्त्व में रजोगुण के प्राबल्य से अहङ्कार की तथा अहङ्कार में तमोगुण के प्राबल्य से पञ्च तन्मात्राओं (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध) की उत्पत्ति होती है। तमोगुण के आधिक्य से इन सूक्ष्म तन्मात्राओं से पाँच स्थूल भूतों आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी का प्रादुर्भाव होता है। इन पाँच स्थूल भूतों के सम्मिलन और गुणत्रय के न्यूनाधिक्य के परिणाम स्वरूप विभिन्न प्रकार की जड़-जङ्गम सृष्टि का निर्माण होता है। सार संक्षेप में इसे इस प्रकार कहा जा सकता है:—

यह प्रकृति तीनों गुणों की 'साम्यावस्था' है। प्रकृति के सात्त्विक अंश से 'महत् तत्त्व,' जिसे 'बुद्धि-तत्त्व भी कहते हैं, की अभिव्यक्ति होती है। इसलिए महत् को प्रकृति की 'विकृति' कहते हैं। इसके दो रूप होते हैं—'सात्त्विक', जैसे— धर्म, ज्ञान, वैराग्य तथा ऐश्वर्य एवं 'तामसिक', जैसे —अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य तथा अनैश्वर्य।

बुद्धि में भी सत्त्व, रजस् और तमस् — ये तीनों गुण हैं। सत्त्वगुण प्रधान है, अन्य गुण गौण हैं। प्रकृति के उपर्युक्त तीनों गुण यद्यपि परस्पर विरुद्ध स्वभाव के हैं; किन्तु सभी एक साथ ही रहते हैं और सामञ्जस्य बिठाकर चलते हैं; इस सम्मिलन-सामञ्जस्य से सृष्टि का उद्‌भव और विकास सम्भव होता है। बुद्धि तत्त्व से 'अहंकार'

उत्पन्न होता है।

**अहंकार का स्वरूप**— अहंकार अभिमानात्मक है। इसमें भी तीनों गुणों के मिलने के कारण इसके तीन रूप हैं —

'**वैकृत** — जिसमें 'सात्त्विक गुण' विशेष है। इससे ग्यारह इन्द्रियों (५ ज्ञानेन्द्रिय + ५ कर्मेन्द्रिय + १ मन) की अभिव्यक्ति होती है।

'**भूतादि** — जिसमें 'तमोगुण' का वैशिष्ट्य है। इससे पाँच तन्मात्राओं की अभिव्यक्ति होती है।

'**तैजस**— जिसमें 'रजोगुण'की विशेषता है।'तैजस रूप अहंकार' सात्विक तथा तामस इन दोनों अंशों को अपने अपने कार्य करने में सहायता देता है।

इन अंशों से युक्त अहंकार से ग्यारह इन्द्रियों की अर्थात् मनस्, पाँच ज्ञानेन्द्रियों की तथा पाँच कर्मेन्द्रियों की अभिव्यक्ति होती है। चक्षु, श्रोत्र,घ्राण,रसना तथा त्वक् ये पाँच 'ज्ञानेन्द्रियाँ' या 'बुद्धीन्द्रियाँ' हैं। इनके विषय क्रमशः रूप, शब्द, गन्ध, रस तथा स्पर्श हैं। वाक्, पाणि, पाद, पायु, तथा उपस्थ ये पाँच 'कर्मेन्द्रियाँ' हैं। इनके विषय क्रमशः वचन (वर्णोच्चारण) आदान, विहरण, उत्सर्ग (मलत्याग) तथा रति (आनन्द) हैं।

इनमें से ज्ञानेन्द्रिय के साथ कार्य करने के समय 'मन' ज्ञानेन्द्रिय के समान तथा कर्मेन्द्रिय के साथ कर्मेन्द्रिय स्वरूप हो जाता है। इसीलिए इसे उभयात्मक कहा है। किसी कार्य को करने के समय किया जाय, या न किया जाय, 'मन में' इस प्रकार जो संकल्प-विकल्प होता है, वह 'मन' का धर्म है, स्वरूप है।

'अहंकार' के तामस अंश से शब्द-तन्मात्रा, स्पर्शतन्मात्रा, रूपतन्मात्रा, रसतन्मात्रा तथा गन्धतन्मात्रा ये पाँच तन्मात्राएँ अभिव्यक्त होती हैं। 'तन्मात्र' शब्द का अर्थ है—'**तदेव इति तन्मात्रम्**', अर्थात् 'वही'। शब्द के आगे 'मात्र' शब्द लगाने का अभिप्राय है—उस शब्द के अर्थ को सीमित करना अर्थात् 'शब्द तन्मात्रा' का अर्थ है—'शब्द ही' और कुछ भी नहीं।''शब्दतन्मात्रा' से 'आकाश','स्पर्शतन्मात्रा' से 'वायु','रूपतन्मात्रा' से 'तेजस्', 'रसतन्मात्रा' से 'जल' तथा 'गन्धतन्मात्रा'से 'पृथिवी' पृथक्-पृथक् अभिव्यक्त होते हैं। यही पाँचभूतों की सृष्टि है।

## प्रमाण विचार

उपर्युक्त पच्चीस प्रमेयों के वास्तविक ज्ञान से दु:ख की आत्यन्तिक निवृत्ति होती है। प्रमेयों के जानने के लिए प्रमाणों की आवश्यकता होती है। सांख्य मत में इन तीनों प्रकार के प्रमेयों का अर्थात् 'व्यक्त', 'अव्यक्त' तथा 'ज्ञ' का ज्ञान तीन प्रमाणों से होता है। इसलिए सांख्यशास्त्र ने तीन ही प्रमाण माने हैं — दृष्ट (प्रत्यक्ष), अनुमान तथा आप्तवचन।

**१. प्रत्यक्ष प्रमाण**— इसका लक्षण पञ्चम कारिका में दिया गया है— '**प्रतिविषयाध्यावसायः**' अर्थात् प्रत्येक ज्ञान के विषय के सम्बन्ध में पृथक्-पृथक् जो निश्चित ज्ञान है, वही प्रत्यक्ष है।

**२. अनुमान** — 'अनुमान' का लक्षण न्यायमत की तरह लिङ्ग और लिङ्गी के ज्ञानपर्वूक है। इसके तीन भेद हैं — 'पूर्ववत् अनुमान', 'शेषवत् अनुमान' तथा 'सामान्यतोदृष्ट अनुमान'।

**३. आप्तवचन** — 'आगम' प्रमाण को ही 'आप्तवचन' कहते हैं। तीन ही प्रमाणों से सांख्य शास्त्र के सभी तत्त्वों का ज्ञान हो जाता है। अब यह विचारणीय है कि किस 'प्रमाण' से किस 'प्रमेय' का ज्ञान होता है। सांख्य में 'व्यक्त', 'अव्यक्त' तथा 'ज्ञ' ये तीन प्रकार के प्रमेय हैं। 'व्यक्त' का ज्ञान 'प्रत्यक्ष' से होता है (**दृष्टात्-प्रत्यक्षात् सामान्यतः-साधारणतत्त्वानां-'व्यक्तानां' प्रतीतिः**), जो अतीन्द्रिय हों, जिनका 'प्रत्यक्ष' से ज्ञान न हो, उनका 'अनुमान' से ज्ञान होता है।'अव्यक्त' अतीन्द्रिय है, परोक्ष है। इसका ज्ञान प्रत्यक्ष से नहीं होता, अतएव इसका ज्ञान 'अनुमान' से होता है (**अतीन्द्रियाणाम् अनुमानात्**

**प्रतीतिः )**। इनके अतिरिक्त जो 'परोक्ष' हों और जिनका ज्ञान 'अनुमान' से भी न हो सके, उनका ज्ञान 'आप्तागम' से सिद्ध होता है- **तस्मादपि = अनुमानादपि च असिद्धम् परोक्षम् = अतीन्द्रियम् आप्तागमात् सिद्धम्।**

वेद वाक्य के ही द्वारा, अर्थात् आप्तागम के द्वारा 'ज्ञ पुरुष' के अस्तित्व की सिद्धि होती है।

## मुक्ति का विचार

सांख्य दर्शन के प्रथम सूत्र में ही इस दर्शन के प्रयोजन का स्पष्ट संकेत मिलता है कि मनुष्य जन्म का प्रमुख लक्ष्य दु:खों से आत्यन्तिक निवृत्ति है। इसी को सर्वोच्च पुरुषार्थ माना गया है— **त्रिविध दुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः** (सां०द० १.१)। यही वास्तविक मुक्ति है। यों तो संसार के सभी अभावों और आवश्यकताओं का निराकरण धन से हो जाता है। यथा- भूख की निवृत्ति धन द्वारा भोजन प्राप्त कर लेने से, शरीर के आच्छादन की निवृत्ति धन द्वारा वस्त्र आदि प्राप्त कर लेने से हो जाती है। अत: सांसारिक साधनों तथा धन आदि प्राप्त करने को भी महर्षि कपिल ने पुरुषार्थ माना है; किन्तु दु:खों की आत्यन्तिक (सम्पूर्ण) निवृत्ति उपर्युक्त साधनों द्वारा सम्भंव नहीं है। इसके लिए ज्ञान की प्राप्ति होना आवश्यक है और ज्ञान से ही मुक्ति सम्भव है। **ज्ञानान्मुक्तिः** (सां० द० ३.२३) सूत्र से यह स्पष्ट भी होता है ।

यद्यपि आत्मा निर्विकार और निर्लिप्त है, किन्तु जगत् में आकर प्रकृति के संयोग से शरीर को 'मैं' समझकर मैं सुखी हूँ, दु:खी हूँ, बीमार हूँ आदि मानने लगता है। यह अज्ञान के कारण है। इसका निराकरण ज्ञान द्वारा होता है। ज्ञान की चरम स्थिति को सांख्य दर्शन में **विवेकख्याति** कहते हैं। इस स्थिति को प्राप्त कर लेने पर साधक मुक्ति (दु:खों से आत्यन्तिक निवृत्ति) प्राप्त कर लेता है। सार संक्षेप में इसे इस प्रकार समझा जा सकता है- महत् से लेकर भूतों तक की सृष्टि 'प्रकृति' ही करती है और यह सृष्टि वस्तुतः प्रत्येक 'पुरुष' को मुक्त करने के लिए ही होती है। सृष्टि करने के लिए 'प्रकृति' किसी का साहाय्य नहीं लेती। 'पुरुष' का बिम्ब जो 'प्रकृति' पर पड़ता है, वह भी किसी के प्रयत्न से नहीं, सब 'स्वभाव' से ही होता है।

पुरुष को मुक्त करने के लिए 'प्रकृति' नाना प्रकार के उपायों को रचती है। 'मुक्ति' एक जन्म के प्रयत्न से मिलना सम्भव नहीं है। ज्ञान के द्वारा अविद्या के नाश होने पर 'प्रकृति' और 'पुरुष' एक प्रकार से अपने-अपने स्वरूप को पहचान लेते हैं। यही ज्ञान 'विवेकबुद्धि' को उत्पन्न करता है।

'विवेकबुद्धि' प्राप्त होने से पुरुष अपने स्वरूप को पहचान लेता है और अपने को निर्लिप्त तथा निस्संग समझने लगता है। प्रकृति की सृष्टि के उद्देश्य की पूर्ति हो जाने पर 'प्रकृति' विरत हो जाती है और पुरुष कैवल्य को प्राप्त हो जाता है; परन्तु प्रारब्ध कर्मों तथा पूर्वजन्मों के संस्कारों के विद्यमान रहने के कारण उसी समय शरीर का पतन नहीं होता। भोग के पूर्ति होने पर ही संस्कारों का भी नाश हो जाता है,तब शरीर का पतन तथा 'विदेह कैवल्य' की प्राप्ति होती है। जब तक संस्कार है, तब तक 'जीवन्मुक्त' की अवस्था में जीव रहता है।

**मोक्ष का स्वरूप** — सांख्यदर्शन में अध्यात्म पथ में प्रगति करने के जिन साधनों का वर्णन किया गया है, उनका उद्देश्य बन्धनों से मुक्ति पाना ही है, जो प्रकृति सान्निध्य से व्यक्तियों को प्राप्त हो जाता है अथवा जिनमें वे अपने को बन्धनयुक्त अनुभव करते हैं। ऊपर कहा जा चुका है कि इस बन्धन से मुक्ति ज्ञान से ही सम्भव है (ज्ञानान्मुक्तिः); क्योंकि बन्धन प्रत्यक्ष या जड़ नहीं, वरन् अज्ञान के कारण है। अज्ञान के कारण

व्यक्ति समझता रहता है कि यह शरीर ही आत्मा है तथा भौतिक सुख सम्पदाएँ ही जीवन का सार हैं। सत्य ज्ञान से उसे यह अनुभूति हो जाती है कि मैं शरीर नहीं, आत्मा हूँ और तब वह उन अज्ञानजनित बन्धनों से अपने को मुक्त पाता है, जिनके कारण अब तक व्यथित-तृषित था। इस प्रकार बन्धन विपरीत ज्ञान (अज्ञान) है। जैसा कि सूत्र ३.२४ में लिखा है **(बन्धो विपर्ययात्)** और मुक्ति (मोक्ष) ज्ञान स्वरूप में स्थित होना है।

**मुक्ति के मार्ग में बाधाएँ** — लौकिक दु:खों से निवृत्ति पाकर ही मुक्ति तक पहुँचना सम्भव है। जिसका प्रमुख साधन ज्ञान या विवेक है; किन्तु यह ज्ञान सहज नहीं मिल जाता। इसके मिलने तक विभिन्न विघ्न-बाधाएँ सामने आती हैं। मनुष्य जीवन में विभिन्न आन्तरिक और बाह्य प्रतिकूलताएँ आती रहती हैं, जिनके कारण मनुष्य लौकिक आकांक्षाओं की भी अपूर्णता अनुभव करता रहता है, तब फिर मुक्ति पथ पर आगे कैसे बढ़ सके? लौकिक साधनों की प्राप्ति में पाँच प्रकार के असन्तोष (असन्तुष्टियाँ) बाधक बताए गये हैं- **१. अर्जन**- (इनकी प्राप्ति में दु:ख) **२. रक्षण**- (इनके रक्षण में दु:ख) **३. क्षय**- (इनके विनाश में दु:ख) **४. भोग**- (इनके भोग में दु:ख)[कारण कि भोगने से कामना में और वृद्धि होती है] **५. हिंसा**- दूसरों की हिंसा का दु:ख (कारण कि बिना किसी प्राणी को कष्ट या दु:ख पहुँचाए भोगों की प्राप्ति नहीं होती)

इसी प्रकार चार तुष्टियाँ भी मोक्ष मार्ग में बाधक सिद्ध होती हैं। ये निम्नवत् हैं-

**१. प्रकृति तुष्टि** — कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि प्रकृति स्वत: ही भोग और मुक्ति प्रदान करने के लिए पुरुष (जीव) को विकास पथ पर चलाती रहती है, अत: कभी न कभी वह हमें कैवल्य (मुक्ति) पद तक पहुँचा ही देगी। अस्तु, हमें ध्यान, समाधि आदि उपक्रम करने से क्या लाभ?

**२. उपादान तुष्टि** — कुछ लोग शास्त्रों के इन वचनों पर पूर्ण विश्वास करके बैठ जाते हैं कि हम संन्यास ग्रहण कर लें, तो मुक्ति स्वयं ही मिल जायेगी। पर वे यह भूल जाते हैं कि 'संन्यास' एक उपादान मात्र है, वह ग्रहण करने मात्र से लक्ष्य तक नहीं पहुँचा सकता, वरन् प्रत्याहार, ध्यान, धारणा, समाधि जैसे प्रयत्नों द्वारा आत्म साक्षात्कार किया जा सकता है। यह असावधानी उपादान तुष्टि होने से होती है।

**३. काल तुष्टि** — कुछ लोग इस बात से तुष्ट हो जाते हैं कि- काल (समय) आने पर मुक्ति स्वयं मिल जायेगी। अत: हम उसके लिए प्रयत्न क्यों करें?

**४. भाग्य तुष्टि** — कुछ लोग भाग्य को मानकर मोक्ष हेतु साधना आदि नहीं करते कि यदि भाग्य में होगा, तो मुक्ति स्वयं ही मिल जायेगी; किन्तु ज्ञानी जन ऐसा नहीं सोचते और पुरुषार्थ करते रहते हैं।

उपर्युक्त तुष्टियाँ मोक्ष मार्ग में सहायक होने की अपेक्षा बाधक सिद्ध होती हैं; क्योंकि इनके कारण मनुष्य अल्प में ही सन्तुष्ट होकर बैठा रहता है और विकास के लिए प्रकृति, भाग्य और काल को जिम्मेदार मानकर व्यर्थ ही समय गँवाता रहता है।

**मोक्ष पथ की सहायक सांख्यदर्शन की अष्टसिद्धियाँ** — जिन उपायों द्वारा साधना मार्ग में अग्रसर होने में प्रोत्साहन व साहाय्य मिलता है, सांख्य दर्शन में उन्हें सिद्धि कहा गया है। ये सिद्धियाँ आठ बताई गई हैं। इस सन्दर्भ में 'सांख्य कारिका' की यह कारिका प्रख्यात है — **ऊहः शब्दोऽध्ययनं दु:खविघातास्त्रयः सुहृत्प्राप्तिः। दानं च सिद्धयोऽष्टौ सिद्धेः पूर्वोऽङ्कुशस्त्रिविधः॥**

(सां० का० ५१)

अर्थात् ऊह, शब्द, अध्ययन, सुहृत्प्राप्ति और दान ये पाँच तथा तीन दु:ख विघात (तीनों दु:खों

को दूर करने वाली तीन सिद्धियाँ) ये कुल मिलाकर आठ सिद्धियाँ हैं, जो मोक्ष प्राप्ति की साधना में सहायक होती हैं। इनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है —

**१. ऊह** — ऊह का अभिप्राय जन्मजात योग्यता से है। इसे प्राय: विगत जन्म के विशिष्ट संस्कारों का प्रतिफल माना जाता है। ऐसी योग्यता प्राप्त मनुष्यों के अन्त:करण में स्वत: ही तत्त्वज्ञान प्रकट होता है, जिससे मोक्ष सहजता से प्राप्त हो जाता है।

**२. शब्द** — इसका अभिप्राय गुरु द्वारा (शब्द-मन्त्रादि के माध्यम से) तत्त्वज्ञान की प्राप्ति से है। इसके द्वारा साधक आध्यात्मिकता की ओर अग्रसर होता है।

**३. अध्ययन** — एक या अधिक गुरुजनों से कुछ विद्या प्राप्त कर लेने पर भी अध्ययन के बिना पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती। अत: निरन्तर अध्ययन करना आवश्यक है। इसके द्वारा मुक्ति तक पहुँचना सुनिश्चित हो जाता है, अत: अध्ययन को भी सिद्धि माना गया है।

**४. सुहृत्प्राप्ति** — इसका अभिप्रांय है कि कई बार ऐसा भी होता है हमको अचानक किसी संत, विद्वान् का संसर्ग मिल जाता है, उसके द्वारा भी तत्त्वज्ञान की प्राप्ति होने में सहायता मिलती है।

**५. दान** — इससे आशय है कि दानशील व्यक्ति को सत्संग का अवसर अधिक मिलता रहता है, जिससे उसे तत्त्वज्ञान की प्राप्ति सुगमता से होती रहती है और मुक्ति मिल जाती है। अत: दान को भी 'सिद्धि' माना गया है।

[उपर्युक्त पाँच सिद्धियाँ तत्त्वज्ञान प्राप्ति में सहायक हैं। सावधान साधक इन साधनों को स्वाभाविक रूप से प्राप्त कर लेता है, जिससे उसे मार्गदर्शन मिल जाता है और वह अगली तीन सिद्धियाँ (जो पाँच सिद्धियों के फल स्वरूप मिलती हैं) प्राप्त कर लेता है। ये निम्न हैं — ]

**६. आध्यात्मिक दु:ख हान** — इस सिद्धि से सभी आध्यात्मिक दु:ख विनष्ट हो जाते हैं।

**७. आधिभौतिक दु:खहान** — इस सिद्धि से सभी आधिभौतिक दु:ख विनष्ट हो जाते हैं।

**८. आधिदैविक दु:खहान** — इस सिद्धि से सभी आधिदैविक दु:खों से निवृत्ति हो जाती है।

चूँकि सांख्य दर्शन का उद्देश्य ही त्रिविध दु:खों से आत्यन्तिक निवृत्ति और मोक्ष प्राप्ति है (जैसा कि सांख्यदर्शन के प्रथम सूत्र '**त्रिविध दु:खात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थ:**' में उल्लेख है)। अत: उपर्युक्त अष्ट सिद्धियों में अन्त की तीन सिद्धियाँ त्रिविध (आधिदैहिक, आधिदैविक, आधिभौतिक) दु:खों से निवृत्ति प्रदान करने वाली हैं। इस प्रकार ये आठों सिद्धियाँ मोक्ष तक पहुँचाने में बहुत सहायक सिद्ध होती हैं।

## उपसंहार

इस प्रकार सांख्य का सिद्धान्त आत्मा, परमात्मा, सृष्टि रचना, प्रकृति का क्रमश: विकास आदि अनेक गुत्थियों को सुलझाने वाला सिद्ध होता है। मूल प्रयोजन तो प्रकृति-पुरुष का विवेकज्ञान प्राप्त करना है,जिससे पुरुष (जीवात्मा) का जन्म-मरण समाप्त हो जाता है। उसे परमपुरुषार्थ-मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है। इसी को दु:खत्रय (आधिभौतिक, आधिदैविक, आध्यात्मिक) से आत्यन्तिक (पूर्णतया) निवृत्ति भी कहा जाता है। इसी दृष्टि से हमें इसका अध्ययन और मनन करना चाहिए।





# ॥ अथ सांख्यदर्शनम् ॥

**त्रिविध ( दैहिक, दैविक एवं भौतिक ) तापों-दु:खों के सागर में डूबे हुए भूतों-प्राणियों के मोक्ष प्राप्ति की इच्छा से आदि विद्वान् आचार्य कपिल जी ने सांख्य नामक मोक्षशास्त्र का उपदेश प्रदान किया। इसे छ: अध्यायों में विभक्त किया गया है। अब यहाँ से प्रथम अध्याय का शुभारम्भ हो रहा है। जिसका प्रथम सूत्र इस प्रकार है—**

## ॥ अथ प्रथमोऽध्याय: ॥

### ( १ ) अथ त्रिविधदु:खात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थ: ॥ १ ॥

**सूत्रार्थ—** अथ = प्रारम्भ सूचक मंगल शब्द, त्रिविध = तीन प्रकार के, दु:खात्यन्तनिवृत्ति: = दु:खों का पूर्णरूपेण अभाव, अत्यन्तपुरुषार्थ: = मोक्ष (अन्तिम पुरुषार्थ) है।

**व्याख्या—** किसी भी ग्रन्थ के प्रारम्भ में 'अथ' शब्द मंगल-सूचक मानकर प्रयुक्त किया जाता है। वस्तुत: यहाँ इसका अर्थ 'अब' है। तीन प्रकार के दु:ख त्रिविध दु:ख कहलाते हैं,जो क्रमश: आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक हैं। इनसे पूर्णरूपेण निवृत्ति अथवा इनका पूर्णतया विनाश ही प्राणी का मुख्य उद्देश्य है। आत्मा को शरीर या मन से प्राप्त होने वाले दु:ख को आध्यात्मिक दु:ख, सर्प-व्याघ्र आदि के काटने, चोट लगने, धन चोरी हो जाने आदि से प्राप्त होने वाले दु:ख को आधिभौतिक दु:ख तथा अतिवृष्टि, अनावृष्टि, वज्रपात (बिजली गिरना), आग लगने, बाढ़ आने आदि प्राकृतिक आपदाओं से उत्पन्न होने वाले दु:ख को आधिदैविक दु:ख कहते हैं। चार पुरुषार्थ कहे गये हैं-धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इनमें अन्तिम और सबसे महत्त्वपूर्ण पुरुषार्थ-मोक्ष है। इसी से समस्त दु:खों की निवृत्ति होती है। यहाँ यह शङ्का स्वाभाविक है कि मोक्ष से ही समस्त दु:खों की निवृत्ति क्यों? धर्म, अर्थ और काम से क्यों नहीं? इसका समाधान यह है कि सांसारिक साधनों से एक दु:ख दूर होता है, तो दूसरा नया दु:ख उत्पन्न हो जाता है; किन्तु मोक्ष मिल जाने से समस्त दु:ख एक साथ ही छूट जाते हैं। इसलिए मोक्ष को ही समूल दु:ख निवृत्ति का पुरुषार्थ माना गया है ॥ १ ॥

### ( २ ) न दृष्टात्तत्सिद्धिर्निवृत्तेऽप्यनुवृत्तिदर्शनात् ॥ २ ॥

**सूत्रार्थ—** दृष्टात् =दृश्य पदार्थों से, तत्सिद्धि: = उनकी सिद्धि, न = नहीं, निवृत्तेऽपि=एक दु:ख के निवृत्त हो जाने पर भी, अनुवृत्ति=दु:ख की पुन: प्राप्ति, दर्शनात्=दर्शन किये जाने से (देखे जाने से)।

**व्याख्या—** प्रत्यक्षत: दिखाई देने वाले पदार्थों द्वारा दु:ख की पूर्णत: निवृत्ति नहीं होती। उदाहरणार्थ औषधि सेवन करते हुए भी कई बार रोग बढ़ता प्रतीत होता है अथवा औषधि सेवन के कुछ समय तक रोग ठीक हो गया लगता है, किन्तु तत्पश्चात् पुन: प्रकट हो जाता है। इसी प्रकार एक समय भोजन कर लेने पर पूर्ण तृप्ति हुई प्रतीत होती है, किन्तु कुछ ही घण्टे बाद भूख फिर लग आती है। इसी प्रकार धन, स्त्री, मकान आदि भौतिक पदार्थों से भी क्षणिक सन्तुष्टि ही मिलती है। इनसे दु:ख की अत्यन्त निवृत्ति नहीं होती; वरन् इनसे अन्तत: चिन्ता रूप दु:ख ही उत्पन्न होता है। कारण यह है कि जिन पदार्थों के मिलने से सुख मिलता है, उनके बिछुड़ने पर दु:ख भी मिलता है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि दृश्य पदार्थ दु:ख की पूर्ण रूपेण निवृत्ति या समाप्ति कर सकने में समर्थ नही हैं॥ २॥

**( ३ ) प्रात्यहिकक्षुत्प्रतीकारवत् तत्प्रतीकारचेष्टनात् पुरुषार्थत्वम्॥ ३॥**

**सूत्रार्थ**— प्रात्यहिकक्षुत्प्रतीकारवत् = प्रतिदिन की क्षुधा (भूख) मिटाने के उपाय के समान, तत्प्रतीकार = उन दु:खों को दूर करने के उपाय की, चेष्टनात् = चेष्टा किए जाने से, पुरुषार्थत्वम् = दृश्यमान उपाय भी पुरुषार्थ हैं।

**व्याख्या**— जिस प्रकार प्रतिदिन अनुभव होने वाली क्षुधा (भूख) भोज्य पदार्थों से शान्त हो जाती है, उसी प्रकार त्रिविध दु:ख प्रत्यक्ष दिखाई पड़ने वाले दृष्ट उपायों से निवृत्त हो सकते हैं। अथवा दृष्ट उपायों द्वारा दु:खों की निवृत्ति भी पुरुषार्थ है। यहाँ सांख्यकार यह प्रतिपादित करते हैं कि जिस प्रकार अन्न आदि का सेवन करने से हम क्षुधा निवारण करते हैं, किन्तु कुछ काल पश्चात् पुन: उत्पन्न क्षुधा के निवारण हेतु वही उपाय फिर करना होता है। बारम्बार यह क्रम चलता रहता है, किन्तु भूख से पूरी तरह त्राण कभी नहीं मिलता। उसी प्रकार धन-औषधि आदि विभिन्न दृष्ट उपायों से हम विभिन्न अभावों (दु:खों) की पूर्ति तो करते रहते हैं और वे कुछ समय के लिए दूर भी हो जाते हैं, किन्तु उनकी पूर्णत: निवृत्ति नहीं होती है, इसीलिए इन उपायों को केवल पुरुषार्थ कहा गया है। ये उपाय आत्यन्तिक पुरुषार्थ नहीं कहे जा सकते। आत्यन्तिक पुरुषार्थ तो 'मोक्ष' है, इसी से समस्त समस्याओं (दु:खों) का समाधान पूरी तरह से हो सकता है॥ ३॥

**( ४ ) सर्वासंभवात्संभवेऽपि सत्तासंभवाद्धेय: प्रमाणकुशलै: ॥ ४॥**

**सूत्रार्थ**— सर्वासम्भवात्= सभी प्रकार के असम्भव होने से, सम्भवेऽपि=सम्भव होने पर भी, सत्तासम्भवात्=दु:ख बने रहने अथवा दु:ख की निवृत्ति न होने से, प्रमाणकुशलै: = मुमुक्षु अथवा तत्त्वज्ञानियों द्वारा (मोक्ष के लिए किये जाने वाले सांसारिक उपायों का), हेय: = त्याग कर देना चाहिए।

**व्याख्या**— दु:खों को दूर करने के भौतिक उपायों धन, स्त्री, मकान आदि के अन्तर्गत भी दु:खों का अस्तित्व बना ही रहता है, कदाचित् ये उपाय दु:खों को दूर करने में समर्थ भी हों, तो भी तत्त्वदर्शियों को इन उपायों का आश्रय लेना त्याग देना चाहिए। कारण यह है कि भौतिक साधन अनित्य और निस्सार हैं। इनसे लौकिक आवश्यकताओं की पूर्ति तो हो सकती है, परन्तु दु:खों से पूर्णरूपेण मुक्ति नहीं मिल सकती और कभी-कभी तो इन उपायों से साधारण कष्ट भी दूर नहीं होते। इतने पर भी सूत्रकार ने इन उपायों को सामान्य जीवन जीने वाले लोगों के लिए त्याज्य नहीं कहा है, वरन् 'प्रमाणकुशलै:' कहकर तत्त्वज्ञानियों द्वारा ही इन्हें त्यागने का संकेत दिया है।

'प्रमाण' शब्द का अर्थ तत्त्वज्ञान के साधन रूप वेद-शास्त्रादि से है। इन प्रमाणों का ज्ञान पाकर जो भगवत्प्राप्ति हेतु प्रयत्नशील हैं, उन तत्त्वज्ञानियों के लिए भौतिक साधन हेय हैं। इसलिए दु:ख दूर करने के लिए भौतिक उपायों को इनके द्वारा त्यागने योग्य बताया गया है॥ ४॥

**( ५ ) उत्कर्षादपि मोक्षस्य सर्वोत्कर्षश्रुते: ॥ ५॥**

**सूत्रार्थ**— मोक्षस्य=मोक्ष के, उत्कर्षात्=उत्कर्ष से, अपि= भी, सर्वोत्कर्ष=उसकी सर्वश्रेष्ठता, श्रुते: = वेद बताता है।

**व्याख्या**— वेद कहता है मानव के लिए धन,स्त्री,भवन, राज्यादि की अपेक्षा सर्वोत्कृष्ट लक्ष्य 'मोक्ष' प्राप्त करना है। अत: 'उत्कर्ष' (भौतिक उन्नति) रूपी कारण से भी मोक्ष प्राप्ति के लिए यत्न करना चाहिए। ऋ० ७.५९.१२ में '**उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय माऽमृतात्**' मंत्र में 'हमें मृत्यु से छुड़ाइये, किन्तु अमृत अर्थात् जीव की मुक्त अवस्था से वंचित न कीजिए' कहकर भी मुक्ति (मोक्ष) की सर्वश्रेष्ठता

प्रतिपादित की गई है। यजु०, अथर्व० आदि में भी 'अमृत' पद से मोक्ष की ही महिमा वर्णित है। श्रुति (वेद) में कहीं भी सांसारिक सुख-साधनों की श्रेष्ठता प्रतिपादित नहीं है, वरन् मोक्ष को ही सर्वश्रेष्ठ साधन कहा है। इससे सिद्ध है कि मोक्ष ही दु:खों की आत्यन्तिक निवृत्ति करने में सक्षम है॥ ५॥

**( ६ ) अविशेषश्चोभयो: ॥ ६ ॥**

**सूत्रार्थ**— च = और, उभयो: = दोनों प्रकार के (लौकिक और वैदिक) उपायों में, अविशेष: = अविशेष साम्य है(समानता में कोई विशेषता नहीं है)।

**व्याख्या**— लौकिक उपाय धन-मकान आदि तथा वैदिक उपाय यज्ञ-अनुष्ठानादि दोनों ही दु:खों की निवृत्ति के लिए किये जाते हैं, किन्तु इनमें से किसी उपाय से भी दु:खों की आत्यन्तिक (पूर्णत:) निवृत्ति नहीं होती। इसीलिए कहा गया है कि इनमें से कोई विशिष्ट नहीं है, दोनों समान हैं। दु:ख के पूर्णरूपेण निवारण में ज्ञान ही सहायक की भूमिका निभा सकता है, उसी से मोक्ष की प्राप्ति सम्भव है। यजुर्वेद (४०.१४) में भी विद्या अर्थात् ज्ञान द्वारा अमृतत्त्व (मोक्ष) प्राप्ति का तथ्य इस मंत्र में उल्लिखित है— **......विद्ययाऽमृतमश्नुते**॥ ६॥

**( ७ ) न स्वभावतो बद्धस्य मोक्षसाधनोपदेशविधि: ॥ ७ ॥**

**सूत्रार्थ**— स्वभावत: = स्वभाव से, बद्धस्य = बन्धन युक्त जीव के (लिए), मोक्षसाधनोपदेशविधि: = मोक्ष के साधन का उपदेश करने का विधान, न = नहीं है।

**व्याख्या**— इस सूत्र में सूत्रकार ने यह बताया है कि जीव स्वाभाविक रूप से अथवा स्वभावत: बद्ध है, (बन्धनयुक्त) तो उसके लिए मोक्ष साधन का उपदेश युक्तिसंगत नहीं है॥ ७॥

**( ८ ) स्वभावस्यानपायित्वादननुष्ठानलक्षणमप्रामाण्यम् ॥ ८ ॥**

**सूत्रार्थ**— स्वभावस्य = स्वभाव के, अनपायित्वात् = नाशवान् न होने से, अननुष्ठान लक्षणम् = उसके लिए व्यर्थ ही अनुष्ठान करना, अप्रामाण्यम् = प्रमाणहीन अथवा अप्रामाणिक है।

**व्याख्या**— किसी भी वस्तु या पदार्थ का स्वभाव उसका स्थायी भाव- अपना भाव होता है। उसे किसी तरह भी पूर्णरूपेण हटाया नहीं जा सकता। जिस प्रकार अग्नि का स्वभाव उष्णता है, इसके बिना अग्नि का अस्तित्व ही सम्भव नहीं है, जल का स्वभाव शीतलता है, उसे उष्ण कर भी दें, तो कुछ समय बाद वह पुन: शीतल हो जाता है; क्योंकि वह अपने स्वाभाविक धर्म को पकड़ लेता है।

इससे सिद्ध है कि पदार्थ अपने स्वाभाविक धर्म के विपरीत नहीं हो सकता, इसी प्रकार यदि बन्धन जीव का स्वभाव अथवा स्वाभाविक धर्म है, तो उसे मोक्ष के उपदेश द्वारा मुक्त कर सकना सम्भव नहीं है और यदि वह (जीव) मोक्ष के लिए अनुष्ठान (उपाय) भी करे, तो भी वह व्यर्थ ही होगा। इसीलिए स्वाभाविक बन्धन वाले जीव के लिए, मोक्ष साधन का विधान करना शास्त्र विरुद्ध अथवा अप्रामाणिक है॥ ८॥

**( ९ ) नाशक्योपदेशविधिरुपदिष्टेऽप्यनुपदेश: ॥ ९ ॥**

**सूत्रार्थ**— अशक्योपदेशविधि: = अशक्य (निष्फल कर्म) के उपदेश का विधान, न = नहीं हो सकता, उपदिष्टेऽपि = क्योंकि उपदेश किये जाने पर भी, अनुपदेश: = अनुपदेश है,उपदेश नहीं है।

**व्याख्या**— जो कार्य शक्य नहीं है अथवा जिसके करने से कोई फल न निकले, ऐसे कार्य के लिए उपदेश किया जाना व्यर्थ है; क्योंकि निष्फल कर्म के लिए उपदेश किया जाना वस्तुत: अनुपदेश है अर्थात् उपदेश होते हुए भी वह अनुपदेश है। तात्पर्य यह है कि जब वस्तु-पदार्थ का स्वभाव हटाया नहीं

जा सकता, तो उसके लिए वैसा उपदेश करना यथार्थ नहीं है, इस पर जिज्ञासु कहता है- जीव के स्वभावतः बद्ध होने पर भी उसके मोक्ष के लिए उपदेश व्यर्थ नहीं होगा॥ ९॥

**अगले सूत्र में इसी तथ्य को समझाया गया है-**

**( १० ) शुक्लपटवद्बीजवच्चेत्॥ १०॥**

**सूत्रार्थ**— शुक्लपटवत् = श्वेतरंग के वस्त्र के समान, बीजवत् = बीज के समान, चेत् = यदि मान लें।

**व्याख्या**— इस सूत्र का भावार्थ यह है कि जिस प्रकार श्वेत वस्त्र का स्वाभाविक रूप श्वेत है, किन्तु उसके ऊपर यदि अन्य काला, पीला, नीला, लाल आदि रंग पोत दिया जाए, तो उसके स्वाभाविक श्वेत रंग का श्वेतत्व दूर किया जा सकता है, इसी प्रकार प्रजनन शक्ति-अंकुरण आदि बीज का स्वाभाविक गुण या धर्म है, किन्तु अग्नि के संयोग से बीज को भूनकर उसकी प्रजनन शक्ति की स्वाभाविकता को दूर किया जा सकता है। उपर्युक्त दोनों उदाहरणों से यह स्पष्ट होता है कि जिस प्रकार इनमें वस्तु के स्वाभाविक गुण को हटा दिया गया, उसी प्रकार जीव के अज्ञान रूप बन्धन को विवेक द्वारा दूर किया जा सकता है॥ १०॥

**यहाँ केवल जीव के बन्धन के गुण की स्वाभाविकता दूर करने में समझाने के लिए वस्तुओं में उनके धर्म के आविर्भाव और तिरोभाव का संकेत देकर एकदेशीय उदाहरण द्वारा समाधान प्रस्तुत किया गया है। वस्तुतः सांख्य दर्शन में वस्तु या पदार्थ के स्वाभाविक गुण को दूर कर देने का कोई सिद्धान्त नहीं है। अगले सूत्र में सूत्रकार ने यह तथ्य इस प्रकार स्पष्ट किया है—**

**( ११ ) शक्त्युद्भवानुद्भवाभ्यां नाशक्योपदेशः॥ ११॥**

**सूत्रार्थ**— अशक्योपदेशः = फल रहित कार्य का उपदेश, न=करना उचित नहीं, शक्त्युद्भवानुद्भवाभ्यां=(उपर्युक्त वस्त्र और बीज के उदाहरणों में) शक्ति के उद्भव और अनुद्भव से (जीव के मोक्ष का उपदेश करना उचित नहीं)।

**व्याख्या**— इस सूत्र में सांख्यकार ने उपर्युक्त उदाहरण को अनुपयुक्त बताते हुए कहा है कि श्वेत वस्त्र और बीज का दृष्टान्त उचित नहीं है; क्योंकि वस्त्र का श्वेतत्व और बीज की प्रजनन-अंकुरण शक्ति पूर्णरूपेण कभी नष्ट नहीं होती, वरन् उस शक्ति का अनुद्भव (तिरोभाव=प्रकट न होना)होता है। रंगे हुए वस्त्र को धोबी के यहाँ धुलवाने से उसके ऊपर चढ़ा नीला, पीला, हरा रंग हल्का हो जाता है और धीरे-धीरे वह अपने मूलरूप श्वेतरंग का हो जाता है, इसी प्रकार अग्नि में भुना हुआ बीज योगी के संकल्प या वैज्ञानिक रासायनिक प्रक्रिया द्वारा पुनः शक्ति सम्पन्न बन प्रजनन-अंकुरण क्षमतावान् हो जाता है। यही बात जीवात्मा के संदर्भ में भी है। निर्मल जीवात्मा कर्मफल के सिद्धान्त से बारम्बार बन्धन को प्राप्त होता रहता है और कर्म के क्षय हो जाने पर उसका बन्धन समाप्त हो जाता है। इससे यह सिद्ध होता है कि बन्धन आत्मा का स्वाभाविक धर्म नहीं है। इसलिए शास्त्र के उपदेश को अशक्य नहीं कहा जा सकता॥ ११॥

**( १२ ) न कालयोगतो व्यापिनो नित्यस्य सर्वसम्बन्धात्॥ १२॥**

**सूत्रार्थ**— व्यापिनः = व्यापी, नित्यस्य = नित्य आत्मा का, सर्वसम्बन्धात् = सभी के साथ सम्बन्ध होने से, कालयोगतः = कालयोग से (आत्मा का बंधन), न = नहीं हो सकता।

**व्याख्या**— काल के (समय के) संयोग से आत्मा के बन्धन होने की शक्यता यदि मानी जाए (क्योंकि काल अपरिमित शक्ति सम्पन्न है), तो भी यह सम्भव प्रतीत नहीं होता; क्योंकि आत्मा हर काल में एक जैसा है। अलग-अलग समयों में अलग स्वरूप वाला नहीं है। काल तो उस पर प्रभावी होता है,

जिसका अस्तित्व कभी है, कभी नहीं है। नित्य और व्यापी आत्मा पर काल अप्रभावी रहता है। अतः काल जीवात्मा के बन्धन या मोक्ष का कारण नहीं हो सकता।

कुछ विद्वान् नित्य और 'व्यापी' शब्दों को काल का विशेषण मानकर सूत्र का अर्थ यह करते हैं कि 'व्यापी और नित्य काल का सम्बन्ध सभी आत्माओं से है।' इससे तो मुक्त आत्माएँ भी बन्धित हो जाएँगी। अतः यह उक्ति भी ठीक नहीं है। इस प्रकार नित्य और व्यापी आत्मा के ही विशेषण होते हैं और आत्मा का काल से अप्रभावी होना भी सिद्ध होता है॥१२॥

**अगले सूत्र में दिशा के संयोग से आत्मा की बद्धता भी अस्वीकार की गई है—**

**( १३ ) न देशयोगतोऽप्यस्मात्॥ १३॥**

**सूत्रार्थ**— देशयोगतः = देश योग से (दिशा के संयोग से), अपि=भी (आत्मा का बन्धन), न = नहीं हो सकता, अस्मात् = इस (हेतु) से (क्योंकि उसका सभी दिशाओं से सम्बन्ध है)।

**व्याख्या**— देश योग अथवा दिशाओं के योग को भी आत्मा के बन्धन का कारण नहीं माना जा सकता; क्योंकि आत्मा एक देशीय न होकर समस्त दिशाओं-देशों में आ-जा सकता है। इस प्रकार सभी दिशाओं से उसका सम्बन्ध है। यदि ऐसा (आत्माओं के बन्धन का कारण देश योग होना) मानें भी, तब तो मुक्त आत्माएँ भी बन्धन युक्त हो जायेंगी। इससे सिद्ध है कि आत्मा को बद्ध मानने के सन्दर्भ में यह मान्यता भी युक्तिसंगत नहीं है॥ १३॥

**अगले सूत्र में अवस्था को भी आत्मा के बन्धन का कारण न मानने के सन्दर्भ में सूत्रकार का कथन है-**

**( १४ ) नावस्थातो देहधर्म्मत्वात् तस्याः॥ १४॥**

**सूत्रार्थ**— अवस्थातः = अवस्था से (भी आत्मा का बन्धन) न = नहीं (सिद्ध होता), तस्याः = उस (अवस्था) के, देहधर्मत्वात् = देह (शरीर) धर्म के होने से।

**व्याख्या**— अवस्था से भी आत्मा का बन्धन सिद्ध नहीं होता; क्योंकि अवस्था शरीर का धर्म है। बाल्यावस्था, युवावस्था, वृद्धावस्था सभी शरीर की ही स्थितियाँ हैं-अवस्थाएँ हैं। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, स्थूल, दुर्बल, सबल आदि सभी अवस्थाएँ देह की ही हैं, आत्मा की नहीं। आत्मा चैतन्य है, वह सदा एकरस रहता है, वह बाल, युवा, वृद्ध नहीं होता और न ही कभी उसकी मृत्यु होती है। ये सभी स्थितियाँ शरीर की बनती हैं। अतः आत्मा का अवस्थाओं से कोई सम्बन्ध न होने से भी उसका बद्ध होना स्वीकार नहीं किया जा सकता॥ ४॥

**( १५ ) असंगोऽयं पुरुष इति॥ १५॥**

**सूत्रार्थ**—इति = इस प्रकार(स्वरूप से)अयम् = यह, पुरुषः = पुरुष, असङ्गः = संग रहित है।

**व्याख्या**— यह पुरुष (जीवात्मा) संगरहित है। यों तो सांख्य दर्शन में पुरुष शब्द चेतन सत्ता के लिए प्रयुक्त होता है; किन्तु यहाँ जीवात्मा का विषय होने के कारण पुरुष का अभिप्राय जीवात्मा से है। जीवात्मा के असङ्ग या सङ्गरहित होने का अभिप्राय बाल्य, युवा, वृद्ध आदि अवस्थाओं के साथ न रहने से है अर्थात् इन अवस्थाओं का प्रभाव शरीरों पर पड़ता है, आत्मा पर नहीं।

अवस्थाएँ परिवर्तनशील होती हैं, जो पदार्थ संयोग वाले हैं; वे ही बदलते हैं। जैसे दूध पानी के संग वाला है। पानी का न होने से दूध गाढ़ा और पानी अधिक मिल जाने से दूध पतला होकर अपना स्वरूप बदल देता है। जिस पदार्थ में कुछ जुड़ जाता है और कुछ निकल जाता है, उसी की अवस्थाएँ बदलती हैं। इस उपचय-अपचय के कारण ही पदार्थ संगयुक्त कहे जाते हैं। आत्मा के सन्दर्भ में ऐसी बात

नहीं है। शरीर के साथ रहकर भी उसमें कोई परिवर्तन नहीं होता। जैसे जल में कमल रहता तो है, पर उससे प्रभावित नहीं होता। अतः असङ्ग स्थिति से भी आत्मा का बन्धन युक्त होना सिद्ध नहीं होता॥ १५ ॥

**( १६ ) न कर्मणान्यधर्मत्वादतिप्रसक्तेश्च॥ १६ ॥**

**सूत्रार्थ**—अन्यधर्मत्वात् = अन्य (दूसरे) के धर्म होने से, च = और, अतिप्रसक्तेः = अति संयोग से, कर्मणा = कर्म के द्वारा भी, न = नहीं सिद्ध होता (आत्मा का बद्ध होना)।

**व्याख्या**— कर्म (धर्म-अधर्म रूप कर्म) के द्वारा भी आत्मा का बन्धन नहीं माना जा सकता; क्योंकि कर्म शरीर के द्वारा होता है, अतः कर्म करना शरीर का धर्म है। इस प्रकार अन्य (शरीर) का धर्म होने से आत्मा का बन्धन नहीं मान सकते। यदि अन्य के कर्म से (शरीर के धर्म से) अन्य (आत्मा) का बन्धन मानें, तो अति संयोग या अतिप्रसङ्ग होगा,जो उचित नहीं। अस्तु, कर्म को भी आत्मा के बन्धन का कारण मानना युक्ति संगत प्रतीत नहीं होता ॥ १६ ॥

**( १७ ) विचित्रभोगानुपपत्तिरन्यधर्मत्वे॥ १७॥**

**सूत्रार्थ** — अन्यधर्मत्वे = अन्य (दूसरे) के धर्म होने से, विचित्रभोगानुपपत्तिः = विचित्र भोगों की उपपत्ति (सिद्धि) नहीं होगी।

**व्याख्या** — आत्मा से पृथक् शरीर आदि के धर्मों और उनके भोगों का आत्मा द्वारा उपभोग किये जाने में कोई विचित्रता प्रतीत नहीं होती। कारण यह है कि आत्मा, कर्म के निमित्त देह, इन्द्रियों-अन्तःकरण आदि के साथ सम्बन्ध स्थापित होने के बाद में समुद्यत होता है और वह सम्बन्ध ही बन्धन स्वरूप है। अतः स्पष्ट है कि वह कर्म उस सम्बन्ध (आत्मा और अन्तःकरण आदि के साथ सम्बन्ध) होने के बाद में सम्पन्न हुआ, तो बाद में सम्पन्न होने वाला कर्म, आत्मा और देह-अन्तःकरणादि के साथ पहले ही होने वाले सम्बन्ध का कारण नहीं हो सकता। अतः कर्म को आत्मा के बन्धन का कारण मानना भी युक्ति संगत नहीं है॥ १७॥

**( १८ ) प्रकृतिनिबंधनाच्चेन्न तस्या अपि पारतन्त्र्यम्॥ १८ ॥**

**सूत्रार्थ**—चेत् = यदि कहें कि, प्रकृतिनिबन्धनात् = प्रकृति के कारण आत्मा बद्ध है तो, तस्याः = प्रकृति के, अपि = भी, पारतन्त्र्यम् = परतन्त्र होने के कारण, न = ऐसा कहना उचित नहीं है।

**व्याख्या**— यदि आत्मा के बन्धन के लिए प्रकृति को निमित्त कारण मानें, तो यह भी उचित नहीं है; क्योंकि प्रकृति स्वयं में स्वतंत्र नहीं है- वह भी परतन्त्र है। वह अपने प्रेरक चेतन सत्ता की प्रेरणा से ही कार्य करने में प्रवृत्त होने के कारण पराधीन है। यदि उसे स्वतन्त्र मानें, तो प्रलय की स्थिति में उसकी प्रवृत्ति होने पर प्रलय रुक जानी चाहिए; लेकिन वैसा होता नहीं। सर्व नियन्ता की प्रेरणा से अचेतन में जो प्रवृत्ति होती है, वही निरन्तर चलती रहती है, जब तक प्रेरणा देने वाली सत्ता स्वयं उसमें परिवर्तन न करे। सर्ग-प्रलय उसी चेतन सत्ता की प्रेरणा से सम्पन्न होते रहते हैं। इस प्रकरण से सिद्ध है कि परतन्त्र प्रकृति, आत्मा के बन्धन का कारण नहीं हो सकती॥ १८॥

**यहाँ तक आत्मा के बन्धन के विभिन्न सम्भावित कारणों के सन्दर्भ में चर्चा की गई—अब आत्मा के बन्धन के वास्तविक कारण को सिद्धान्तरूप में निरूपित किया जा रहा है।**

**( १९ ) न नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावस्य तद्योगस्तद्योगादृते॥ १९ ॥**

**सूत्रार्थ**— नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावस्य = नित्य, शुद्ध, बुद्ध और मुक्त स्वभाव वाले आत्मा का, तद्योगः = वह बन्धन का योग, तद्योगादृते = प्रकृति के योग के बिना, न = नहीं हो सकता।

**व्याख्या**— वह आत्मा नित्य (जन्म-मरण से रहित), शुद्ध (पवित्र-निर्मल), बुद्ध (चैतन्य), मुक्त (गुणों — सत्त्व,रज,तम से रहित) और बन्धन मुक्त है। उस (आत्मा) का बद्ध होना प्रकृति के संयोग के बिना सम्भव नहीं है अर्थात् आत्मा प्रकृति के सम्पर्क से ही बन्धन युक्त होता (बँधता) है। यहाँ यह शङ्का होना स्वाभाविक है कि प्रकृति भी अनेक गुणों वाली है। अत: शुद्ध, बुद्ध, नित्य आदि गुण प्रकृति के ही तो नहीं हैं। आत्मा नित्य है, प्रकृति भी नित्य है; किन्तु आत्मा शुद्ध पवित्र और परिणाम रहित है; और प्रकृति परिणामी है। इसी प्रकार आत्मा बुद्ध (चैतन्य) है, प्रकृति चेतन नहीं है। आत्मा मुक्त अर्थात् त्रिगुण आदि समस्त बन्धनों से रहित है, जबकि प्रकृति त्रिगुणमयी है और मुक्त नहीं है। इससे यह स्पष्ट है कि आत्मा बन्धन युक्त नहीं है, किन्तु प्रकृति के साथ संयोग के कारण वह बन्धन युक्त हो जाता है॥ १९॥

**अग्रिम सूत्र क्रमांक २० से ३५ तक को कतिपय विद्वानों ने प्रक्षिप्त मानते हुए कहा है कि इनकी भाषा-शैली तथा ऐतिहासिक तथ्यों ( स्त्रुघ्न, पाटलिपुत्र आदि ) के प्रयोग से पूर्व सूत्रों से भिन्नता प्रकट होती है। अस्तु, ये सूत्र महर्षि कपिल प्रणीत नहीं हो सकते। फिर भी प्राय: सभी ने इन्हें स्वीकार किया है, इसलिए यहाँ भी इन्हें दिया जा रहा है—**

### ( २० ) नाविद्यातोऽप्यवस्तुना बन्धायोगात्॥ २०॥

**सूत्रार्थ**—अविद्यात: = अविद्या से, अपि = भी, न = नहीं बन सकता, अवस्तुना = वस्तु अथवा पदार्थ न होने के कारण, बन्धायोगात् = (आत्मा के) बन्धन में पड़ने का संयोग न होने से।

**व्याख्या**— यदि यह मानें कि अविद्या से आत्मा के बन्धन का योग बनता है, तो यह भी उचित नहीं है; क्योंकि अविद्या कोई पदार्थ-वस्तु नहीं है। अत: अवस्तु होने के कारण उसके द्वारा आत्मा का बन्धन किस प्रकार हो सकता है? अवस्तु अविद्या द्वारा आत्मा को नहीं बाँधा जा सकता। जिस प्रकार स्वप्न में दिखाई पड़ने वाली रस्सी से किसी को वास्तव में बाँधना सम्भव नहीं होता, स्पष्ट है कि अवस्तु होने के कारण अविद्या आत्मा के बन्धन का कारण नहीं हो सकती॥ २०॥

### ( २१ ) वस्तुत्वे सिद्धान्तहानिः॥ २१॥

**सूत्रार्थ**— वस्तुत्वे = यदि अविद्या को वस्तु मानते हैं तो, सिद्धान्तहानि: = सिद्धान्त की हानि होगी।

**व्याख्या**— यदि अविद्या को वस्तु अथवा पदार्थ मान लिया जाये और उसे आत्मा के बन्धन का कारण मान लिया जाये, तो इससे अविद्या विषयक 'अवस्तु' सिद्धान्त की हानि होगी। अद्वैतवादी जगत् को अविद्या का ही परिणाम मानते हैं और इसलिए उसे (अविद्या को)अवस्तु मानते हैं। यदि उसे वस्तु मान लेंगे, तो अविद्या अवस्तु है, का सिद्धान्त खण्डित होगा॥ २१॥

### ( २२ ) विजातीयद्वैतापत्तिश्च॥ २२॥

**सूत्रार्थ**— च = और, विजातीय = विरोधी धर्म वाले, द्वैतापत्ति: = द्वैतवाद की प्राप्ति होगी।

**व्याख्या**— अविद्या विज्ञान से विरोधी स्वभाव वाली है। यदि उसे वस्तु (वास्तविक तत्त्व) मान भी लें, तो विज्ञान (चेतन तत्त्व) के साथ विरोधी धर्म वाली यह दूसरी चेतन सत्ता (अविद्या) सिद्ध हुई। इस सिद्धान्त से द्वैत दोष हुआ, (क्योंकि श्रुति एक तत्त्व को ही स्वीकार करती है) जिससे अद्वैतवाद और विज्ञान वादी-बौद्ध दोनों के मत खण्डित हो जायेंगे॥ २२॥

### ( २३ ) विरुद्धोभयरूपा चेत्॥ २३॥

**सूत्रार्थ**— चेत् = यदि यह कहा जाये कि, विरुद्धोभयरूपा = अविद्या को दोनों रूपों (वस्तु और अवस्तु) के विरुद्ध मानें तो।

**व्याख्या**— यदि यह मानें कि अविद्या वस्तु-अवस्तु दोनों के भी विरुद्ध धर्म वाली है, तो यह भी अनुचित होगा। इसके कारण का अगले सूत्र में स्पष्टीकरण किया गया है॥ २३॥

**( २४ ) न तादृक्पदार्थाप्रतीतेः॥ २४॥**

**सूत्रार्थ**— न = ऐसा भी नहीं माना जा सकता, तादृक्पदार्थ = क्योंकि उस प्रकार का पदार्थ, अप्रतीतेः = प्रतीत नहीं होता।

**व्याख्या**— संसार में विद्यमान कोई भी पदार्थ वस्तु-अवस्तु से भिन्न नहीं है। ऐसी स्थिति में यह मान्यता कैसे सही मानी जा सकती है? अविद्या का दूसरा नाम अज्ञान है, यही बन्धन का कारण है। जब ज्ञान प्राप्त होता है, तब अविद्या अथवा अज्ञान विनष्ट हो जाता है। अविद्या नष्ट होने पर बन्धन भी नहीं रहता॥ २४॥

**( २५ ) न वयं षट्पदार्थवादिनो वैशेषिकादिवत्॥ २५॥**

**सूत्रार्थ**— वयम् = हम, षट्पदार्थवादिनः = छःपदार्थवादी, वैशेषिकादिवत् = वैशेषिक दर्शनवादी (महर्षि कणाद आदि) के समान, न = नहीं हैं।

**सूत्रार्थ**— इस सूत्र का अभिप्राय यह है कि हम (सांख्यवादी) वैशेषिकवादी छः पदार्थों को मानने वाले (वैशेषिक दर्शन में प्रमुखतः छः पदार्थ ही माने जाते हैं, एक पदार्थ 'विशेष' भी मानने के कारण इन्हें सप्तपदार्थ वादी भी कहते हैं।) अथवा सोलह पदार्थों को मानने वाले (नैयायिक) नहीं हैं। इसलिए अविद्या वस्तु, अवस्तु अथवा उससे भी कोई विचित्र पदार्थ सिद्ध नहीं होता, अतः उसे मानना भी उचित प्रतीत नहीं होता॥ २५॥

**( २६ ) अनियतत्वेऽपि नायौक्तिकस्य संग्रहोऽन्यथा बालोन्मत्तादिसमत्वम्॥ २६॥**

**सूत्रार्थ**— अनियतत्वे अपि = पदार्थ सम्बन्धी नियम न मानने पर भी, अयौक्तिकस्य संग्रहः = जो पदार्थ युक्ति से सिद्ध न हो सके, ऐसे पदार्थ को मानना, न = उचित नहीं है, अन्यथा = इस प्रकार की भ्रमपूर्ण मान्यता, बालोन्मत्तादिसमत्वम् = बालक और उन्मत्त (पागल) के समान होगी।

**व्याख्या**— यदि पदार्थों का नियत संख्या में होना न भी मानें, तो भी युक्ति और प्रमाण से सिद्ध न होने वाले पदार्थ की स्थिति (विद्यमानता) मानना ऐसा ही होगा, जैसे उन्मत्तों (पागलों) और बच्चों की बात भ्रामक और निराधार होती है। इससे ऐसा मानना ही उचित है कि अविद्या नामक कोई तत्त्व आत्मा के बन्धन का कारण नहीं हो सकता॥ २६॥

**( २७ ) नानादिविषयोपरागनिमित्तकोऽप्यस्य॥ २७॥**

**सूत्रार्थ**— अनादिविषयोपरागनिमित्तकोऽपि = अनादि विषय-वासना के कारण भी, अस्य = इस आत्मा का , न = बन्धन नहीं हो सकता।

**व्याख्या**— यदि यह कहा जाय कि अनादि (अज्ञात काल से चली आ रही) विषय-वासना का संयोग जीवात्मा के बन्धन का कारण है, तो यह भी उचित नहीं है; क्योंकि बौद्ध मतावलम्बियों का मानना है कि विषय बाह्य हैं और आत्मा आन्तरिक है; परन्तु बाह्य और आन्तरिक का सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकार विषय (बाह्य होने से) आत्मा (के आन्तरिक होने से उस) के बन्धन के कारण नहीं हो सकते॥ २७॥

**( २८ ) न बाह्याभ्यन्तरयोरुपरञ्ज्योपरञ्जकभावोऽपि**
**देशव्यवधानात्स्रुघ्नस्थपाटलिपुत्रस्थयोरिव॥ २८॥**

**सूत्रार्थ**— स्रुघ्नस्थपाटलिपुत्रस्थयोरिव = जिस प्रकार स्रुघ्न नगर (आगरा) में स्थित मणि और पाटलिपुत्र (पटना) में रखी मणि की, उपरञ्ज्य-उपरञ्जकभावः = एक दूसरे पर छाया, न = पड़ना सम्भव नहीं है, उसी प्रकार, बाह्याभ्यन्तरयोः = बाह्य विषयों और आभ्यन्तर जीवात्मा की, अपि = भी (एक दूसरे पर छाया पड़ना सम्भव नहीं है) क्योंकि , देशव्यवधानात् = विषय और आत्मा में देश (बाहर-भीतर) का व्यवधान (वैभिन्न्य) है।

**व्याख्या**- उपरञ्ज्य और उपरञ्जक भाव भी निकट रहने पर ही हो सकता है। उपरञ्ज्य का अर्थ है, जिसे रंगा जाये अथवा जिस पर छाया पड़े, उपरञ्जक का अर्थ है, जिसके द्वारा रंगा जाये अथवा जिसकी छाया पड़े। उदाहरणार्थ दो मणि जिनमें एक लाल रंग की है तथा दूसरी श्वेत और दोनों निकट हों, तो लाल रंग की मणि, जिसकी छाया श्वेतरंग की मणि पर पड़े, तो लाल रंग की मणि उपरञ्जक और श्वेतमणि उपरञ्ज्य होगी; पर यह सम्भव तभी है, जब दोनों एक दूसरे के निकट हों। यदि एक मणि स्रुघ्न नगर (आगरा) में रखी है और दूसरी मणि पाटलिपुत्र (पटना) में रखी है, तो देश (स्थान) का व्यवधान होने (स्थान की दूरी होने) से इनमें परस्पर किसी की छाया किसी पर नहीं पड़ेगी और उपरञ्ज्य-उपरञ्जक भाव भी नहीं होगा। इसी प्रकार यदि यह कहें कि विषयों की छाया आत्मा पर पड़ने के कारण आत्मा बंधन में पड़ता है, तो यह भी उचित नहीं है; क्योंकि विषय देह के बाहर हैं और जीवात्मा देह के अन्दर है। इन दोनों में देश व्यवधान के कारण उपरञ्जक-उपरञ्ज्य भाव नहीं हो सकता (परस्पर एक दूसरे पर छाया नहीं पड़ सकती), अतः यह मत भी (आत्मा के बंधन के सन्दर्भ में) उचित नहीं है॥ २८॥

**यदि यह माना जाये कि पुरुष ( आत्मा ) देह के अन्दर ही नहीं बाहर भी है, इसलिए उस पर विषयों का उपराग हो सकता है, तो इसका उत्तर देते हुए अगले सूत्र में कहा गया है—**

## ( २९ ) द्वयोरेकदेशलब्धोपरागान्न व्यवस्था॥ २९॥

**सूत्रार्थ**— द्वयोः = दोनों के (बद्ध और मुक्त दोनों के), एकदेशलब्ध-उपरागात् = समत्वपूर्ण उपलब्धियों के सम्बन्ध से, व्यवस्था = व्यवस्था (व्यवस्थित क्रम), न = नहीं हो सकती।

**व्याख्या**— यदि यह माना जाये कि आत्मा बाहर-भीतर दोनों ओर है और विषयों के उपराग (लगाव) से वह बन्धन में पड़ती है, तो ऐसा मानने से अव्यवस्था हो जायेगी। इससे बद्ध और मुक्त दोनों आत्माओं पर विषयों के उपराग का प्रभाव पड़ेगा और व्यवस्था ठीक न रहेगी, जबकि माना यह जाता है कि मुक्तात्मा पुरुष विषय-वासनाओं से अलिप्त रहते हैं; किन्तु उपर्युक्त तथ्य मानने पर तो विषय, मुक्त और बद्ध दोनों पुरुषों पर प्रभावी हो जायेंगे और बन्धन-मोक्ष रूप व्यवस्था क्रम ही लड़खड़ा जायेगा॥ २९॥

## ( ३० ) अदृष्टवशाच्चेत्॥ ३०॥

**सूत्रार्थ**— चेत् = और यदि ऐसा कहा जाये कि, अदृष्टवशात् = अदृष्ट (पूर्व जन्म के कर्मों, जो अदृष्ट-दिखाई देने वाले नहीं हैं) के वश (बन्धन होना) सम्भव है, तो यह भी युक्तिसंगत नहीं है।

**व्याख्या**— अदृष्ट (दिखाई न देने वाले अर्थात् जन्मान्तर दूसरे-पिछले जन्मों के) कर्म आत्मा के बंधन के कारण हो सकते हैं; यह कहना भी उचित नहीं है; क्योंकि अदृष्ट कर्म उसी आत्मा से विषयों का सम्पर्क करा सकते हैं, जो आत्मा बद्ध है। मुक्त आत्मा के साथ अदृष्ट कर्म विषयों का संयोग नहीं करा सकते। कारण यह है कि मुक्त आत्मा के दृष्ट-अदृष्ट कर्मों का क्षय हो जाता है और वस्तुतः वह समस्त दृष्ट-अदृष्ट कर्मों के क्षय हो जाने पर ही मुक्त होता है। इससे यह स्पष्ट है कि अदृष्ट (पूर्वकृत) कर्मों के कारण भी आत्मा के बंधन में पड़ने का कोई कारण नहीं है॥ ३०॥

**( ३१ ) न द्वयोरेककालायोगादुपकार्य्योपकारकभाव: ॥ ३१ ॥**

**सूत्रार्थ**— द्वयो: = (अदृष्ट कर्म के कर्त्ता और उसके फल भोक्ता) दोनों में, एक कालायोगात् = एक समय का योग न होने से, उपकार्य्योपकारकभाव: = उपकार्य और उपकारक भाव (उपकार करने के योग्य और उपकार करने वाले का भाव) न = सम्भव नहीं है।

**व्याख्या**— अदृष्ट (पूर्व जन्म में किये गये) कर्म के कर्त्ता और अगले जन्म में उसका फल भोगने वाले भोक्ता इन दोनों की विद्यमानता एक समय में होना तो सम्भव नहीं है, अत: दोनों में उपकार्य और उपकारक भाव भी नहीं हो सकता। अभिप्राय यह है कि अदृष्ट कर्म करने वाला (जीव) दूसरे जन्म में भोक्ता का कार्य करता है, इससे समय का ऐक्य न होने से दोनों में उपकार्य-उपकारक भाव न होने से भी व्यवस्था नहीं बनेगी। इससे आत्मा के बंधन का कारण अदृष्ट कर्म के होने का औचित्य भी सिद्ध नहीं होता॥ ३१ ॥

**( ३२ ) पुत्रकर्मवदिति चेत्॥ ३२ ॥**

**सूत्रार्थ**— चेत् =यदि यह कहा जाये कि, इति = यह, पुत्रकर्मवत् = पुत्र कर्म (गर्भाधान कर्म) के समान सम्भव हो सकता है, तो यह भी उचित नहीं है।

**व्याख्या**— इस सूत्र में सांख्य सूत्रकार का कथन है कि जिस प्रकार पुत्रोत्पादन के निमित्त पिता गर्भाधान संस्कार करता है, इससे पुत्र का उपकार होता है। इसी प्रकार अदृष्ट कर्म का कर्त्ता और भोक्ता (पिता और पुत्र की तरह) एक ही समय में न होने पर भी कर्त्ता-भोक्ता पर उपकार कर सकता है, किन्तु यह भी सम्भव नहीं है। इसीलिए इस समाधान को भी भ्रामक बताते हुए सूत्रकार ने अगले सूत्र में इसका समाधान किया है॥ ३२ ॥

**( ३३ ) नास्ति हि तत्र स्थिर एकात्मा यो गर्भाधानादिना संस्क्रियते॥ ३३ ॥**

**सूत्रार्थ**— नास्ति = ऐसा नहीं है क्योंकि, तत्र = वहाँ (पुत्र कर्म में), य: = जो, गर्भाधानादिना = गर्भाधानादि क्रियाओं द्वारा, संस्क्रियते = संस्कारित होता है, स्थिर = स्थिर- स्थायित्व पूर्ण और, एकात्मा =एक आत्मा, हि = ही है।

**व्याख्या**— जिस आत्मा का (पुत्र रूप में) गर्भाधान संस्कार किया जाता है और जो (पिता रूप में) गर्भाधान संस्कार सम्पन्न करता है, उन दोनों के एक ही समय में उपलब्ध होने से उपकार्य और उपकारक भाव बनता है। अभिप्राय यह हुआ कि कर्त्ता पिता, भोक्ता पुत्र का उपकार करता है। इसमें पिता उपकारक और पुत्र (जिस पर उपकार किया गया है) उपकार्य हुआ; क्योंकि वेद का अनुसरण करने वाले विद्वज्जन आत्मा को क्षणिक नहीं, शाश्वत मानते हैं। इसलिए पिता द्वारा पुत्र के रूप में जिस आत्मा का संस्कार सम्पन्न होता है, उस (पुत्र की आत्मा) के प्रति पिता का उपकार सिद्ध होता है; किन्तु आत्मा के कर्म बंधन के संदर्भ में आत्मा को कर्म का आश्रय और विषयोपराग युक्त तथा क्षणिक मानने से उसकी क्षणिकता के साथ उसका बंधन भी क्षणिक अर्थात् अस्थिर हुआ॥ ३३ ॥

**स्थिरकार्य्यासिद्धेः क्षणिकत्वम्॥ ३४ ॥**

**सूत्रार्थ**— स्थिरकार्य्यासिद्धे: = कार्यों की स्थिरता असिद्ध होने से, क्षणिकत्वम् = उनका क्षणिक (परिवर्तनशील) होना सिद्ध होता है।

**व्याख्या**— संसार के कोई भी पदार्थ स्थिर नहीं हैं, परिवर्तनशील हैं और जो अस्थिर हैं, वे क्षणिक ही हैं। घट,पट, पृथिवी, जल आदि समस्त पदार्थों में प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है। यदि ऐसा

न हो तो प्रलयकाल ही न आये। बौद्धमत के अनुसार दिखाई पड़ने वाले समस्त पदार्थ परिवर्तनशील होने से क्षणिक हैं। जिस प्रकार दीपक की लौ एक ही दिखाई देती है; किन्तु प्रतिक्षण उसमें नूतन लौ निकलती रहती है- परिवर्तन होता रहता है, इसी प्रकार संसार के समस्त पदार्थों को मानना चाहिए॥३४॥

**न प्रत्यभिज्ञाबाधात्॥ ३५॥**

**सूत्रार्थ**— प्रत्यभिज्ञाबाधात् = प्रत्यक्ष ज्ञान की बाधा से (क्षणिकत्व हो), न = ऐसा भी नहीं है।

**व्याख्या**— पूर्व समय में अनुभव किये गये पदार्थ का बाद के समय में अनुभव होना 'प्रत्यभिज्ञा' कहलाती है। अब प्रश्न यह उठता है कि यदि प्रत्येक पदार्थ प्रत्येक क्षण परिवर्तित हो रहा है, तो एक माह पूर्व अनुभव में आया हुआ पदार्थ एक माह बाद (वैसा ही) कैसे अनुभव होगा? इससे प्रत्यभिज्ञा का प्रत्यक्ष प्रमाण गलत सिद्ध होगा।

अस्तु, प्रत्यक्ष अनुभव के कारण प्रत्येक वस्तु का प्रतिक्षण परिवर्तित होना सिद्ध नहीं होता। दीपक की लौ भी क्षणिक नहीं है; क्योंकि दीपक की लौ के बदलने और विद्यमान रहने में कई क्षण लग जाते हैं, इसलिए उसका भी प्रतिक्षण बदलना सिद्ध नहीं होता॥ ३५॥

**( ३६ ) श्रुतिन्यायविरोधाच्च॥ ३६॥**

**सूत्रार्थ**— च = और , श्रुतिन्यायविरोधात् = श्रुति (शास्त्रादि) के न्याय के विरोध से भी (क्षणिक होने की मान्यता युक्ति संगत नहीं है)।

**व्याख्या**— पदार्थ में प्रतिक्षण परिवर्तन का श्रुति विरोध करती है। छान्दो० ६.२.१ में उल्लेख है- '**सदेव सौम्येदमग्र आसीत्**' अर्थात् 'हे सौम्य! यह जगत् प्रकट होने के पूर्व भी सत् था', '**कथमसतः सज्जायेत**' अर्थात् 'असत् से सत् का आविर्भाव कैसे हो सकता है'? किन्तु क्षणिकवाद में हर पदार्थ के हर क्षण परिवर्तित होने से असत् से सत् के उत्पन्न होने का सिद्धांत सिद्ध होता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि क्षणिकवाद का सिद्धान्त श्रुतिन्यायविरुद्ध होने से अनुपयुक्त और निरर्थक है॥ ३६॥

**दृष्टांतासिद्धेश्च॥ ३७॥**

**सूत्रार्थ**— च = और , दृष्टान्त असिद्धेः = दृष्टान्त के असिद्ध होने (सिद्ध न होने) से भी, यह धारणा ठीक नहीं अर्थात् क्षणिकत्व नहीं बनता।

**व्याख्या**— दीप शिखा आदि के दृष्टान्त भी भ्रमपूर्ण होने से क्षणिकत्व की सिद्धि नहीं करते; क्योंकि जल्दी-जल्दी बदलने वाले क्षणों में एक से अधिक क्षण तक रहने वाली दीपक की लौ वस्तुतः क्षणिकत्व का भ्रम मात्र उत्पन्न करती है, वास्तव में क्षणिक है नहीं। इसी प्रकार संसार के समस्त पदार्थों का भी क्षण-क्षण में बदलना सिद्ध नहीं है, (अतः क्षणिकत्व का सिद्धान्त अनुपयुक्त है)॥ ३७॥

**( ३८ ) युगपज्जायमानयोर्न कार्यकारणभावः॥ ३८॥**

**सूत्रार्थ**— युगपत्जायमानयोः = एक ही काल में दोनों के उत्पन्न होने में, कार्यकारणभावः न = कार्यकारणभाव उत्पन्न नहीं होता।

**व्याख्या**— दो वस्तुएँ जो एक ही समय में उत्पन्न होती हैं, उनमें कार्य-कारण भाव नहीं हो सकता; क्योंकि एक ही समय में उत्पन्न प्रथम वस्तु ठीक उसी समय उत्पन्न द्वितीय वस्तु की कारण स्वरूपा और दूसरी वस्तु पहली वस्तु की कार्यरूपा नहीं हो सकती है। जैसे एक वृषभ के दो सींग एक साथ निकलते हैं, उनमें से एक सींग उत्पन्न करने वाला और दूसरा सींग उत्पन्न होने वाला नहीं हो सकता। इस प्रकार सिद्ध होता है कि एक साथ जन्मी दो वस्तुओं में कार्य-कारण भाव होना सम्भव नहीं है॥ ३८॥

## ( ३९ ) पूर्वापाये उत्तरायोगात्॥ ३९ ॥

**सूत्रार्थ—** पूर्वापाये = पूर्व की वस्तु के विनष्ट हो जाने पर उसमें तथा, उत्तरायोगात् = बाद में उत्पन्न होने वाली वस्तु में पूर्व से सम्बंधित होने पर भी कार्य-कारण भाव सिद्ध नहीं होता।

**व्याख्या—** जो पदार्थ (वस्तु) पहले ही नष्ट हो गया, उसका आगे होने वाले पदार्थ से मिलना नहीं हो सकता, तब फिर पूर्व में नष्ट हो चुका पदार्थ कारण और भविष्य में होने वाला पदार्थ उसका कार्य नहीं हो सकता। यदि उत्पन्न करने वाला कारणरूप पदार्थ, कार्यरूप उत्पन्न होने तक विद्यमान भी रहे, तो क्षणिकवाद का सिद्धान्त उसे स्थिर नहीं रहने देगा। इस प्रकार पूर्व और पश्चात् हुए पदार्थों में परस्पर कार्य और कारण भाव की सिद्धि नहीं होती॥ ३९ ॥

## ( ४० ) तद्भावे तदयोगादुभयव्यभिचारादपि न॥ ४० ॥

**सूत्रार्थ—** तद्भावे = उस (कारण) के भाव में, तद् = उस (कार्य) का, अयोगात् = अयोग होने से, उभय = दोनों में, व्यभिचारात् = व्यभिचार का दोष आ जाने से, अपि = भी, न =यह मान्यता उचित नहीं है।

**व्याख्या—** इस सूत्र में सूत्रकार कहते हैं कि प्रत्येक वस्तु के प्रतिक्षण परिवर्तित होने से जिस क्षण में कारण वस्तु की विद्यमानता है, उस क्षण में कार्यवस्तु विद्यमान नहीं रहती और जब कार्यवस्तु के प्रकट होने का समय आयेगा, तब तक कारण वस्तु का अस्तित्व न रहेगा। इस प्रकार इन दोनों (कारण वस्तु और कार्यवस्तु) का प्रत्यक्ष संबंध कभी न रहेगा, जिसके कारण इनके व्यतिरेक संबंध स्थापित नहीं किये जा सकते।

ध्यातव्य है कि कारण के रहने पर कार्य होने को 'अन्वय' और कारण के न होने पर कार्य के अभाव होने को 'व्यतिरेक' कहते हैं। क्षणिकवाद की मान्यता यह है कि कारण के न रहने पर कार्य होता है और कारण के रहने पर कार्य नहीं होता, किन्तु यह मान्यता भ्रमपूर्ण है॥ ४० ॥

## ( ४१ ) पूर्वभावमात्रे न नियमः ॥ ४१ ॥

**सूत्रार्थ—** पूर्वभावमात्रे = पूर्वभाव मात्र होना, न नियमः = नियम नहीं है।

**व्याख्या—** यदि यह मानें कि जो पहले हुआ है, सो कारण और जो बाद में हुआ, वह कार्य, तो यह मानने से कोई नियम ही नहीं रहेगा। फिर तो घट से पूर्व सूत होने पर उसे घट का कारण तथा बाद में रहने से घट उसका कार्य माना जायेगा। इसी प्रकार मिट्टी पहले रहने से उसे वस्त्र का कारण तथा वस्त्र को मिट्टी का कार्य माना जायेगा। इस प्रकार व्यवस्था ही लड़खड़ा जायेगी, उसी प्रकार पहले यदि घट है, तो उसे मिट्टी का कारण माना जायेगा और मिट्टी को घट का कार्य माना जायेगा, तब तो व्यवस्था न रहेगी। अतः पूर्व भाव होने मात्र से किसी पदार्थ को कारण मान लेना भी असंगत है॥ ४१ ॥

## ( ४२ ) न विज्ञानमात्रं बाह्यप्रतीतेः ॥ ४२ ॥

**सूत्रार्थ—** विज्ञानमात्रम् = मात्र विज्ञान ही , न = नहीं, बाह्यप्रतीतेः = बाहरी पदार्थों की प्रतीति होने से ।

**व्याख्या —** (बौद्ध) विज्ञान वादियों का मानना है कि मात्र विज्ञान ही एक तत्त्व है, उसके अतिरिक्त अन्य किसी पदार्थ का अस्तित्व नहीं है, किन्तु यह सिद्धान्त भी आधार हीन है; क्योंकि बाह्य पदार्थों का प्रत्यक्ष अस्तित्व सिद्ध है और वे अनुभव में भी आते हैं। अस्तु, स्पष्ट है कि विज्ञान ही एक-मात्र तत्त्व नहीं है (पदार्थ भी हैं।) ॥ ४२ ॥

**( ४३ ) तदभावे तदभावाच्छून्यं तर्हि॥ ४३॥**

**सूत्रार्थ**— तदभावे = बाह्य पदार्थों का अभाव मानने पर, तर्हि = तो, तदभावात् = उनका (पदार्थों का) अभाव होने से, शून्यम् = शून्य ही होगा (अर्थात् विज्ञान भी न रहेगा)।

**व्याख्या**— यदि बाहरी पदार्थों के अस्तित्व को बिल्कुल नकार दिया जाएगा, तो फिर विज्ञान का भी अस्तित्व न रहेगा, कारण यह कि विज्ञान भी किसी न किसी वस्तु (पदार्थ) के आधार पर ही टिक सकेगा। जब कुछ भी न होगा तो फिर विज्ञान क्या बताएगा? इस प्रकार स्पष्ट है कि बाह्य वस्तुओं के न होने से सर्वत्र सब कुछ शून्य ही रह जायेगा॥ ४३॥

**( ४४ ) शून्यं तत्त्वं भावो विनश्यति वस्तुधर्मत्वाद्विनाशस्य॥ ४४॥**

**सूत्रार्थ**— शून्य = शून्य ही, तत्त्वम् = तत्त्व है, भाव: = विद्यमान वस्तु (पदार्थ), विनश्यति = विनष्ट हो जाती है, क्योंकि वस्तु; धर्मत्वाद् = पदार्थ का धर्म होने से, विनाशस्य = विनाश होना (सभी पदार्थों का) माना गया है।

**व्याख्या**— जो वस्तु विद्यमान मानी जाती है, जिस वस्तु का अस्तित्व है,उसका नष्ट होना सुनिश्चित है; क्योंकि विनष्ट होना वस्तु का धर्म है। अत: मात्र शून्य ही तत्त्व है। आज जो वस्तु विद्यमान है, कल वह नहीं रहती, आज होने से पूर्व भी वह नहीं थी। इससे स्पष्ट है कि आज जो वस्तु नहीं है,कल वह होगी, पर आगे वह भी नहीं रहेगी।

संसार का हर पदार्थ शून्य में से उत्पन्न होकर शून्य में ही विलीन हो जाता है। इसलिए शून्य ही तत्त्व है। इस सिद्धान्त से भी आत्मा के बंधन की सिद्धि नहीं होती॥ ४४॥

**( ४५ ) अपवादमात्रमबुद्धानाम्॥ ४५॥**

**सूत्रार्थ**— अबुद्धानाम् = मूर्खों का , अपवादमात्रम् = यह मात्र अपवाद (बकवास) ही है।

**व्याख्या**— संसार की प्रत्येक वस्तु नाशवान् है, यह वृथा प्रलाप केवल मूर्खों का ही हो सकता है; क्योंकि जिस वस्तु के उत्पन्न होने और नष्ट होने का कोई कारण ही नहीं है, वह कैसे विनष्ट हो सकती है? यहाँ कारण से अभिप्राय आकृति से है अर्थात् जिस वस्तु की कोई आकृति निर्मित हुई है, उसका विनष्ट होना भी निश्चित है।

जो वस्तु सावयव नहीं है अर्थात् अवयव रहित है, उसके नष्ट होने का प्रश्न ही नहीं है। जो वस्तु जिस कारण से उत्पन्न होती है, वह अपने उसी कारण में विलीन हो जाए, इसे नाश होना कहते हैं। अवयव रहित वस्तु का कोई कारण नहीं होने से उसका लय होना भी सम्भव नहीं है॥ ४५॥

**( ४६ ) उभयपक्षसमानक्षेमत्वादयमपि॥ ४६॥**

**सूत्रार्थ**— उभयपक्ष = दोनों (बौद्धों के दोनों मतों क्षणिकवादियों और विज्ञानवादियों के) पक्षों में, समानक्षेमत्वात् = समान विचार होने से, अयम् अपि = यह भी (अर्थात् यह सिद्धान्त या मत भी त्यागने योग्य है)।

**व्याख्या**— बौद्ध मतावलम्बियों में दो प्रकार के मत हैं-एक क्षणिकवाद मत है, जिसके अनुसार प्रत्येक वस्तु क्षणिक है। दूसरा मत विज्ञानवादी है-जिसे योगाचार कहते हैं। प्रथम मतानुसार अतीत का अनुभव भविष्य में न होना और द्वितीय मत में बाह्य वस्तुओं का न होना माना जाता है। ऐसा ही दोष शून्य वादियों के मत में भी है। अस्तु , ये सभी मत त्याज्य ही हैं (क्योंकि इनसे कोई स्थायी समाधान नहीं निकलता)॥ ४६॥

**( ४७ ) अपुरुषार्थत्वमुभयथा॥ ४७॥**

**सूत्रार्थ**— उभयथा = दोनों ही प्रकार से , अपुरुषार्थत्वम् = अपुरुषार्थता (पुरुषार्थ न होना) है।

**व्याख्या**— जिस प्रकार क्षणिकवादियों के मतानुसार पुरुषार्थ की व्यर्थता है, उसी प्रकार शून्यवादियों के अनुसार भी पुरुषार्थ व्यर्थ है, क्योंकि क्षणिकवादियों के विचार में कोई भी पदार्थ बाद में स्वत: नष्ट हो जायेगा और शून्यवादियों के मत में तो सभी कुछ शून्य है, फिर पुरुषार्थ का क्या प्रयोजन? इस प्रकार दोनों ही प्रकार से अपुरुषार्थत्व है॥ ४७॥

**न गतिविशेषात्॥ ४८॥**

**सूत्रार्थ**— गतिविशेषात् = गति (जीव की एक शरीर से दूसरे शरीर में जाने की गति) की विशेषता से भी, न = बंधन का सिद्धान्त नहीं माना जा सकता।

**व्याख्या**— गतिमान् होना भी आत्मा (जीव) के लिए बंधन का कारण नहीं माना जा सकता; क्योंकि गति आत्मा का सहज धर्म है (एक शरीर से दूसरे शरीर में जाते रहने के गुण के कारण आत्मा को गतिशील माना जाता है) और जो जिसका सहज धर्म है, वह उसके लिए बंधन का कारण नहीं हो सकता। अत: गतिमान् होना भी आत्मा के बन्धन का कारण नहीं हो सकता॥ ४८॥

**अगले सूत्र में पुरुष (आत्मा) को निष्क्रिय बताते हुए उसका गतिमान् होना भी बताया गया है—**

**( ४९ ) निष्क्रियस्य तदसंभवात्॥ ४९॥**

**सूत्रार्थ**— निष्क्रियस्य = निष्क्रिय (क्रिया रहित) के, असम्भवात् = असम्भव होने से, तद् = उसका (गति का) होना असम्भव है।

**व्याख्या**— आत्मा (पुरुष) निष्क्रिय है, उसमें गति होना असम्भव है, फिर गति को बंधन का कारण कैसे मान सकते हैं? किन्तु यह कहना भी निर्मूल है कि आत्मा में गति नहीं है। आत्मा का गतिमान् होना तो उसके आवागमन (एक शरीर से दूसरे शरीर में आने-जाने) से ही सिद्ध है। '**अङ्गुष्ठमात्रं पुरुषं निश्चकर्ष यमो बलात्**' इस शास्त्र वचन से यमराज द्वारा अँगूठे के आकार के समतुल्य आत्मा को बल पूर्वक खींचे जाने की पुष्टि होती है। इससे आत्मा का गतिशील होना सिद्ध होता है॥ ४९॥

**यदि कोई यह कहे कि हम पुरुष (आत्मा) को न विभु और न अणु ही मानते हैं, तब तो गतिमान् होने से बन्धन मानेंगे? क्योंकि मध्यम परिचय वाला होने से गति होना असम्भव नहीं है। इसका उत्तर देते हुए अगले सूत्र में कहते हैं-**

**( ५० ) मूर्तत्वाद्घटादिवत्समानधर्मापत्तावपसिद्धान्त:॥ ५०॥**

**सूत्रार्थ**— मूर्त्तत्वाद् घटादिवत् = मूर्त्त होने के कारण घट (कुम्भ) आदि के समान, समानधर्मापत्तौ = समान धर्म की प्राप्ति होने से, अपसिद्धांत: = सिद्धांत की हानि होगी।

**व्याख्या**— यदि आत्मा को कुम्भ आदि के समान न विभु, न अणु, वरन् मध्य परिमाण (बीच के माप) वाला मानें, तो अवयव वाला होने से घटादि के समान ही उसे अनित्य मानना पड़ेगा, (क्योंकि शरीर धारी या सावयव कोई भी हो नित्य (मृत्यु रहित) नहीं हो सकता) किन्तु पुरुष (आत्मा) को अनित्य मानने से सिद्धान्त की हानि होगी।

आत्मा के विषय में गीता के इस कथन '**नित्य: सर्वगत: स्थाणुरचलोऽयं सनातन:**' से उसे नित्य, सर्वत्र जाने वाला, स्वरूप से अचल और सनातन कहा गया है। इस प्रकार आत्मा का नाशवान् न होना और गति विशेष से भी उसका बंधन न होना सिद्ध होता है॥ ५०॥

**( ५१ ) गतिश्रुतिरप्युपाधियोगादाकाशवत्॥ ५१॥**

**सूत्रार्थ**— उपाधियोगात् = उपाधि के योग से, आकाशवत् = आकाश की तरह, श्रुतिः अपि = श्रुति भी, गति = गति का प्रतिपादन करती है।

**व्याख्या**— इस सूत्र में घट में स्थित आकाश का उदाहरण देकर आत्मा के संबंध में समझाया गया है। जिस प्रकार कूप में घट डालने पर उसमें जल भर जाता है और उसमें (घट में) स्थित आकाश के स्थान पर जल भर जाता है। यहाँ घट रूप उपाधि के चलने से घटाकाश का चलना कहा गया है। इसी प्रकार शरीर रूप उपाधि के चलने से आत्मा का चलना माना जाता है। इसमें सूक्ष्म शरीर के चलने की प्रक्रिया ही समझनी चाहिए। गति के तथ्य का प्रतिपादन श्रुति भी करती है।

इसे एक अन्य उदाहरण से भी समझें-जैसे रथ में बैठा हुआ व्यक्ति वस्तुतः चलता नहीं, पर रथ के चलने से उसे भी चलते हुए मानते हैं। उसी प्रकार देह में बैठी हुई आत्मा वस्तुतः अचल-स्थिर है;किन्तु विभिन्न शरीरों को बदलने से उसे भी गतिमान् मान लिया जाता है॥ ५१॥

**( ५२ ) न कर्मणाप्यतद्धर्मत्वात्॥ ५२॥**

**सूत्रार्थ**— कर्मणा = कर्म से, अपि = भी, न = नहीं हो सकता (आत्मा का बंधन), अतद्धर्मत्वात् = क्योंकि यह उस (आत्मा) का धर्म नहीं है।

**व्याख्या**— किसी भी प्रकार (अच्छे अथवा बुरे) कर्म से भी आत्मा का बंधन नहीं हो सकता; क्योंकि कर्म करना (बंधित होना) आत्मा का धर्म नहीं है, कर्म करना (बंधन) तो शरीर का धर्म है। एक के बन्धन से दूसरे का बन्धित होना तर्क संगत नहीं कहा जा सकता॥ ५२॥

**( ५३ ) अतिप्रसक्तिरन्यधर्मत्वे॥ ५३॥**

**सूत्रार्थ**— अन्यधर्मत्वे = किसी एक के धर्म से किसी दूसरे का बन्धन मान लेना, अतिप्रसक्तिः = अति प्रसङ्ग दोष होगा।

**व्याख्या**— किसी एक के धर्म से दूसरे का बन्धन होना मानने से कथन अत्युक्ति (अति प्रसङ्ग) दोष से युक्त कहा जायेगा। अभिप्राय यह है कि एक के धर्म से दूसरे के बन्धन की उक्ति, व्यर्थ ही बात बढ़ाकर कहने के दोष से युक्त होगी। यदि उसे यथार्थ सिद्धान्त मान भी लें, तो किसी साधारण व्यक्ति द्वारा किये गये कर्म (धर्म) से मुक्तात्मा भी बन्धन से न बच सकेगा; क्योंकि किसी के कर्म का फल कोई भोगेगा। अतः यही निष्कर्ष है कि यह सिद्धान्त भी मिथ्या ही है॥ ५३॥

**( ५४ ) निर्गुणादिश्रुतिविरोधश्चेति॥ ५४॥**

**सूत्रार्थ**— निर्गुणादि = श्रुति द्वारा आत्मा को निर्गुण आदि कहा है, श्रुतिविरोधश्चेति = श्रुति से विरोध होगा (आत्मा को बंधनयुक्त कहने से)।

**व्याख्या**— श्रुतियों द्वारा आत्मा को निर्गुण, असङ्ग आदि कहा गया है। यथा **'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च' तथा 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः'** आदि। श्वेता० और बृहदा० उपनिषदों में चेतन आत्मा को स्पष्ट रूप से निर्गुण और असङ्ग कहा गया है। अस्तु, प्रकट ही है कि जो निर्गुण (गुणातीत) और असङ्ग है, उसे बन्धनयुक्त कहना उचित नहीं है॥ ५४॥

**( ५५ ) तद्योगोप्यविवेकान्न समानत्वम्॥ ५५॥**

**सूत्रार्थ**— तद्योगः = उस (प्रकृति) का पुरुष (आत्मा) से संयोग, अपि = भी, अविवेकात् = अविवेक (अज्ञान) से होने के कारण, न समानत्वम् = समानता नहीं है।

**व्याख्या** — प्रकृति और पुरुष (आत्मा) का परस्पर संयोग अविवेक के कारण होता है, इस कारण उसमें समानता नहीं हो सकती। जब ज्ञान साधना से उस आत्मा को चेतन और अचेतन के बीच अन्तर ज्ञात हो जाता है, तब उसका अविवेक समाप्त हो जाता है और उसका सम्पर्क प्रकृति से अलग हो जाता है एवं कदाचित् वह अविवेक के बन्धन से युक्त हो गया हो, तो वह उससे मुक्त हो जाता है। इस सूत्र से यह स्पष्ट होता है कि आत्मा और प्रकृति का अविवेक के कारण हुआ संयोग आत्मा के बन्धन का कारण होना युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता॥ ५५॥

**( ५६ ) नियतकारणात्तदुच्छित्तिर्ध्वान्तवत्॥ ५६॥**

**सूत्रार्थ** — नियतकारणात् = नियत कारण से, तदुच्छित्तिः = उस (अविवेक) का विनाश हो जाता है, ध्वान्तवत् = अन्धकार के समान।

**व्याख्या** — जिस प्रकार अन्धकार का विनाश उसके नियत कारण प्रकाश के द्वारा सम्भव होता है, उसी प्रकार अज्ञान (अविवेक) का नाश विवेक के द्वारा होता है। स्पष्ट है कि अन्धकार को दूर करने का एक मात्र निश्चित उपाय प्रकाश ही है तथा अज्ञान को दूर करने का निश्चित उपाय विवेक ही है। इससे भिन्न किसी अन्य उपाय से इसका निराकरण नहीं हो सकता ॥ ५६॥

**( ५७ ) प्रधानाविवेकादन्याविवेकस्य तद्धाने हानम्॥ ५७॥**

**सूत्रार्थ** — प्रधानाविवेकात् = प्रधान के अविवेक से, अन्याविवेकस्य = अन्य के अविवेक की प्राप्ति होती है और , तद्धाने हानम् = उस (प्रधान के अविवेक) की हान (विनाश) से अन्य (के अविवेक) का नाश हो जाता है।

**व्याख्या** — प्रधान से अभिप्राय यहाँ प्रकृति से है। प्रकृति के अविवेक से ही आत्मा को अन्य (शरीर, इन्द्रिय, स्त्री, पुत्र आदि) का अविवेक प्राप्त होता है और ज्यों ही उस (प्रकृति के) अविवेक का विनाश हुआ, त्यों ही शरीर, इन्द्रिय, पुत्रादि के दुःख से दुःखी होने वाला अविवेक भी आत्मा से दूर हो जाता है अर्थात् तब वह ज्ञान को प्राप्त करके सर्व त्यागी और बन्धन मुक्त होकर मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। इस तथ्य से स्पष्ट हुआ कि शरीरादि के अभिमान रूपी अविवेक के रहते मनुष्य के मोक्ष की कल्पना सम्भव नहीं है॥ ५७॥

**( ५८ ) वाङ्मात्रं न तु तत्त्वं चित्तस्थितेः॥ ५८॥**

**सूत्रार्थ** — चित्तस्थितेः = वृत्ति के चित्त में स्थित रहने पर, वाङ्मात्रं = केवल ज्ञान का कथन मात्र है, न तु तत्त्वम् = यथार्थ (वास्तविक) तत्त्व नहीं है।

**व्याख्या** — विवेक और अविवेक (ज्ञान और अज्ञान) चित्त के धर्म माने गये हैं। चित्त में जब तक अविवेक है, तब तक 'ज्ञानोदय होना' कहना कथन मात्र है, वह यथार्थ ज्ञान नहीं कहला सकता। जिस प्रकार रक्तवर्ण पुष्प को स्फटिक मणि के निकट रखने से उसमें लालिमा आ जाती है, उसी प्रकार चित्त में अविवेक के रहते विवेक यथार्थतः नहीं रहता, वह तो उसकी झलक मात्र होती है॥ ५८॥

**( ५९ ) युक्तितोऽपि न बाध्यते दिङ्मूढवदपरोक्षादृते॥ ५९॥**

**सूत्रार्थ** — युक्तितः = युक्तिपूर्वक, अपि = भी, दिङ्मूढवत् = दिग्भ्रमित के समान, अपरोक्षादृते = अपरोक्ष अर्थात् साक्षात् ज्ञान के अभाव में, न बाध्यते = बाधा नहीं होती।

**व्याख्या** — जिस प्रकार भूल जाने पर कोई दिग्भ्रमित उसके (दिशा के विषय में) सुनने, जानने से दिशा का ठीक ज्ञान प्राप्त कर लेता है; किन्तु उसे (दिशा को) देखे बिना उसका भ्रम निवारण नहीं होता,

उसी प्रकार (बन्धन के विषय में)वाणी से कहने-सुनने से जानकारी तो मिल जाती है; किन्तु साक्षात् ज्ञान पाये बिना बन्धन से मुक्ति अर्थात् मोक्ष पाना असम्भव है॥ ५९॥

**( ६० ) अचाक्षुषाणामनुमानेन बोधो धूमादिभिरिव वह्नेः ॥ ६० ॥**

**सूत्रार्थ**— अचाक्षुषाणाम् = नेत्रों से दिखाई न पड़ने वाले पदार्थों का, अनुमानेन = अनुमान के द्वारा, बोधः = बोध (ज्ञान) होता है, धूमादिभिः = धूम्र आदि से, वह्नेः = अग्नि का बोध होने, इव = के समान।

**व्याख्या**— जिस प्रकार धूम्र को देखकर अग्नि की विद्यमानता का ज्ञान हो जाता है, उसी प्रकार जिन पदार्थों को देखा जा सकना शक्य नहीं, उनका ज्ञान अनुमान से हो जाता है। हवा, गर्मी, शीत आदि आँख से दिखाई नहीं देते; किन्तु अनुमान से यह विदित हो जाता है कि हवा चल रही है, आज उष्णता है, आज शीत है आदि॥ ६०॥

**अब इन्द्रियों द्वारा दर्शनीय और अदर्शनीय तत्त्वों और प्रकृति आदि २५ तत्त्वों का वर्णन किया जाता है, जिनके विवेक से मोक्ष की प्राप्ति सम्भव हो सके।**

**( ६१ ) सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः
प्रकृतेर्महान्महतोऽहंकारोऽहंकारात्पंचतन्मात्राण्यु-
भयमिन्द्रियं तन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि पुरुष इति पंचविंशतिर्गणः ॥ ६१ ॥**

**सूत्रार्थ**— सत्त्वरजस्तमसां = सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण इन तीनों की, साम्यावस्था = समान अवस्था, प्रकृतिः = प्रकृति है, प्रकृतेर्महान् = प्रकृति से महत्तत्त्व, महतः अहंकारः = महत्तत्त्व से अहंकार, अहंकारात् पञ्चतन्मात्राणि = अहंकार से पञ्च तन्मात्राएँ, उभयमिन्द्रयम् = दोनों प्रकार की बाह्य और आन्तरिक इन्द्रियाँ (इनमें ज्ञानेन्द्रियाँ व कर्मेन्द्रियाँ बाह्य तथा मन आन्तरिक इन्द्रिय है), तन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि = तन्मात्राओं से स्थूल भूत समुदाय, पुरुषः = और इनके अतिरिक्त पुरुष, इति पञ्चविंशतिः गणः = यह पच्चीस तत्त्वों का गण (समुदाय)है।

**व्याख्या**— सत्त्व, रज, तम इन तीनों मूल तत्त्वों की साम्यावस्था ही प्रकृति है। साम्यावस्था वह है, जब ये तत्त्व अपने कारण रूप में स्थित रहते हैं, कार्य में प्रवृत्त नहीं होते। इससे स्पष्ट है कि प्रकृति अलग से कोई तत्त्व न होकर तीनों मूल तत्त्वों (सत्त्व,रज,तम) की साम्यावस्था है। इन तीनों में चेतन तत्त्व की प्रेरणा से हलचल शुरू होती है, तब वे अपने कार्य में प्रवृत्त होते हैं और अपनी साम्यावस्था छोड़कर विषमावस्था की ओर गतिमान् होते हैं। इसका प्रथम परिणाम महत्तत्त्व होता है, इसी का नाम बुद्धि तत्त्व भी है। महत्तत्त्व से अहंकार, अहंकार से पञ्चतन्मात्राएँ- (शब्द, स्पर्श, रूप,रस और गन्ध) तथा बाह्य-आभ्यन्तर इन्द्रियाँ प्रादुर्भूत होती हैं। अहंकार के भी दो प्रकार हैं, तामस अहंकार और सात्त्विक अहंकार। तामस अहंकार से तन्मात्राएँ और सात्त्विक अहंकार से बाहरी-भीतरी दोनों प्रकार की इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं। भीतरी इन्द्रियाँ मन और बाहरी ५ ज्ञानेन्द्रियाँ और ५ कर्मेन्द्रियाँ हैं। कान, नाक, त्वचा, नेत्र और जीभ — ये ५ ज्ञानेन्द्रियाँ तथा हाथ, पैर, वाणी, गुदा और जननेन्द्रिय — ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं। ये सभी विकार रूप हैं। पञ्चतन्मात्राओं (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध) से पंच स्थूल भूतों (आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी) की उत्पत्ति होती है। ये सभी तेईस तत्त्व चौबीसवें तत्त्व प्रकृति के ही विकार हैं और पच्चीसवाँ तत्त्व चैतन्य पुरुष है, जिसके भी दो भेद हैं-परमात्मा और जीवात्मा। इनमें परमात्मा को एक तथा जीवात्मा को अनेक संख्या वाला माना गया है॥ ६१॥

**( ६२ ) स्थूलात्पञ्चतन्मात्रस्य॥ ६२॥**

**सूत्रार्थ—** स्थूलात् = स्थूल से, पञ्चतन्मात्रस्य = पञ्च तन्मात्राओं का अनुमान हो जाता है।

**व्याख्या—** पृथिवी आदि (पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश) स्थूल भूतों के अस्तित्व से उनके उपादान कारण गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द तन्मात्राओं का अनुमान हो जाता है। उन्हें तन्मात्र (तन्मात्रा) इसलिए कहा जाता है; क्योंकि इनमें अन्य तत्त्व अमिश्रित रहते हैं और इनमें किसी प्रकार की बाह्य विशेषता नहीं होती, इसी कारण सांख्य दर्शन में इन्हें अविशेष कहा जाता है। इनके गंध, रस आदि नाम उन-उन कार्यों के उत्पादक होने से व्यवहारार्थ रख लिए गये हैं। स्थूल भूतों से इन तन्मात्राओं का अनुमान कर लिया जाता है, वस्तुतः ये सूक्ष्म होने के कारण अप्रकट रहते हैं। उदाहरणार्थ स्वर्ण के कणों का अन्तिम कण तक विश्लेषण करते जायें, तो वह स्वर्ण ही कहलाएगा; किन्तु एक क्षण वह आएगा, जब अन्तिम कण के बाद कोई तत्त्व ऐसा न रहेगा, जिसे स्वर्ण कहा जाये, वही इसकी मूल कारण रूपा तन्मात्रा होगी, जिसका कोई स्थूल स्वरूप दृष्टिगोचर नहीं होगा। इस प्रकार हम स्थूल कार्य से उसके कारणभूत सूक्ष्म तन्मात्रा का अनुमान कर लेते हैं॥ ६२॥

**( ६३ ) बाह्याभ्यन्तराभ्यां तैश्चाहङ्कारस्य॥ ६३॥**

**सूत्रार्थ —** बाह्याभ्यन्तराभ्याम् = बाहर और भीतर की इन्द्रियों से, च = और, तैः = उन (तन्मात्राओं) से, अहङ्कारस्य = अहंकार का (अनुमान होता है)।

**व्याख्या —** बाहर और भीतर की दोनों प्रकार की इन्द्रियों [पाँच ज्ञानेन्द्रियों, पाँच कर्मेन्द्रियों (बाह्य) और एक मन (आन्तरिक) इन्द्रिय] और उन (पञ्च तन्मात्राओं) से उनके कारण रूप अहङ्कार का अनुमान हो जाता है। अतः स्पष्ट है कि ये सभी (इन्द्रियाँ एवं तन्मात्राएँ) अहंकार के ही कार्य हैं। ये कार्य ही अपने अस्तित्व से अपने उपादान कारण के अस्तित्व का भान करा देते हैं॥ ६३॥

**अहंकार भी मूल तत्त्व नहीं है, उसका भी कोई कारण है, अतः अगले सूत्र में अहंकार के भी कारण का अनुमान निरूपित किया गया है—**

**( ६४ ) तेनान्तःकरणस्य॥ ६४॥**

**सूत्रार्थ—** तेन = उस(अहंकार)के द्वारा, अन्तःकरणस्य = अन्तःकरण का (अनुमान होता है)।

**व्याख्या —** उस अहंकाररूप कार्य के अस्तित्व से उसके भी कारणरूप अन्तःकरण का अनुमान होता है। इस सूत्र में अन्तःकरण शब्द 'महत्तत्त्व' अर्थात् बुद्धि के लिए प्रयुक्त हुआ है। सांख्य० में करण तेरह माने गये हैं (पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ तथा मन, बुद्धि और अहंकार)। इनमें बुद्धि ही प्रधान है, वही अहङ्कार का कारण है, उसका चेतन से सीधा और सघन सम्बन्ध है, इसीलिए सूत्र में बुद्धि (महत्तत्त्व) के लिए अन्तःकरण पद प्रयुक्त हुआ है॥ ६४॥

**बुद्धि भी मूल तत्त्व नहीं है, वह भी किसी का कार्यरूप है, अतः अगले सूत्र में उसके कारण का अनुमान विवेचित किया गया है—**

**( ६५ ) ततः प्रकृतेः॥ ६५॥**

**सूत्रार्थ—** ततः = उस (अन्तःकरण) से, प्रकृतेः = प्रकृति का (अनुमान होता है)।

**व्याख्या—** उस अन्तःकरण (महत् या बुद्धि) से उसके कारणरूप प्रकृति का अनुमान होता है। महत्तत्त्व कार्य और प्रकृति उसकी कारणरूपा है। प्रत्येक कार्य अपने मूल उपादान कारण का अनुमापक होता है। इसी कारण महत्तत्त्व अपने मूल कारण प्रकृति का अनुमान कराता है। प्रकृति का कोई उत्पादक नहीं है, इसीलिए प्रकृति अपने किसी उत्पादक कारण का बोध नहीं करा सकती॥ ६५॥

**( ६६ ) संहतपरार्थत्वात्पुरुषस्य॥ ६६ ॥**

**सूत्रार्थ**— संहत परार्थत्वात् = संघात का परार्थ (दूसरे के लिए) होने से, पुरुषस्य = पुरुष का (अनुमान होता है)।

**व्याख्या**— प्रकृति और उसके कार्यों के सम्मिश्रण को संघात कहते हैं। संघात दूसरों के लिए होता है। संघात को परिणामी तत्त्व कहा गया है। परिणामी का अभिप्राय है— परिणाम वाला। जिसका कोई कार्य या फल हो, उसे परिणामी कहते हैं। कोई भी परिणामी तत्त्व अपने लिए किसी प्रयोजन को सिद्ध नहीं करता। साथ ही परिणामी तत्त्व अचेतन भी होता है।

इन दोनों तथ्यों से यह सत्य स्पष्ट होता है कि अचेतन और परिणामी तत्त्व अपने से विलक्षण किसी ऐसे तत्त्व का बोध कराता है, जिसके प्रयोजन की सिद्धि के लिए उस परिणामी तत्त्व का अस्तित्व है। उसे जिस विलक्षण तत्त्व का कार्य सिद्ध करने की चेष्टा करना है,वह न परिणामी होगा,न अचेतन और ऐसा होने पर उसके लक्षण में इससे विपरीतता होगी। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि परिणामी और अचेतन तत्त्वों से विलक्षण(विपरीत लक्षण वाले)एक अपरिणामी और चेतन तत्त्व का अस्तित्व है, जिसकी प्रयोजन सिद्धि के निमित्त सभी परिणामी तत्त्वों की विद्यमानता है। इस प्रकार सिद्ध है कि सभी संघात परार्थ अर्थात् दूसरे के प्रयोजन की सिद्धि के लिए होते हैं। इसी कारण इन(संघातों)से 'पर' अर्थात् विलक्षण अपरिणामी और चेतन पुरुष का अनुमान होता है॥ ६६ ॥

**( ६७ ) मूले मूलाभावादमूलं मूलम्॥ ६७॥**

**सूत्रार्थ**— मूले = मूल में, मूलाभावात् = मूल के अभाव से, अमूलम् = मूल रहित, मूलम् = मूल है।

**व्याख्या**— मूल प्रकृति का अन्य कोई मूल उपादान कारण नहीं है अर्थात् मूल प्रकृति को उत्पन्न करने वाला और कोई नहीं है, अभिप्राय यह है कि उसके मूल (कारण) का अभाव है, अत: वह स्वयं ही मूल है। सत्त्व, रजस् और तमस् इन तत्त्वों का सम होना ही प्रकति है और उसी का परिणाम यह समस्त जगत् है, वह किसी की परिणामरूपा नहीं है। इस प्रकार स्पष्ट है कि गुणत्रय की साम्यावस्था ही प्रकृति है और वही सम्पूर्ण जगत् का मूल उपादान कारण है, दूसरा कोई और नहीं है॥ ६७॥

**( ६८ ) पारम्पर्य्येऽप्येकत्रपरिनिष्ठेतिसंज्ञामात्रम्॥ ६८ ॥**

**सूत्रार्थ**— पारम्पर्य्ये अपि = परम्परा मानने से भी, एकत्र परिनिष्ठा = किसी एक स्थान पर सीमा निर्धारण (अन्त) करना ही होगा (उस शृंखला को कहाँ समाप्त करें, यह निश्चय करना होगा), इति संज्ञामात्रम् = यह नाम मात्र का भेद है।

**व्याख्या**— यदि ऐसा मानें भी कि प्रकृति का उत्पन्न करने वाला भी कोई कारण है, तो उस कारण का भी उत्पादक कोई कारण होना चाहिए। इस प्रकार यह शृंखला चलती ही रहेगी। यदि यह शृंखला मानकर निरन्तर चलते रहें, तो कहीं न कहीं तो ठहरना ही होगा, जहाँ इसका अन्त होगा। अत: प्रकृति के ऊपर पुरुष (परमात्मा) पर ही क्यों न इसे समाप्त कर दें? किन्तु परमात्मा पर इस परम्परा के समाप्त होने का कोई प्रमाण नहीं मिलता और सांख्य दर्शन में प्रकृति को जो स्थान मिला है, अन्य मतों में पुरुष (परमात्मा) को वही स्थान प्राप्त है। इनमें कोई विशेष भेद नहीं है। नाम मात्र का भेद है। जैसे प्रकृति का कारणरूप परमात्मा और परमात्मा का परिणामरूप प्रकृति को मानना।

ऐसा मानने पर पुरुष (परमात्मा) को परिणामी और अचेतन मानना पड़ेगा, तब वह प्रकृति जैसे

लक्षण वाला (परिणामी और अचेतन) होगा; किन्तु सांख्य दर्शन में पुरुष (परमात्मा) को चेतन और अपरिणामी माना गया है और कारण की परम्परा प्रकृति पर ही रोक दी गई है। अतः प्रकृति का कोई कारण नहीं है॥ ६८॥

**चेतन और अचेतन दोनों में जगत् का मूल कारण किसे मानना उचित है? इसके उत्तर में सूत्रकार का कथन है—**

**( ६९ ) समानः प्रकृतेर्द्वयोः॥ ६९॥**

**सूत्रार्थ—** द्वयोः = दोनों में (पुरुष और प्रकृति अथवा चेतन और अचेतन में), प्रकृतेः = प्रकृति का, समानः = समञ्जस अथवा औचित्यपूर्ण है।

**व्याख्या—** दोनों (प्रकृति और पुरुष अथवा चेतन और अचेतन) में जगत् का मूल उपादान कारण प्रकृति को ही मानना समञ्जस अथवा औचित्यपूर्ण है। (इस सूत्र में 'समान' पद समञ्जस अथवा प्रामाणिक होने के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है) यद्यपि प्रकृति और पुरुष में नाममात्र का ही भेद है (जैसा कि पूर्व सूत्र में कहा भी गया है), तो भी यदि जगत् की उत्पत्ति के मूल उपादान कारण पर विचार करें, तो साधारणतया (यहाँ यदि यह मानें कि 'समान' पद का अर्थ साधारण है तब) लोग प्रकृति को ही मूल कारण मानेंगे; क्योंकि प्रकृति परिणामी है और पुरुष (चेतन सत्ता) अपरिणामी है। अतः जगत् के कारण की शृंखला प्रकृति पर ही समाप्त होनी माननी पड़ेगी, अन्य किसी तत्त्व पर नहीं॥ ६९॥

**जब यह अवधारणा पुष्ट हो गई कि प्रकृति ही जगत् का मूल उपादान है तथा परिणामी है और पुरुष (चेतन) अपरिणामी है, तो प्रत्येक जिज्ञासु साधक को शास्त्रादि से एक समान ज्ञान प्राप्त क्यों नहीं होता? इसका विश्लेषण करते हुए सूत्रकार आगे कहते हैं—**

**( ७० ) अधिकारित्रैविध्यान्न नियमः॥ ७०॥**

**सूत्रार्थ—** अधिकारित्रैविध्यात् = अधिकारी तीन प्रकार के (उत्तम, मध्यम और अधम या निकृष्ट) होने से, नियमः = नियम, न = नहीं है।

**व्याख्या—** ज्ञान पाने की क्षमतानुसार उसके तीन विभाग किये गये हैं। ये हैं-उत्तम, मध्यम और निकृष्ट। यह इसलिए कि किसी विषय को स्पष्ट कर देने पर भी ज्ञान धारण की क्षमता के अनुसार ही जिज्ञासु ज्ञान धारण कर पाता है। यही कारण है कि समान रूप से समान ग्रन्थ का अध्ययन करने पर भी कई अध्येता समान ज्ञान प्राप्त नहीं कर पाते; क्योंकि किसी की बुद्धि तीव्र होने से उसे शीघ्र ही ज्ञान-प्राप्ति हो जाती है, किसी को प्रयत्न करते रहने पर देर से ज्ञान प्राप्त होता है और किसी को प्रयत्न करने पर भी ज्ञान-प्राप्ति नहीं होती। इस तथ्य से स्पष्ट होता है कि शास्त्र द्वारा प्रकृति-पुरुष का भेद स्पष्ट रूप से विवेचित कर देने पर भी प्रत्येक जिज्ञासु को उसका साक्षात्कार एक जैसा नहीं हो पाता॥ ७०॥

**( ७१ ) महदाख्यमाद्यं कार्यं तन्मनः॥ ७१॥**

**सूत्रार्थ—** महदाख्यम् = महत् नामक, आद्यं कार्यम् = प्रथम (प्रारंभिक) कार्य, तन्मनः = वह मन है (मननशील निश्चय स्वभाव है)।

**व्याख्या—** प्रकृति का प्रमुख और प्रथम-कार्य महत् (बुद्धितत्त्व) है। मनन और चिन्तनरूप होने के कारण वह मन अथवा बुद्धि भी कहलाता है। इसका स्वरूप ही किसी विषय का मनन अथवा निश्चय करना है। मनस् पद जिस धातु से निर्मित हुआ है, उसका भी अर्थ-अवबोधन, निश्चय करना अथवा अध्यवसाय करना है। इसका तात्पर्य है कि प्रकृति का प्रारम्भिक और प्रमुख कार्य 'महत्' है,जिसका स्वरूप निश्चयात्मक अथवा अध्यवसाय रूप है, इसी कारण इसका दूसरा नाम बुद्धि है॥ ७१॥

**( ७२ ) चरमोऽहंकारः ॥ ७२ ॥**

**सूत्रार्थ**— चरमः = उसके पश्चात् का कार्य, अहंकारः = अहंकार है।

**व्याख्या**— उसके पश्चात् (प्रकृति के प्रथम कार्य महत् के पश्चात्) दूसरा कार्य अहंकार है। 'महत्' का बुद्धि से सम्बन्ध है, तो अहंकार अभिमानवृत्ति से युक्त है। इससे यह सिद्ध होता है कि बुद्धि से ही अहंकार प्रादुर्भूत होता है॥ ७२ ॥

**( ७३ ) तत्कार्यत्वमुत्तरेषाम्॥ ७३ ॥**

**सूत्रार्थ**— उत्तरेषाम् = बाद में कहे गये तत्त्व, तत्कार्यत्वम् =उस अहंकार के कार्य हैं।

**व्याख्या**— उसके पश्चात् कहे जाने वाले तत्त्व (जिनका वर्णन इकसठवें सूत्र में किया जा चुका है, वे पंच तन्मात्राएँ, बाह्य-आभ्यन्तर इन्द्रियाँ) अहंकार के कार्य हैं अर्थात् पञ्च तन्मात्राएँ और बाहरी-भीतरी इन्द्रियाँ (मन और ज्ञानेन्द्रियाँ-कर्मेन्द्रियाँ) अहंकार से उत्पन्न होती हैं॥ ७३ ॥

**( ७४ ) आद्यहेतुता तद्द्वारा पारम्पर्येऽप्यणुवत्॥ ७४ ॥**

**सूत्रार्थ**— आद्यहेतुता = प्रकृति की आदि हेतुता-आद्यकारणता, तद्द्वारा = उस कार्य के द्वारा, पारम्पर्ये अपि = पारम्परिक होने पर भी, अणुवत् = अणु की तरह (सिद्ध) है।

**व्याख्या**— कार्य के द्वारा अपने मूल कारण में (अणु के समान) लय होने की परम्परा मानने पर भी प्रकृति की आद्यहेतुता सिद्ध होती है। जगत् में प्रायः यह देखा जाता है कि कोई भी पदार्थ अपने वर्तमान रूप (कार्यरूप) को छोड़ता है, तब वह अपने कारण रूप में अवस्थित हो जाता है। किसी भी कार्य अथवा वस्तु-पदार्थ का सर्वथा विनाश नहीं होता। उत्पादन विकास के क्रम में बढ़ते-बढ़ते वह अपने पूर्व रूप में लौटता है, यह अवस्था ही उसके अपने कारण रूप में विलीन होने की है। यही बात सूक्ष्म तन्मात्राओं और इन्द्रियों के सन्दर्भ में है। तन्मात्राएँ और इन्द्रियाँ अपने उत्पन्न करने वाले अहंकार में और अहंकार महत्तत्त्व मूल प्रकृति में विलीन हो जाते हैं।

इस प्रकार अपने मूल कारण में लीन होने की परम्परा के कारण प्रकृति का आदि कारण होना सिद्ध होता है॥ ७४ ॥

**( ७५ ) पूर्वभावित्वे द्वयोरेकतरस्य हानेऽन्यतरयोगः॥ ७५ ॥**

**सूत्रार्थ**— द्वयोः = दोनों के, पूर्वभावित्वे = पूर्वभावी (अनादि) होने पर, एकतरस्य = उनमें से एक के, हाने = छोड़ देने पर या न होने पर, अन्यतर = दूसरे का, योगः = योग है।

**व्याख्या** — चेतन और अचेतन अर्थात् पुरुष और प्रकृति का अस्तित्व पूर्वभावी अर्थात् अनादिकाल से चला आ रहा है। इसके बाद भी इन दोनों में से एक तत्त्व (चेतन तत्त्व) के अपरिणामी होने से उसकी जगत् के उत्पादन में अनुपादानता सिद्ध होती है। इस प्रकार चेतन तत्त्व के, जगत् के उत्पादन कार्य से पृथक् रहने पर दूसरा जो शेष तत्त्व (प्रकृति) बचता है, उस अचेतन का योग ही जगत् की उत्पत्ति का उपादान कारण माना जा सकता है। यह पूर्व सूत्रों में सिद्ध हो ही चुका है कि जगत् का कोई भी पदार्थ अपने मूल उत्पादक तत्त्व में ही विलीन होता है। अतः स्पष्ट है कि समस्त जगत् की उपादानभूता प्रकृति (अचेतन) में ही यह सम्पूर्ण जगत् विलीन होता है, चेतन तत्त्व में नहीं॥ ७५ ॥

**( ७६ ) परिच्छिन्नं न सर्वोपादानम्॥ ७६ ॥**

**सूत्रार्थ** — परिच्छिन्नं = परिछिन्न संघात (सीमित एकदेशीय), सर्वोपादानम् = सभी का उपादानकारण, न = नहीं है।

**व्याख्या—** सीमित या एकदेशीय पदार्थ सभी की उत्पत्ति का कारण अथवा उपादान कारण नहीं हो सकता। प्रकृति के अतिरिक्त महत् आदि तत्त्व परिछिन्न (सीमित) हैं, वे सबका उपादान कारण नहीं हो सकते। दूसरा कारण यह है कि सीमित (परिछिन्न) और सावयव (अंग-अवयव वाला) तत्त्व-पदार्थ अनित्य और विनाशशील है, वह अन्य किसी कारण से परिणत होकर इस अवस्था में आया है, वह सबका मूल उपादान कैसे हो सकता है? इस प्रकार उत्पाद-विनाशशील तन्मात्राओं का जगत् का मूल उपादान होना सम्भव नहीं है॥ ७६॥

**( ७७ ) तदुत्पत्तिश्रुतेश्च॥ ७७॥**

**सूत्रार्थ—** तदुत्पत्तिः = उसकी (जगत् की) उत्पत्ति का प्रतिपादन करने वाली, श्रुतेः = श्रुति (वेद शास्त्रादि) होने से, च = भी यह सिद्ध है।

**व्याख्या—** संघात अथवा परिछिन्नों (सावयवों) की उत्पत्ति (जगत् की उत्पत्ति) प्रकृति से ही होती है, यह श्रुति प्रमाण द्वारा भी सिद्ध है। ऋ० १०.७२.३ में इस तथ्य की पुष्टि सम्बन्धी ऋचा इस प्रकार निर्दिष्ट है- **देवानां युगे प्रथमेऽसतः सदजायत। .... तदुत्तानपदस्परि॥** अर्थात् देवताओं की उत्पत्ति से पूर्व असत् (अव्यक्त) से सत् (अस्तित्ववान्) की उत्पत्ति हुई, इसके पश्चात् आशा (संकल्पशील मनस्तत्त्व) का विकास हुआ आदि। इसी प्रकार बृहदा० १.४.७ में सृष्टि उत्पत्ति की प्रक्रिया इस प्रकार वर्णित है- **तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्तन्नाम रूपाभ्यामेव व्याक्रियते ......** अर्थात् प्रथमतः अव्याकृत प्रकृति एक पदार्थ था, उससे क्रमशः दूसरे पदार्थ होते गये और उनके नाम-रूप भी होते गये। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि प्रकृति से ही सम्पूर्ण पदार्थों की उत्पत्ति हुई है॥ ७७॥

**( ७८ ) नावस्तुनो वस्तुसिद्धिः॥ ७८॥**

**सूत्रार्थ —** अवस्तुनः = अवस्तु से, वस्तुसिद्धिः = वस्तु का होना सिद्ध, न = नहीं है।

**व्याख्या —** किसी वस्तु की सिद्धि अवस्तु से होना सम्भव नहीं है अर्थात् जब कोई वस्तु अस्तित्व में ही नहीं है, तो उसका निर्माण कैसे होगा? यदि मिट्टी होगी, तो घट निर्माण होगा? मिट्टी ही नहीं होगी, तो घट निर्माण कैसे होगा। इस दृश्यमान जगत् को देखकर हम समझते हैं कि इसका आविर्भाव स्वतः ही होता है; किन्तु ऐसा समझना भ्रम मात्र है।

वास्तविकता इस श्रुति वाक्य से स्पष्ट है- **असतः सदजायत** अर्थात् अदृश्यमान से दृश्यमान का आविर्भाव हुआ है। एक आशंका यह उत्पन्न होती है कि इस संसार को स्वप्नवत् मिथ्या क्यों न मान लिया जाए। इसका निराकरण यह है कि स्वप्न का भी कोई न कोई आधार होता है, भ्रम के रहते भी उसे आधार रहित कहना ठीक नहीं; क्योंकि मनुष्य जो कुछ देखता, सुनता या अनुभूति करता है, उसी के आधार पर सुप्तावस्था में स्वप्न देखता है। यदि यह कहा जाए कि रज्जु (रस्सी) में सर्प के भ्रम के समान यह जगत् भी भ्रम ही है, तो यह भी अनुचित है। रस्सीरूप वस्तु को अन्धकार में सर्प समझ लेने का प्रमुख आधार तो रस्सी रूपी वस्तु ही है। यदि रस्सी ही न होती तो सर्प का भ्रम ही कैसे होता? फिर सर्प के भ्रम का आधार तो कहीं न कहीं सर्प का अस्तित्व ही है। यदि सर्प का कहीं अस्तित्व ही न हो या उसे कहीं देखा या सुना न होता, तब सर्प के आधार का भ्रम होना सम्भव न था।

इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि कोई भी वस्तु आधारहीन नहीं है। सृष्टि में कहीं यदि उसका अस्तित्व है, तो ही उसका स्वरूप भ्रम से या स्वप्न में प्रकट हो सकता है॥ ७८॥

**( ७९ ) अबाधाददुष्टकारणजन्यत्वाच्च नावस्तुत्वम्॥ ७९॥**

**सूत्रार्थ**— अबाधात् = बाधा न होने से, च = और , अदुष्टकारणजन्यत्वात् = दोष विहीन कारण से उत्पन्न होने से, अवस्तुत्वम् = अवस्तु का होना, न = सिद्ध नहीं हो सकता।

**व्याख्या**— वस्तु का अस्तित्व है, इस बात का कोई विरोध न मिलने के कारण और अदोष कारण द्वारा उत्पन्न होने से जगत् का अवस्तु होना असिद्ध है। उपर्युक्त सूत्र से स्पष्ट ही है कि जगत् की सत्ता किसी न किसी रूप में है ही, जगत् कोरी भ्रान्ति नहीं है। जब वह कार्य रूप में नहीं रहता, तब वह अपने कारण रूप प्रकृति में विलीन हो जाता है और जब सर्ग (पुनः सृष्टि) की स्थिति आती है, तब वह कार्य रूप में परिणत हो जाता है, इसके इस प्रकार प्रकट होने में कोई दोष अर्थात् बाधा उत्पन्न नहीं होती। इस प्रकार जगत् का प्रवाह किसी न किसी स्थिति में सतत बना रहता है। अस्तु, इन सभी उदाहरणों से जगत् का अवस्तु रूप होना किसी भी प्रकार सिद्ध नहीं होता॥ ७९ ॥

**( ८० ) भावे तद्योगेन तत्सिद्धिरभावे तदभावात्कुतस्तरां तत्सिद्धिः॥ ८०॥**

**सूत्रार्थ**— भावे = होने पर, तद्योगेन = उस (मूल कारण) के संयोग से, तत्सिद्धिः = उस (जगत्) की सिद्धि होती है, अभावे = न होने पर, तदभावात् = उसके (उस कारण के) अभाव होने से, तत्सिद्धिः=उस कार्य रूप जगत् की सिद्धि, कुतस्तराम्= किस प्रकार हो सकती है।

**व्याख्या**— यदि मूल कारण (प्रकृति) की विद्यमानता (सद्भाव) मानते हैं, तो उसके द्वारा कार्य रूप (सत्रूप) जगत् की उत्पत्ति भी हो सकती है। यदि मूल कारण को अभाव रूप माना जाए, तो उसका अस्तित्व ही न होगा, तो सत् रूप जगत् की उत्पत्ति कैसे हो सकेगी, जबकि जगत् की अनुभूति प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से होती है, इसलिए उसके अनुरूप उसका मूल कारण भी सत्रूप होगा, ऐसा अनुभव करना चाहिए॥ ८० ॥

**( ८१ ) न कर्मण उपादानत्वायोगात्॥ ८१ ॥**

**सूत्रार्थ**— कर्मणः = कर्म का, उपादानत्व-अयोगात् = उपादानता के साथ संयोग न होने से, न = वह जगत् का उपादान नहीं हो सकता।

**व्याख्या**— यदि यह कहा जाए कि प्रकृति का अस्तित्व मानना ही उचित नहीं, कर्म (क्रिया) से ही जगत् का आविर्भाव सम्भव है, तो इस आशंका का निराकरण यह है कि कर्म से किसी वस्तु की उत्पत्ति सम्भव नहीं है; क्योंकि कर्म के द्वारा अप्रकट वस्तु तो (प्रकट) हो सकती है; किन्तु जो अस्तित्वहीन है, उसका प्राकट्य किस प्रकार होगा। यदि मिट्टी का अस्तित्व ही न होगा, तो घट किस प्रकार बन सकेगा। इस प्रकार केवल क्रिया किसी पदार्थ को उत्पन्न नहीं कर सकती। अस्तु, स्पष्ट है कि जगत् को कोई क्रिया प्रकट नहीं कर सकती (उसका अस्तित्व तो प्रकृति में ही है)॥ ८१ ॥

**( ८२ ) नानुश्रविकादपि तत्सिद्धिः साध्यत्वेनावृत्तियोगादपुरुषार्थत्वम्॥ ८२॥**

**सूत्रार्थ**— आनुश्रविकात् = वैदिक कर्म (अनुष्ठान-योग आदि) से भी, तत्सिद्धिः = उसकी सिद्धि , न = नहीं है, साध्यत्वेन = साध्य होने के कारण, आवृत्तियोगात् = पुनः पुनः आवृत्ति का योग होने से, अपुरुषार्थत्वम् = पुरुषार्थ की सिद्धि नहीं होती है।

**व्याख्या**— अनुश्रव अर्थात् वेद वर्णित यज्ञ-अनुष्ठानादि कर्मों अथवा लौकिक कर्मों से (परम) पुरुषार्थ (मोक्ष) की सिद्धि नहीं होती। उनके करने से सुख-दुःखादि की प्राप्ति बारम्बार होती रहती है। इन सकाम अनुष्ठानादि कर्मों से साधक भौतिक सामग्री से सम्पन्न हो सकता है; किन्तु मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकता। इस कारण सूत्रकार ने इन कर्मों को अपुरुषार्थ कहते हुए इन्हें पुरुषार्थ नहीं माना है॥ ८२ ॥

**( ८३ ) तत्र प्राप्तविवेकस्यानावृत्तिश्रुतिः ॥ ८३ ॥**

**सूत्रार्थ—** तत्र = उस (चेतन-अचेतन) में, प्राप्तविवेकस्य = विवेक प्राप्त व्यक्ति का, अनावृत्तिः = संसार में पुनः न लौटना, श्रुतिः = श्रुति बताती है (न स पुनरावर्तते)।

**व्याख्या—** जिस जिज्ञासु साधक को प्रकृति-पुरुष अर्थात् अचेतन-चेतन का ज्ञान प्राप्त हो जाता है, वह उस ज्ञान को पाकर बन्धन से मुक्ति (मोक्ष) प्राप्त कर लेता है; क्योंकि अज्ञान ही बन्धन का कारण है। ऐसा चैतन्य ज्ञान प्राप्त कर लेने वाला संसार में पुनः आवर्तन नहीं करता अर्थात् नहीं लौटता, यह श्रुति भी प्रतिपादित करती है। यजु० ३१.१८ में उल्लेख है- **'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्। तमेव विदित्वाति मृत्युमेति ........॥** (अर्थात्- सूर्यतुल्य तेजसम्पन्न, अंधकाररहित, वह विराट् पुरुष है, जिसे जानने के बाद साधक को मोक्ष की प्राप्ति होती है अर्थात् उसका पुनर्जन्म नहीं होता) आदि के अनुसार भी यही प्रतिपादित है कि अचेतन से भिन्न तेजस्वी चैतन्य पुरुष का मैंने ज्ञान प्राप्त कर लिया है, उसका ज्ञान प्राप्त करके ही जन्म-मरण से मुक्ति प्राप्त हो सकती है, इसके अतिरिक्त मुक्ति प्राप्त करने का अन्य कोई रास्ता नहीं है। इससे यही स्पष्ट है कि ज्ञानी पुरुष का संसार में पुनरावर्तन नहीं होता। यही भाव निरालम्बो० ३३ में **'न स पुनरावर्तते '...** द्वारा व्यक्त किया गया है ॥ ८३ ॥

**( ८४ ) दुःखाद्दुःखं जलाभिषेकवन्न जाड्यविमोकः ॥ ८४ ॥**

**सूत्रार्थ—** दुःखात् दुखं = दुःख से दुःख होता है, जलाभिषेकवत् = जल में स्नान करने के समान, जाड्यविमोकः दोष से मुक्ति अथवा सर्दी से मुक्ति, न = नहीं होती।

**व्याख्या—** सांसारिक भोगों की इच्छा करने से दुःख की ही प्राप्ति होती है। उस कामना से जो भोग प्राप्त होते हैं, वे भी दुःखद ही हो जाते हैं। जिस प्रकार जल में स्नान करने से शीत (सर्दी) दूर नहीं होती अथवा जल में स्नान करने से स्थाई तौर पर मल (दोष) दूर नहीं होता, कुछ समय के बाद शरीर पुनः मल युक्त हो जाता है। उसी प्रकार भोगों की कामना क्षणिक सुख ही उत्पन्न करती है; किन्तु अन्ततः वह दुःख का संवर्द्धन ही करती है ॥ ८४ ॥

**( ८५ ) काम्येऽकाम्येऽपि साध्यत्वाविशेषात् ॥ ८५ ॥**

**सूत्रार्थ—** काम्ये=कामनायुक्त कर्म, अकाम्ये=कामना रहित कर्म, अपि=भी, साध्यत्व=साधन योग्य कर्म, अविशेषात्=अविशेषता होने से अथवा विशेषता न होने से।

**व्याख्या—** कामनायुक्त कर्मों की अनुष्ठान साधना करने पर अथवा निष्काम कर्म(ऐसे कर्म जिनमें लौकिक भोग प्राप्त करने की कामना न हो)करने पर भी मुक्ति नहीं मिल सकती। कारण यह है कि काम्यकर्म तो भोगों की संप्राप्ति के निमित्त ही किये जाते हैं; किन्तु निष्काम(कामना रहित)कर्म मोक्ष हेतु होने पर भी(साधक को)चेतन-अचेतन का ज्ञान हुए बिना मुक्ति प्राप्त नहीं करा सकते। इससे स्पष्ट है कि निष्काम कर्म तत्त्वज्ञान के बिना मोक्ष प्राप्त नहीं करा सकते। इस प्रकार सिद्ध हुआ कि निष्काम और सकाम दोनों ही प्रकार के कर्म बन्धन में डालते हैं। निष्काम के साथ तत्त्वज्ञान होना परमावश्यक है ॥८५ ॥

**( ८६ ) निजमुक्तस्य बन्धध्वंसमात्रं परं न समानत्वम् ॥ ८६ ॥**

**सूत्रार्थ—** निजमुक्तस्य = स्वयं मुक्त आत्मा का, बन्धध्वंसमात्रम् = बन्धन का नाश ही, परम् = परम पुरुषार्थ (मोक्ष) है, (इसकी कर्मफल से) समानत्वम् = समानता, न = नहीं है।

**व्याख्या—**स्वभाव से शुद्ध-बुद्ध-मुक्त आत्मतत्त्व जड़ प्रकृति के सम्पर्क में आकर ही बन्धन में पड़ जाता है। उस समय वह अपने स्वरूप को भुलाकर स्वयं को अचेतन समझने लगता है, यही

उसका अविवेक है। इस अविवेक का नाश तब होता है, जब वह अपने स्वरूप का दर्शन कर लेता है और चेतन-अचेतन का ज्ञान (विवेक) प्राप्त कर लेता है। तब भोग (कर्मफल) उत्पन्न करने वाली प्रकृति का सम्पर्क उससे छूट जाता है। यही मोक्ष की प्राप्ति है।

इस प्रकार मोक्ष प्राप्ति का मूल 'ज्ञान' है, न कि शुभ या अशुभ, सकाम या निष्काम कर्म। सारांशत: कहा जा सकता है कि जब तक मनुष्य चेतन-अचेतन के भेद को तत्त्वत: (पूरी तरह) न जान लेगा, स्वयं को कर्मों का कर्त्ता मानता रहेगा, तब तक वह प्रकृति के हाथ का खिलौना मात्र बना रहेगा।

अत: जड़ और चेतन का सम्यक् ज्ञान होना आवश्यक है। इसी को बन्धन से निवृत्ति कहा जाता है। यही परम पुरुषार्थ है। इसकी, प्रकृति से उत्पन्न फलरूपी भोगों से तनिक भी समानता नहीं है। इतना अवश्य है कि उक्त स्थिति (चेतन-अचेतन का ज्ञान) की प्राप्ति में प्रकृति का सहयोग आवश्यक है, इसलिए उसके स्वतन्त्र अस्तित्व को नकारा नहीं जा सकता॥ ८६॥

**अचेतन ( प्रकृति ) और चेतन ( आत्मा ) के अस्तित्व का प्रतिपादन यहाँ तक किया गया; किन्तु उसकी प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए प्रमाण की आवश्यकता है, जिसका प्रतिपादन अगले सूत्र में किया जा रहा है-**

**( ८७ ) द्वयोरेकतरस्य वाप्यसन्निकृष्टार्थपरिच्छित्तिः प्रमा तत्साधकतमं यत्तत् त्रिविधं प्रमाणम्॥ ८७॥**

**सूत्रार्थ**— द्वयो: = जानने वाला और जानने योग्य (बुद्धि और आत्मा) दोनों, अपि वा = अथवा, एकतरस्य = दोनों में से एक (आत्मा) को, असन्निकृष्टार्थपरिच्छित्ति: = पहिले न जाने हुए (तत्त्व) का निश्चयात्मक ज्ञान, प्रमा = प्रमा (तात्त्विक ज्ञान) कहा गया है, तत्साधकतमं यत् = उस 'प्रमा' का जो अत्यन्त साधक कारण है, तत् = वह, त्रिविधं प्रमाणं = तीन प्रकार का प्रमाण है।

**व्याख्या**— जिस अर्थ (तत्त्व) को हमने अभी तक नहीं जाना, उसको निश्चितरूप से जानना 'प्रमा' कहलाता है। यह प्रमा (निश्चित ज्ञान) आत्मा या बुद्धि चाहे दोनों को हो अथवा दोनों में से एक आत्मा को ही हो। उस 'प्रमा' का सर्वश्रेष्ठ साधन तथा जिसके तुरन्त बाद 'प्रमा' उत्पन्न होती है, 'प्रमाण' कहा जाता है।

यह प्रमाण भी तीन प्रकार का होता है- १. प्रत्यक्ष २. अनुमान तथा ३. शब्द। नेत्र आदि इन्द्रियों के द्वारा जिस विषय का ज्ञान प्रत्यक्ष होता है, उसे प्रत्यक्ष प्रमाण कहा जाता है। इसे सर्वश्रेष्ठ प्रमाण माना गया है (प्रत्यक्षं किं प्रमाणम्)। जिस विषय का ज्ञान 'अनुमान' पर आधारित है (धुआँ देखकर अग्नि का ज्ञान), उसे 'अनुमान प्रमाण' कहते हैं तथा जो ज्ञान 'वेदादि' आर्षग्रन्थों से प्राप्त होता है, उसे शब्द प्रमाण कहा जाता है॥ ८७॥

**( ८८ ) तत्सिद्धौ सर्वसिद्धेर्नाधिक्यसिद्धिः॥ ८८॥**

**सूत्रार्थ**— तत्सिद्धौ = उन तीनों प्रमाणों के सिद्ध होने पर, सर्वसिद्धे: = सब (पदार्थ मात्र) की सिद्धि हो जाती है, आधिक्य सिद्धि: = अधिक प्रमाण की सिद्धि, न = नहीं।

**व्याख्या**— पूर्वसूत्र में जिन तीन प्रमाणों का कथन हुआ है, उन्हीं से सभी प्रकार के अर्थ (पदार्थ, विषय आदि) की सिद्धि हो जाती है। इसके अतिरिक्त ऐसा कोई विषय बचता ही नहीं, जिसके लिए अतिरिक्त प्रमाण मानने की आवश्यकता पड़े। इसलिए तीन प्रमाणों (प्रत्यक्ष,अनुमान और शब्द) से अधिक प्रमाण मानने की कोई आवश्यकता नहीं। समस्त अर्थों की सिद्धि इन्हीं तीनों प्रमाणों से हो जाती है, इसलिए इसमें कोई न्यूनता भी नहीं है॥ ८८॥

**( ८९ ) यत्सम्बद्धं सत्तदाकारोल्लेखिविज्ञानं तत्प्रत्यक्षम्॥ ८९॥**

**सूत्रार्थ—** यत्सम्बन्धं सत् = जिसके साथ सम्बन्ध होता हुआ, तदाकारील्लेखि = उसी आकार को धारण करने वाला, (जो) विज्ञानम् = विज्ञान है, तत् = वह, प्रत्यक्षम् = **प्रत्यक्ष प्रमाण है।**

**व्याख्या—** चक्षु, श्रोत्र, घ्राण आदि इन्द्रियों के द्वारा बुद्धि, बाहरी विषयों के साथ अपना सम्पर्क स्थापित करती है और तत्काल वह विषयाकार हो उठती है। बुद्धि की यह स्थिति 'बुद्धिवृत्ति' कहलाती है। यह बुद्धिवृत्ति ही 'विज्ञान' के नाम से कही गई है। 'विज्ञान' अथवा इसी 'बुद्धिवृत्ति' को 'प्रत्यक्ष प्रमाण' कहा जाता है। यह वृत्ति ही आत्मा के साथ विषय का संयोग कराती हुई, उसे सुख-दु:ख का अनुभव कराती है। इसी के द्वारा उसे सभी सांसारिक विषयों का ज्ञान होता है; परन्तु आत्मा में इन विषयों के अनुभव से कोई विकार उत्पन्न नहीं होता है, अपितु वह अपने चेतन स्वभाव के कारण सुख-दु:ख का अनुभव मात्र करता है, उसके अनुभव को 'प्रमा' कहते हैं। इस 'प्रमा' की उत्पत्ति का आधार जब इन्द्रियाँ प्रत्यक्ष रूप से बनती हैं, तो उसे 'प्रत्यक्ष प्रमाण' कहा जाता है॥ ८९॥

**योगीजन प्रत्यक्ष इन्द्रियों के बिना ही विषयों का प्रत्यक्षीकरण अपने योगबल से कर लेते हैं, इस सम्बन्ध में सूत्रकार कहते हैं—**

**( ९० ) योगिनामबाह्यप्रत्यक्षत्वान्न दोषः॥ ९०॥**

**सूत्रार्थ—** योगिनाम् = योगीजनों की, अबाह्यप्रत्यक्षत्वात् = बाह्य प्रत्यक्ष न होने से (आन्तरिक प्रत्यक्ष होने से), न दोषः = कोई दोष नहीं है।

**व्याख्या—** पूर्वसूत्र में जिस प्रत्यक्षीकरण की बात कही गई है, उसे दो प्रकार से समझना चाहिए-पहला- बाह्य प्रत्यक्ष, दूसरा अबाह्य (आन्तरिक) प्रत्यक्ष। सर्वसाधारण जिस प्रकार आँख, कान आदि इन्द्रियों से विषयों का प्रत्यक्षीकरण करता है, वह बाह्य प्रत्यक्ष है, इसमें चक्षु आदि इन्द्रियों के द्वारा बुद्धि, बाह्य विषय के साथ साक्षात् सम्पर्क स्थापित करती है। योगीजनों के प्रत्यक्षीकरण में चक्षु आदि इन्द्रियों के द्वारा बाह्य विषयों के साथ सम्पर्क की आवश्यकता नहीं पड़ती, वे अपनी योग शक्ति से ही सभी वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं, इसलिए योगियों को होने वाले प्रत्यक्ष में इन्द्रियों का बाह्य विषयों से सम्पर्क नहीं होता, तो कोई दोष नहीं॥ ९०॥

**( ९१ ) लीनवस्तुलब्धातिशयसम्बंधाद्वाऽदोषः॥ ९१॥**

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, लीनवस्तुलब्धातिशयसम्बन्धात् = लीनवस्तु (जो सभी वस्तुओं को अपने में लीन कर लेती है,ऐसी प्रकृति)के साथ अतिशय(योगज)सम्बन्ध से,अदोषः = कोई दोष नहीं है।

**व्याख्या—** जो सभी वस्तुओं को अपने में लीन कर लेती है, ऐसी सबकी मूल कारण प्रकृति से भी जो अपनी योगज शक्तियों से सम्पर्क स्थापित कर लेता है, ऐसे व्यक्ति के लिए इन्द्रियों द्वारा बाह्य वस्तुओं से सम्पर्क स्थापित करना आवश्यक नहीं रहता। इस प्रकार लौकिक मनुष्यों से विलक्षण होने के कारण योगियों का इन्द्रियों द्वारा ग्रहण न हो सकने वाले विषयों के ग्रहण कर लेने की बात अत्युक्ति अथवा दोषपूर्ण नहीं मानी जा सकती है। भाव यह है कि पूर्व सूत्र में प्रत्यक्ष प्रमाण का जो लक्षण बताया गया (इन्द्रियों का बाह्य विषयों से प्रत्यक्ष सम्पर्क), वह योगियों के सन्दर्भ में दोषपूर्ण नहीं है; क्योंकि योगी तो सर्वसाधारण से विलक्षण होते हैं, उनके लिए कुछ भी सम्भव है॥ ९१॥

**यहाँ सामान्यतया यह शंका होती है कि वेदान्तादि अनेक ग्रन्थों में ऐसे संकेत मिलते हैं, जिनके आधार पर चेतन ईश्वर को जगत् का मूल कारण मान लिया जाना चाहिए, फिर प्रकृति को मूलकारण मानने की अतिरिक्त आवश्यकता नहीं रह जाती, इस शंका का समाधान सूत्रकार अगले सूत्र में करते हैं—**

**( ९२ ) ईश्वरासिद्धेः ॥ ९२ ॥**

**सूत्रार्थ**— ईश्वरासिद्धेः = (मूलकारण भूत) ईश्वर के असिद्ध होने से।

**व्याख्या**— प्रस्तुत सूत्र दर्शन के प्रकाण्ड पण्डितों के बीच कई प्रकार से व्याख्यायित हुआ है, जिससे सर्वसाधारण को समझने में कठिनाई होती है। यहाँ उसका सुसंगत अर्थ ही दिया जा रहा है, अधिक विस्तार से जानने के लिए पं० उदयवीर शास्त्री का विद्योदय भाष्य देखा जा सकता है।

यहाँ सूत्रकार का तात्पर्य है कि जगत् का मूलकारण (उपादान कारण) ईश्वर नहीं सिद्ध होता (जगत् का मूल कारण तो 'प्रकृति' ही है) 'ईश्वर' को हम किसी भी अवस्था में प्रत्यक्षतया जगत् के रूप में परिणत होते हुए नहीं देख पाते। इसीलिए उसे सूत्रकार ने 'असिद्ध' कहा है। इस सूत्र से 'ईश्वर' की सत्ता को असिद्ध नहीं कहा गया, प्रत्युत जगत् के उपादान कारण के रूप में 'असिद्ध' कहा गया है; क्योंकि जगत् का प्रधान कारण 'प्रकृति' है, इसीलिए उसकी संज्ञा 'प्रधान' भी है। अगले अध्याय (३.५६-५७) में 'ईश्वर' की सत्ता स्वीकार की गई है, उसका प्रत्याख्यान नहीं किया गया है। यहाँ उसकी 'उपादानता' (जगत् का मुख्य कारणत्व) का निषेध करके 'प्रकृति' की उपादानता का प्रतिपादन करने के उद्देश्य से उसे 'असिद्ध' दर्शाया गया है॥ ९२॥

**( ९३ ) मुक्तबद्धयोरन्यतराभावान्न तत्सिद्धिः ॥ ९३ ॥**

**सूत्रार्थ**— मुक्तबद्धयोः = मुक्त और बद्ध, (इनसे) अन्यतर = नितान्त, अभावात् = अभाव से, तत्सिद्धिः = उस ईश्वर की सिद्धि, न=नहीं होती।

**व्याख्या**— पूर्व सूत्र में 'ईश्वर' की सिद्धि प्रत्यक्ष न होने से उसका निषेध किया गया। इस सूत्र में 'वह अनुमान प्रमाण से भी सिद्ध नहीं हो सकता' यह बताया गया है।

सूत्रकार का कथन है कि ईश्वर को न तो मुक्त कहा जा सकता है, न बद्ध। 'मुक्त' कहने पर उसके द्वारा 'जगत्' रूप में परिणत होना शक्य नहीं; क्योंकि तब वह परिणामी (परिवर्तनशील) हो जायेगा, मुक्त नहीं रह सकेगा। यदि 'बद्ध' माना जाये, तो धर्म-अधर्म आदि के साथ सम्बन्ध होने से वह 'ईश्वर' कैसे रहेगा? इस प्रकार किसी भी अवस्था में 'ईश्वर' जगत् का उपादान भूत कारण सिद्ध नहीं हो सकता॥ ९३॥

**कार्य से भी कारण का अनुमान हो सकता है, इस सम्बन्ध में सूत्रकार आगे कहते हैं—**

**( ९४ ) उभयथाप्यसत्करत्वम्॥ ९४॥**

**सूत्रार्थ**— उभयथापि = दोनों अवस्थाओं (बद्ध या मुक्त) में भी (चेतन ईश्वर से), असत्करत्वं = अचेतन परिणाम होना (कैसे सिद्ध हो सकता है?)।

**व्याख्या**— ईश्वर को बद्ध या मुक्त कैसा भी मानने पर उसे चेतन तो मानना ही होगा। इस चेतन 'ईश्वर' से अचेतन जगत् का परिणाम (प्राकट्य) कैसे हो सकता है? क्योंकि चेतन पुरुष (ईश्वर) परिणामी (परिवर्तनशील) नहीं होता। इसलिए जिसका जगत् रूप परिणाम हो, वह ईश्वर नहीं हो सकता। यदि उसे परिणामी मान लें, तो उसे 'अचेतन' मानना होगा; किन्तु किसी भी शास्त्र अथवा श्रुति में ईश्वर को अचेतन नहीं कहा गया है। इस प्रकार कार्य (जगत्) से उपादान कारण (ईश्वर) का अनुमान नहीं लगाया जा सकता। अतएव जगत् का उपादान भूत 'ईश्वर' असिद्ध है, यही कहना होगा। सारांशतः कहा जा सकता है कि मुक्त या बद्ध दोनों अवस्थाओं में चेतन ईश्वर का अचेतन परिणाम (जगत् के रूप में) होना कैसे माना जा सकेगा? ऐसा कार्य-कारण भाव सर्वथा अमान्य ही होगा॥ ९४॥

**उपनिषदादि ग्रन्थों में तो 'ईश्वर' को जगत् का उपादान कारण माना गया है। अतः जगत् का उपादान भूत 'ईश्वर' शब्द प्रमाण से सिद्ध है, असिद्ध नहीं - ऐसा कहने पर सूत्रकार का समाधान है-**

## ( ९५ ) मुक्तात्मनः प्रशंसा उपासासिद्धस्य वा॥ ९५॥

**सूत्रार्थ—** मुक्तात्मनः = मुक्तात्मा (परमात्मा) की, प्रशंसा = प्रशंसा, वा = अथवा , उपासासिद्धस्य = उपासना के लिए विशिष्ट स्वरूप का वर्णन है।

**व्याख्या—** उपनिषदादि ग्रन्थों में 'ईश्वर' के लिए शुद्ध, बुद्ध, मुक्त आदि विशेषणों का प्रयोग किया है। कहीं-कहीं तो उसे (ईश्वर को) माता-पिता-विद्या-धन इत्यादिक स्वरूप वाला माना गया है। वस्तुतः ये सब विशेषण ईश्वर की प्रशंसा के लिए प्रयुक्त हुए हैं। परमात्मा के ऐसे स्वरूप का उपयोग केवल उपासना में होता है, वह अर्थ की वास्तविकता को प्रकट नहीं करता। यही बात जगत् के उपादान कारण के विषय में भी है। श्रुतियों में जो उसे जगत् का उपादान कारण कहा गया है, वह केवल ईश्वर की प्रशंसा अथवा उपासना के उद्देश्य से कहा गया है। अर्थ की वास्तविकता के आधार पर नहीं। सारांशतः कहा जा सकता है कि 'ईश्वर' को जगत् का उपादान कारण कहने में 'शब्द' (श्रुतिवचन) भी प्रमाण नहीं हो सकता। इस प्रकार 'ईश्वर' की उपादानता (जगत् का मूल उपादान कारण) सभी प्रमाणों के आधार पर असिद्ध है॥ ९५॥

**यदि सांख्य में ईश्वर को जगत् का उपादान कारण नहीं माना गया है, तो उसको किस रूप में स्वीकार किया गया है। इस पर सूत्रकार अगला सूत्र कहते हैं-**

## ( ९६ ) तत्सन्निधानादधिष्ठातृत्वं मणिवत्॥ ९६॥

**सूत्रार्थ—** तत्सन्निधानात् = उसकी समीपता से, मणिवत् = मणि के समान, अधिष्ठातृत्वम् = (ईश्वर का) अधिष्ठातापन सिद्ध होता है।

**व्याख्या—** सांख्य दर्शन में 'ईश्वर' को जगत् का अधिष्ठाता स्वीकार किया गया है। 'अधिष्ठाता' का तात्पर्य है कि 'ईश्वर' की उपस्थिति मात्र से जगत् का सब कार्य हो रहा है। 'जगत्' का मूल कारण 'प्रकृति' है और प्रकृति 'अचेतन' है, अचेतन 'प्रकृति' से जगत् का निर्माण, पालन, संहार कैसे सम्भव है? वस्तुतः अचेतन प्रकृति, चेतन ईश्वर के सान्निध्य में चेतनवत् कार्य करने लगती है। जैसे- अयस्कान्त मणि (चुम्बक) के सान्निध्य में अचेतन लोहे में गति आ जाती है। वह खिसक कर चुंबक से आ चिपकता है। इसी प्रकार 'ईश्वर' की उपस्थिति में प्रकृति सक्रिय होकर सृष्टि-प्रक्रिया का सारा कार्य चेतनवत् करती है। यही ईश्वर का अधिष्ठातृत्व है। सृष्टि प्रक्रिया में 'ईश्वर' की प्रेरणा ही कार्य करती है, न कि वह स्वयं। तभी तो उसे सक्रिय-निष्क्रिय दोनों कहा जाता है। 'प्रकृति' को प्रेरणा देते समय वह सक्रिय तथा अन्य समयों में निष्क्रिय रहता है॥ ९६॥

## ( ९७ ) विशेषकार्य्येष्वपि जीवानाम्॥ ९७॥

**सूत्रार्थ—** विशेषकार्येषु = विशेष कार्यों में, जीवानाम् = जीवों का, अपि = भी (अधिष्ठाता होना सिद्ध है)।

**व्याख्या—** शरीर में ईश्वर का प्रतिनिधि 'जीवात्मा' है। जिस प्रकार जगत् का अधिष्ठाता 'ईश्वर' है, उसी प्रकार दर्शन, श्रवण, मनन आदि शरीर के विशेष कार्यों का अधिष्ठाता 'जीवात्मा' है। देह और इन्द्रियों में सभी प्रकार की प्रवृत्ति, चेतन-जीव की निकटता से ही हो सकती है, उसके बिना देह और उसकी इन्द्रियाँ किसी भी कार्य में समर्थ नहीं हो सकतीं। इसीलिए 'जीवात्मा' को देह का अधिष्ठाता कहा जाता है॥ ९७॥

**( ९८ ) सिद्धरूपबोद्धृत्वाद्वाक्यार्थोपदेशः ॥ ९८ ॥**

**सूत्रार्थ** — सिद्धरूपबोद्धृत्वात् = सिद्ध रूप (आत्मा) के बोद्धा (ज्ञाता) होने के कारण, (इसलिए) वाक्यार्थोपदेशः वाक्यार्थ का उपदेश है।

**व्याख्या** — उक्त सूत्रों में 'जीवात्मा' को अधिष्ठाता - कर्त्ता आदि कहा गया है। यहाँ इसी तथ्य को प्रमाणित करने वाले 'शास्त्र वचन'-वाक्यार्थोपदेश का कथन किया गया है। 'आत्मा' सिद्धरूप अर्थात् नित्य, अपरिणामी- अविनाशी है, साथ ही वह बोद्धा-(ज्ञाता) रूप है। यहाँ 'बोद्धा' शब्द उपलक्षण रूप में प्रयुक्त है। इससे द्रष्टा, श्रोता, कर्त्ता, अधिष्ठाता आदि भी समझना चाहिए। उपनिषदादि ग्रन्थों में आत्मा के लिए विविध अनुष्ठानों तथा विधिवाक्यों का उल्लेख मिलता है। सूत्रकार ने इसी बात को 'बोद्धा' शब्द से प्रकट किया है।

प्रश्नो० (४.९) में जीवात्मा को द्रष्टा, श्रोता, बोद्धा, कर्त्ता, आदि माना गया है-'**एष हि दृष्टा स्प्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्त्ता विज्ञानात्मा पुरुषः।**' विज्ञानात्मा पुरुषः तैत्तिरीय उपनिषद्कार ने चेतन आत्मा को यज्ञ तथा अन्य कर्मों का कर्त्ता बताया है- **विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्माणि तनुतेऽपि च** (तैत्ति० २.५.१)। इसी प्रकार के अन्य अनेक श्रुति वचन हैं, जिनके द्वारा जीवात्मा के कर्त्तृत्व-भोक्तृत्व आदि गुण सिद्ध होते हैं- यही सूत्रकार का तात्पर्य है॥ ९८॥

**( ९९ ) अन्तःकरणस्य तदुज्ज्वलितत्वाल्लोहवदधिष्ठातृत्वम्॥ ९९॥**

**सूत्रार्थ** — अन्तःकरणस्य = अन्तःकरण (मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार) के, तदुज्ज्वलितत्वात् = आत्मा से प्रकाशित होने के कारण, लोहवत् = लोहे के समान, अधिष्ठातृत्वम् = (आत्मा का) अधिष्ठातापन सिद्ध होता है।

**व्याख्या** — पूर्व सूत्रों में 'जीवात्मा' को देह का अधिष्ठाता कहा गया है। उसे बोद्धा (कर्त्ता-भोक्ता-अनुभवकर्त्ता आदि) कहा गया है; किन्तु प्रश्न उठता है कि ज्ञान, संशय, इच्छा आदि भाव अन्तःकरण की अनुभूति के विषय हैं, फिर जीवात्मा को अधिष्ठाता मानने की आवश्यकता नहीं रहती। इस पर सूत्रकार कहते हैं-जैसे अग्नि के सम्पर्क में लोहा लाल हो जाता है, उसमें 'दाहकता' आ जाती है, उसी प्रकार जीवात्मा के सान्निध्य से अन्तःकरण में विविध प्रवृत्तियों का उद्भव होता रहता है। वैसे लोहे का वर्ण न तो लाल होता है, न उसमें जलाने की क्षमता होती है, उसमें यह क्षमता 'अग्नि' के कारण आती है।

इसी प्रकार अन्तःकरण की अनुभूति की क्षमता 'जीवात्मा' की सन्निधि के कारण आती है। यही जड़ अन्तःकरण का चेतन आत्मा के सान्निध्य से उज्ज्वलित होना है। इसीलिए जीवात्मा को ही देह के कार्यों--श्रवण, मनन, चिन्तन आदि का अधिष्ठाता माना जाना समीचीन है॥ ९९॥

**अब क्रम प्राप्त अनुमान प्रमाण का लक्षण बताया जा रहा है—**

**( १०० ) प्रतिबन्धदृशःप्रतिबद्धज्ञानमनुमानम्॥ १००॥**

**सूत्रार्थ** — प्रतिबन्धदृशः = व्याप्ति को देखकर, प्रतिबद्धज्ञानम् = व्यापक का जो ज्ञान होता है, अनुमानम् = (वही) अनुमान प्रमाण है।

**व्याख्या** — बन्ध का तात्पर्य 'सम्बन्ध' से है। दो वस्तुओं का परस्पर जो नियत (अपरिहार्य) सम्बन्ध होता है, वह 'प्रतिबन्ध' कहा जाता है, यही 'व्याप्ति' भी है। दो वस्तुओं का ऐसा सम्बन्ध जो एक-दूसरे को छोड़ न सके, जैसे- जिस वस्तु का धर्म 'उत्पन्न होना है, वह 'नाशवान्' भी है। 'उत्पन्न होना'

और 'नष्ट होना'- इन दोनों लक्षणों का नियत सम्बन्ध है। एक के बिना दूसरा रह नहीं सकता-उत्पन्न होने वाला नाशवान् है और नाशवान् उत्पन्न होने वाला है। दूसरा उदाहरण लें- जो त्रिगुणात्मक (सत्, रज, तम गुणों वाला) है, वह परिणामी (परिवर्तनशील) है, और जो परिणामी है, वह त्रिगुणात्मक है। हम इनमें से किसी भी एक के आधार पर दूसरे का निश्चय कर सकते हैं। जो निश्चायक (निश्चय करने का कारण) है, वह 'हेतु' है, जिसका निश्चय किया जाये, वह साध्य है। हेतु और साध्य के परस्पर नियत सम्बन्ध को 'प्रतिबन्ध' या 'व्याप्ति' कहते हैं। इस तरह के सम्बन्ध को 'होने' या 'न होने के' द्वारा प्रकट किया जाता है, जैसे - उत्पन्न होने की विशेषता वाला नाशवान् होता है, जो उत्पन्न होने वाला नहीं है, वह नाशवान् भी नहीं है। जब 'होने' के द्वारा दो धर्मों के सम्बन्ध को बताया जायेगा, तब उसे 'अन्वय व्याप्ति' तथा जब 'न होने' के द्वारा बताया जायेगा, तब उसे 'व्यतिरेक व्याप्ति' कहा जायेगा। इस प्रकार जिस व्यक्ति को व्याप्ति ज्ञान रहता है, वह एक धर्म (हेतु) के द्वारा दूसरे नियत सम्बन्धी (साध्य) का ज्ञान प्राप्त कर लेता है, इसी को अनुमान कहते हैं। धुएँ (हेतु) को देखकर अग्नि (साध्य) का ज्ञान प्राप्त करना अनुमान है॥ १००॥

## (१०१) आप्तोपदेशः शब्दः॥ १०१॥

**सूत्रार्थ—** आप्तोपदेशः = आप्तजन का उपदेश, शब्दः = शब्दप्रमाण है।

**व्याख्या—** प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण की विवेचना हो जाने के बाद अब 'शब्द प्रमाण' का स्वरूप बताया जा रहा है। किसी भी वस्तु के यथार्थ ज्ञान को 'आप्ति' कहते हैं, जिन धर्मनिष्ठ, श्रेष्ठ आचरण वाले ज्ञानी जनों के द्वारा एक वस्तु का साक्षात्कार करके यथार्थ-ज्ञान प्राप्त कर लिया जाता है, ऐसे व्यक्ति 'आप्तपुरुष' कहलाते हैं। ऐसे व्यक्ति का उपदेश 'शब्द प्रमाण' कहा जाता है। ऐसे व्यक्तियों के उपदेश (कथन) में भ्रम, प्रमाद आदि दोष बाधा नहीं डालते; बल्कि उनके उपदेशों में यथार्थ-ज्ञान होता है, जो भ्रम-अज्ञान का निवारण कर देते हैं। उनके दिये गये निर्णय दूसरों के हित में और जन कल्याणकारी होते हैं। ऐसी स्थिति में विवाद उपस्थित होने पर आप्तपुरुषों का निर्णय ही सर्वमान्य होता है। ऐसे लोगों के उपदेश ग्रन्थ भी 'आप्तग्रन्थ' कहलाते हैं। वेद, उपनिषद् आदि ग्रन्थ आप्तग्रन्थ हैं, उनमें जो उपदेश हैं, वे 'शब्दप्रमाण' के रूप में स्वयं सिद्ध हैं। इस प्रकार आप्तपुरुषों के वचन तथा उनके उपदेशग्रन्थ दोनों 'शब्द-प्रमाण' के अन्तर्गत आते हैं॥ १०१॥

## (१०२) उभयसिद्धिः प्रमाणात्तदुपदेशः॥ १०२॥

**सूत्रार्थ—** उभयसिद्धिः = (चेतन-आत्मा, अचेतन-प्रकृति) दोनों की सिद्धि, प्रमाणात् = प्रमाण से होता है (इसलिए), तदुपदेशः = प्रमाणों का उपदेश किया गया है।

**व्याख्या—** ऊपर वर्णित प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द प्रमाणों के प्रतिपादन का प्रयोजन बताते हुए सूत्रकार कहते हैं कि—

चेतन-आत्मा और अचेतन प्रकृति-दोनों प्रकार के तत्त्वों का यथार्थज्ञान प्रमाणों से ही होता है। इसीलिए प्रमाणों का उपदेश किया गया है। चेतन-अचेतन इन दो वर्गों में समस्त विश्व-ब्रह्माण्ड का समावेश है। अतः इन दोनों की यथार्थता का निश्चय प्रमाण द्वारा किया जा सके, इसी प्रयोजन के लिए 'प्रमाणों' का उपदेश किया गया है; क्योंकि 'प्रमाण' से ही यथार्थता का निश्चय हो पाता है॥ १०२॥

## (१०३) सामान्यतो दृष्टादुभयसिद्धिः॥ १०३॥

**सूत्रार्थ—** सामान्यतोदृष्टात् = सामान्यतोदृष्ट (अनुमान) से, उभयसिद्धिः = दोनों (चेतन-अचेतन, आत्मा-प्रकृति, पुरुष-प्रकृति) की सिद्धि होती है।

**व्याख्या—** मूल प्रकृति और चेतन का ज्ञान तीनों प्रमाणों में से किसके द्वारा होता है, इसका उत्तर सूत्रकार स्वयं देते हुए कहते हैं कि अचेतन प्रकृति और चेतन पुरुष (आत्मा) दोनों की सिद्धि (ज्ञान) 'सामान्यतोदृष्ट अनुमान' प्रमाण द्वारा होती है।

'सामान्यतोदृष्ट' अनुमान प्रमाण का एक उपभेद है। 'अनुमान' के तीन भेद बताये गये हैं-
१.पूर्ववत् अनुमान-- पूर्व (कारण) के आधार पर कार्य का अनुमान, जैसे-उमड़ते-घुमड़ते बादल को देखकर पानी बरसाने का अनुमान, यह पूर्ववत् अनुमान है।
२.शेषवत् अनुमान- कार्य को देखकर कारण का अनुमान, जैसे-नदी के भराव, गन्देपानी, कूड़े-करकट आदि के बहते स्वरूप को देखकर ऊपर की ओर हुई वर्षा का अनुमान करना, यह शेषवत् अनुमान है।
३.प्रत्यक्ष प्रमाण के आधार पर दो पदार्थों के नियत साहचर्य की स्थिति देखकर सामान्य रूप से एक नियम का निर्धारण कर लिया जाना, जैसे-कुल्हाड़ी से लकड़ी का काटा जाना देखकर यह सामान्य नियम समझ में आता है कि कुल्हाड़ी साधन है और लकड़ी का काटा जाना कार्य है। कटी हुई लकड़ी देखकर कुल्हाड़ी का अनुमान और कुल्हाड़ी देखकर काटी जाने वाली लकड़ी का अनुमान करना, यह 'सामान्यतोदृष्ट' अनुमान प्रमाण है।

प्रस्तुत प्रकरण में अचेतन प्रकृति द्वारा जगत् के उत्पन्न होने का ज्ञान, सामान्यतोदृष्ट अनुमान से होता है। प्रकृति त्रिगुणमयी है और जगत् के प्रत्येक पदार्थ भी त्रिगुणात्मक हैं। इस प्रकार जगत् के त्रिगुणात्मक पदार्थों को देखकर त्रिगुणमयी प्रकृति द्वारा उनके प्रादुर्भाव का अनुमान सहज ही हो जाता है। इसी प्रकार जगत् के जितने पदार्थ होते हैं, वे किसी न किसी के उपयोग के लिए होते हैं। वे पदार्थ अपना उपयोग स्वयं नहीं करते, जैसे- शय्या, आसन, गृह, उद्यान आदि भोग्य पदार्थ किसी और के उपयोगार्थ होते हैं। इसी आधार पर प्रकृति के द्वारा सृजित पदार्थों का भी कोई उपयोगकर्त्ता होगा और वह 'चेतन' ही हो सकता है, अचेतन नहीं; क्योंकि अचेतन तो वह पदार्थ (प्रकृति निर्मित) स्वयं ही है। इससे प्रकृति के पदार्थों को देखकर उनके उपयोग कर्त्ता चेतन-पुरुष का अनुमान करना स्वाभाविक है। यह भी 'सामान्यतोदृष्ट' अनुमान का ही विषय है। इस प्रकार सामान्यतोदृष्ट अनुमान द्वारा प्रकृति और पुरुष, चेतन और अचेतन का ज्ञान हो जाता है॥ १०३॥

## (१०४) चिदवसानो भोगः॥ १०४॥

**सूत्रार्थ—** चिदवसानः = चेतन पर्यन्त, भोगः = भोग है।

**व्याख्या—** प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों द्वारा जिस प्रमा (यथार्थ-ज्ञान) की उत्पत्ति होती है, उसकी अनुभूति बुद्धि को होती है या आत्मा को, कहने का तात्पर्य है कि प्रमाणों द्वारा जो यथार्थ ज्ञान प्रकट होता है, उसका अनुभव बुद्धि या आत्मा कौन करता है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए सूत्रकार कहते हैं-वस्तुतः सुख-दुःख आदि की अनुभूति सर्वप्रथम मन-बुद्धि को होती है; परन्तु उसका अवसान-समापन चेतन आत्मा में जाकर होता है। मन-बुद्धि के माध्यम से आत्मा को उसकी अनुभूति होती है, यहाँ तक कि मन-बुद्धि को भी जो अनुभूति होती है, उसका भी कारण जीवात्मा की उपस्थिति ही है, इसकी विवेचना पिछले सूत्र (९९) में की जा चुकी है।

यहाँ यह बात स्पष्ट की जा रही है कि भोग (सुख-दुःख की अनुभूति) वस्तुतः चेतन का विषय है, जड़ का नहीं। मन-बुद्धि आदि जड़ (प्रकृति के उपादान) हैं, उनके द्वारा 'भोग नहीं' किया जाता। वे 'भोग' करने के माध्यम हैं, 'भोग' उन तक सीमित नहीं रह जाता-जीवात्मा तक पहुँचकर समाप्त होता है।

फलत: समस्त संसार जीवात्मा का भोग्य है, संसार का सृजन इसी के लिए हुआ है।

महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि सुख-दु:ख आदि की अनुभूति आत्मा को होकर भी उसमें कोई विकार उत्पन्न नहीं होता। आत्मा का अपना वास्तविक शुद्ध स्वरूप चेतन है। उसमें कोई विकार आ ही नहीं सकता। रंगीन वस्त्र का प्रतिबिम्ब दर्पण पर पड़ता है, तो उस समय दर्पण भी रंगीन दिखाई देता है; परन्तु यथार्थ में दर्पण वैसा है नहीं, उसका रूप बदलता नहीं। वैसे देह के भोगों से आत्मा का रूप बदलता नहीं, वह तो वैसा ही रहता है, जैसा वह पूर्व में था। विभिन्न प्रकार के अनुभव चेतन (आत्मा) के अस्तित्व के बिना हो ही नहीं सकते॥ १०४॥

**( १०५ ) अकर्त्तुरपि फलोपभोगोऽन्नाद्यवत्॥ १०५॥**

**सूत्रार्थ—** अकर्त्तु: = न करने वाले को, अपि = भी, अन्नाद्यवत् = अन्नादि के समान, फलोपभोग: = फल का उपभोग होता है।

**व्याख्या—** पूर्व सूत्र में संसार की रचना और उसके समस्त भोग जीवात्मा के लिए हैं, यह कहा गया, तो प्रश्न उठता है कि संसार की रचना तो किसी और (विश्व के अधिष्ठाता) ने की तथा उसका भोग कोई और (जीवात्मा) करता है। इससे 'न करने वाले को फल की प्राप्ति' हो जाती है। इस पर सूत्रकार का समाधान है कि संसार में प्राय: देखा जाता है कि एक व्यक्ति रसोई बनाकर तैयार करता है, पर उसको खाने (भोगने) वाले अन्य अनेक व्यक्ति होते हैं। इसी प्रकार जगत् की रचना में जीवात्माओं का हाथ न होकर भी वे इसके भोगने वाले हो सकते हैं। यदि अकर्त्ता को भोग का अधिकार न हो, तो हर व्यक्ति को अपना-अपना भोजन पकाना पड़ता। इससे यह सिद्ध होता है कि करने वाला यदि एक है, तो उसका भोग करने वाले अन्य-अनेक हो सकते हैं॥ १०५॥

**( १०६ ) अविवेकाद्वा तत्सिद्धेः कर्त्तुः फलावगम:॥ १०६॥**

**सूत्रार्थ—** अविवेकात् वा = अथवा अविवेक से (किये गये कर्मानुसार), तत्सिद्धे: = जगत् की सिद्धि (उत्पत्ति) होने के कारण, कर्त्तु: = करने वाले को, फलावगम: = फल की प्राप्ति होती है।

**व्याख्या—** पूर्वसूत्र में अकर्त्ता को भी फलभोग करना पड़ता है, इसका व्यावहारिक दृष्टांत (रसोइये द्वारा बनाये गये भोजन का सबके द्वारा ग्रहण) देकर समाधान किया है। प्रस्तुत सूत्र में सैद्धान्तिक ढंग से उसका समाधान किया जा रहा है।

वास्तव में आत्मा में कर्तृत्व-भोक्तृत्व की सिद्धि 'अविवेक' के कारण होती है। 'अविवेक' की एक ऐसी स्थिति है, जिसके रहते जीवात्मा अज्ञानवश अपने को कर्त्ता-भोक्ता मानने लगता है; किन्तु जैसे ही उसे यह विवेक-ज्ञान हो जाता है कि चेतन (आत्मा) अलग है, जो केवल द्रष्टा मात्र है, करता कुछ नहीं, करने वाली तो प्रकृति है, जो एकदम अलग है। इस प्रकार चेतन और अचेतन दोनों अलग-अलग हैं। एक द्रष्टा है, दूसरा कर्त्ता है- यह ज्ञान (विवेक) होते ही 'आत्मा' को अपने यथार्थ स्वरूप का बोध हो जाता है और वह आवागमन से मुक्त हो जाता है; परन्तु जब तक यह विवेक उत्पन्न नहीं होता, तब तक वह अपने को कर्त्ता, भोक्ता मानता रहता है और उस कर्म के परिणाम स्वरूप उसका फल भोगने के लिए बार-बार इस जगत् में जन्मता-मरता रहता है। यह सब जीवात्मा के अविवेक का ही परिणाम है। इसी के परिणामस्वरूप उसे कर्म फल का भोग प्राप्त करना पड़ता है॥ १०६॥

**( १०७ ) नोभयं च तत्त्वाख्याने॥ १०७॥**

**सूत्रार्थ—** तत्त्वाख्याने च = और तत्त्वज्ञान हो जाने पर, उभयम् = ये दोनों बातें, न = नहीं रहतीं।

**व्याख्या**— जब अविवेक तथा किये गये कर्म के अनुसार जीवात्मा को निरन्तर फल भोग के लिए विवश होकर आवागमन के चक्र में रहना पड़ता है, तो क्या इससे 'मुक्ति' नहीं मिलती? इस प्रश्न के उत्तर में सूत्रकार कहते हैं कि जब तत्त्वज्ञान (आत्मा को अपने स्वरूप का यथार्थज्ञान) हो जाता है, तब उक्त दोनों बातें (कृतकर्म और अविवेक) नहीं रहतीं। विवेक ज्ञान होते ही आत्मा को आत्मसाक्षात्कार हो जाता है। वह अपने को प्रकृति (अचेतन) से अलग चेतन आत्मा के रूप में पहचान लेता है। ऐसा होते ही (कर्त्ता-भोक्ता होने का)उसका अविवेक दूर हो जाता है और जब वह कर्त्ता-भोक्ता ही नहीं, तब उन कर्मों का प्रतिफल भोगने के लिए उसका आवागमन रुक जाता है। इसी को मुक्त होना भी कहते हैं॥ १०७॥

**प्रकृति-पुरुष की सिद्धि सामान्यतोदृष्ट अनुमान के द्वारा की जा चुकी है; परन्तु जब ये इन्द्रियों द्वारा अनुपलब्ध हैं, तो इनकी सिद्धि कैसे हो सकती है? इसका समाधान सूत्रकार अगले सूत्र में दे रहे हैं—**

## (१०८) विषयोऽविषयोऽप्यतिदूरादेर्हानोपादानाभ्यामिन्द्रियस्य॥ १०८॥

**सूत्रार्थ**— विषयः अपि = विषय भी, इन्द्रियस्य = इन्द्रिय का, अविषयः = अविषय है, अतिदूरादेः = अतिदूर आदि (कारणों) से, हानोपादानाभ्याम् = हान और उपादान सम्भव है।

**व्याख्या**— कोई वस्तु चक्षु आदि इन्द्रियों से दिखाई न पड़े, तो इतने से उस वस्तु का अभाव नहीं माना जा सकता। यदि यह बात सही होती, तो अतीन्द्रिय 'प्रकृति' आदि पदार्थों का अनुपलब्धि के कारण (न दिखने के कारण) 'अभाव' स्वीकार किया जा सकता था; परन्तु अनेक बार ऐसा होता है कि विद्यमान पदार्थ भी कुछ दोषों के कारण इन्द्रिय का अविषय रहता है अर्थात् इन्द्रियगोचर नहीं हो पाता।

वे दोष सूत्रकार ने इस प्रकर बताये हैं-

**१. अतिदूर**- कोई भी पदार्थ अतिदूर होने के कारण दृष्टिगोचर नहीं होता, जैसे- आकाश में दूर उड़ता हुआ पक्षी।

**२. अतिसमीप**- अतिसमीप होने पर भी कोई वस्तु दृष्टिगोचर नहीं होती, जैसे- आँख में लगाया हुआ अंजन, उस आँख से नहीं दिखता।

**३. हान**- इन्द्रिय शक्ति की हानि होना, जैसे-अन्धे और बधिर , रूप और शब्द को ग्रहण नहीं कर पाते।

**४. उपादान**- इन्द्रिय और वस्तु के बीच में किसी अन्य वस्तु का उपस्थित हो जाना, जैसे- दीवार आदि के परे की वस्तु का न दिखना।

ये सभी दोष ऐसे हैं, जिनके कारण दिखने वाली वस्तु भी दृष्टिगोचर नहीं हो पाती। इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि जो पदार्थ एक समय नहीं दिख रहा, उसका अस्तित्व है ही नहीं॥ १०८॥

## (१०९) सौक्ष्म्यात्तदनुपलब्धिः॥ १०९॥

**सूत्रार्थ**— तदनुपलब्धिः = प्रकृति आदि की अनुपलब्धि,सौक्ष्म्यात्=सूक्ष्मता के कारण होती है।

**व्याख्या**— पूर्व सूत्र में कुछ बाधक तत्त्वों के कारण पदार्थों की अनुपलब्धि की बात कही गई; किन्तु प्रश्न उठता है कि प्रकृति आदि तो कभी भी दृष्टिगोचर नहीं होती, तब उसका अस्तित्व कैसे माना जाय? उसके उत्तर में सूत्रकार कहते हैं कि प्रकृति की अनुपलब्धि सूक्ष्मता के कारण नहीं होती है। जगत् के मूलकारण सत्त्व-रजस्-तमस् अतिशय अणुरूप होने के कारण अतिसूक्ष्म होते हैं, जो इन्द्रियों के ग्रहण करने की क्षमता से परे हैं। जब इन्द्रियाँ उन्हें ग्रहण ही नहीं कर सकतीं, तो उनके द्वारा अगोचर होना, अभाव का कारण नहीं है। कुछ पदार्थ सूक्ष्म होने के कारण आँख से तो नहीं दिखते; परन्तु सूक्ष्मदर्शी यन्त्र से दिख जाते हैं, इसी तरह उनसे भी सूक्ष्म (प्रकृति आदि) किसी यन्त्रादि से भी दिखाई न पड़ते हुए भी, उनका अभाव नहीं माना जा सकता है॥ १०९॥

## ( ११० ) कार्यदर्शनात्तदुपलब्धेः॥ ११०॥

**सूत्रार्थ—** कार्यदर्शनात् = कार्य के देखने से, तदुपलब्धेः = उसकी (प्रकृति) उपलब्धि (ज्ञान) हो जाने के कारण (उसका अभाव नहीं)।

**व्याख्या—** जब 'प्रकृति' अतिसूक्ष्म होने से इन्द्रियातीत है, तो उसका ज्ञान कैसे हो सकता है? इसका उत्तर देते हुए सूत्रकार कहते हैं- कार्य अर्थात् सृष्टि को देखने से प्रकृति का ज्ञान हो जाता है? जब जगत् प्रत्यक्ष (सामने) है, तो इसका कोई मूल उपादान कारण (उत्पन्न करने वाला कारण) अवश्य होगा; क्योंकि बिना कारण के कार्य प्रकट ही नहीं हो सकता। प्रायः देखा जाता है कि जगत् में प्रत्येक वस्तु, प्रत्येक व्यवहार, प्रत्येक विचार , सुख-दुःख और मोहात्मक हैं, इससे जगत् त्रिगुणात्मक सिद्ध होता है। इस आधार पर उसका मूलकारण भी कोई त्रिगुणात्मक होना चाहिए-ऐसा त्रिगुणात्मक कारण 'प्रकृति' ही हो सकती है। इस प्रकार त्रिगुणात्मक कार्य जगत् से उसके मूल उपादान त्रिगुणात्मक प्रकृति का अनुमान हो जाता है। सारांशतः कहा जा सकता है कि केवल दृष्टिगोचर न होने से प्रकृति का अभाव नहीं माना जा सकता है॥ ११०॥

## ( १११ ) वादिविप्रतिपत्तेस्तदसिद्धिरिति चेत्॥ १११॥

**सूत्रार्थ—** वादिविप्रतिपत्तेः = वादी की तर्कपूर्ण मान्यता से , चेत् = यदि, तत्=उसकी, असिद्धिरिति= असिद्धि है (ऐसा कहो, तो नहीं कह सकते)।

**व्याख्या—** 'प्रकृति' को जगत् का उपादान कारण मानने के विरुद्ध तर्कशास्त्रियों ने कई तर्क दिये हैं, इसी का समर्थन इस सूत्र में किया गया है। कोई चेतन ईश्वर को जगत् की उत्पत्ति का मूल कारण कहता है। किसी ने स्वभाव को मूल उपादान कहा है। किसी ने अकारण (स्वसंचालित) ही जगत् की उत्पत्ति स्वीकारी है। किसी ने सूक्ष्म भूतों को जगत् का मूल कारण स्वीकार किया है। इन सब मान्यताओं के रहते 'प्रकृति' को मूल कारण कैसे माना जा सकेगा? वादियों के इस प्रतिवाद का उत्तर सूत्रकार अगले सूत्र में देते हैं॥ १११॥

## ( ११२ ) तथाप्येकतरदृष्ट्या एकतरसिद्धेर्नापलापः॥ ११२॥

**सूत्रार्थ—** तथापि=तो भी, एकतरदृष्ट्या=एक दृष्टि (कार्य ज्ञान) से, एकतरसिद्धेः = एक की (कारण की) सिद्धि होने से, अपलापः न = (प्रकृति का) अपलाप (असिद्धि) नहीं हो सकता।

**व्याख्या—** पूर्व सूत्र में वादियों ने जो भी तर्क दिये हैं, उनको मान लेने पर भी उनमें एक तथ्य स्वतः सिद्ध है, वह है कार्य-कारण भाव। जगत् रूप कार्य को देखकर, कारण (प्रकृति) का अनुमान सहज किया जा सकता है; क्योंकि एकतर-कार्य के देखने से, एकतर-कारण की सिद्धि होती है। कार्य के देखे जाने पर कारण के अस्तित्व का अपलाप नहीं किया जा सकता है॥११२॥

## ( ११३ ) त्रिविधविरोधापत्तेश्च॥ ११३॥

**सूत्रार्थ—** त्रिविधविरोधापत्तेः = त्रिविधता के विरोध की प्राप्ति से, च = भी (प्रकृति से जगत् की उत्पत्ति होना सिद्ध है)।

**व्याख्या—** उक्त सूत्र में कार्य से कारण का अनुमान लगाना सिद्ध किया गया; किन्तु वह कारण 'प्रकृति' ही है, यह तो सिद्ध नहीं होता। उस सन्दर्भ में प्रस्तुत सूत्र समाधान दे रहा है- यदि त्रिगुणात्मक प्रकृति के अतिरिक्त, अन्य ईश्वर आदि को जगत् का उपादान कारण माना जायेगा, तो संसार में अनुभूयमान (अनुभव किया जाने वाला) त्रिविधता के विरोध की प्राप्ति होगी।

संसार के प्रत्येक पदार्थ, व्यवहार तथा भावना में त्रिगुणात्मकता देखी जाती है। इससे उसके मूलकारण को भी त्रिगुणात्मक होना चाहिए। 'ईश्वर' आदि को मूलकारण मानने पर त्रिगुणात्मकता का विरोध होगा; क्योंकि कोई भी व्यक्ति ईश्वर को त्रिगुणात्मक नहीं मानता, उसे त्रिगुणातीत (तीन गुणों से परे) मानता है। साथ ही ईश्वर आदि को मूलकारण मानेंगे, तो वह परिणामी (परिवर्तनशील) और अचेतन भी सिद्ध हो जायेगा; क्योंकि जगत् रूप कार्य परिणामी और अचेतन है, जबकि ऐसा मानना किसी को भी स्वीकार्य नहीं होगा; क्योंकि वह प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों के भी विरुद्ध है। इन सब कारणों से त्रिगुणात्मक प्रकृति को ही जगत् का मूल उपादान कारण स्वीकार किया जाना चाहिए॥ ११३॥

## (११४) नासदुत्पादो नृश‍ृङ्गवत्॥ ११४॥

**सूत्रार्थ—** नृश‍ृंगवत् = मनुष्य के सींग के समान, असदुत्पादो = असत् का उत्पन्न होना, न = सम्भव नहीं।

**व्याख्या—** उक्त कार्य-कारण भाव को सिद्ध करने वाले सूत्रों के बाद सांख्य सूत्रकार ने 'सत्कार्यवाद' जो कि सांख्य का मूल सिद्धान्त है, को सिद्ध करने का उपक्रम किया है- जिस पदार्थ का अस्तित्व नहीं है (जो असत् है), वह उसी प्रकार उत्पन्न नहीं हो सकता, जैसे मनुष्य के सींग। चूँकि मनुष्य में सींग का अस्तित्व कारण रूप में ही नहीं है, इसलिए वह कार्यरूप में भी कभी दिखाई नहीं देते। इसी तथ्य को दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है- कारणरूप में जिसका अस्तित्व रहता है, वही कार्य रूप में प्रकट होता है। तात्पर्य यह हुआ कि हमें जो भी कार्य दिखाई देता है, वह कारण में पहले विद्यमान था (सत् था), बाद में वही कार्य रूप में प्रकट हो जाता है। सर्वथा असत् की उत्पत्ति असंभव है। इसे ही 'सत्कार्यवाद' कहा जाता है॥ ११४॥

## (११५) उपादाननियमात्॥ ११५॥

**सूत्रार्थ —** उपादाननियमात् = उपादान का नियम होने से ऐसा मानना पड़ता है।

**व्याख्या —** किसी भी कार्य का होना, उसके उपादान कारण को सिद्ध करता है, बिना उपादान कारण के कार्य सिद्ध नहीं हो सकता। किसी विशेष कार्य की सिद्धि किसी कारण की अपेक्षा भी रखती है। घड़ा बनाना है, तो मिट्टी चाहिए। वस्त्र बनाना है, तो धागा चाहिए। ऐसा नहीं कि किसी भी कारण से कोई भी कार्य उत्पन्न हो जाए। अन्यथा मिट्टी से वस्त्र और धागे से घड़े बनने की स्थिति स्वीकारनी पड़ेगी, जबकि यह प्रत्यक्ष असिद्ध है। इसलिए उत्पत्ति से पूर्व भी कार्य अपने कारण में विद्यमान रहता है-यह निश्चित हो जाता है। यही सत्कार्यवाद कहलाता है॥ ११५॥

## (११६) सर्वत्र सर्वदा सर्वासंभवात्॥ ११६॥

**सूत्रार्थ—** सर्वत्र = सब जगह, सर्वदा = सब काल में, सर्वासम्भवात् = सब वस्तुएँ नहीं होतीं (इससे भी उक्त मान्यता उचित सिद्ध होती है)।

**व्याख्या—** सब वस्तुएँ सब जगह (सभी कारणों से) नहीं होतीं। यदि सब वस्तुएँ चाहे जिस कारण से उत्पन्न हो सकतीं, तो यह माना जा सकता था कि कार्य के लिए निश्चित कारण की आवश्यकता नहीं और बिना कारण के ही कार्य हो सकता हैं; परन्तु प्रत्यक्ष रूप में ऐसा नहीं होता। प्रत्युत जो गुण जिसमें हैं, उसी से उसकी उत्पत्ति होती है। इसलिए कार्य की उत्पत्ति से पूर्व, कारण में उसका सद्भाव (उपस्थिति) मानना सर्वथा युक्ति संगत है॥ ११६॥

## (११७) शक्तस्य शक्यकरणात्॥ ११७॥

**सूत्रार्थ—** शक्तस्य=शक्तिमान् द्वारा,शक्यकरणात् = शक्य करने से (भी यही मान्यता ठीक है)।

**व्याख्या—** जिसमें 'शक्ति' है, उसे शक्तिमान् कहते हैं और शक्तिमान् का जो कार्य है, वही 'शक्य' कहलाता है। इसका तात्पर्य यह है कि शक्तिमान् ही शक्ति से सम्बन्धित कार्य कर सकता है और वह वही कार्य कर सकता है, जिसकी उसमें शक्ति है। इससे प्रतीत होता है कि कार्य विशेष का उत्पादन उसी कारण से हो सकता है, जहाँ उसका सद्भाव है। इसलिए कार्य उत्पन्न होने से पूर्व भी कारण में कार्य की सत्ता का होना निश्चय होता है॥ ११७॥

**( ११८ ) कारणभावाच्च॥ ११८॥**

**सूत्रार्थ—** कारणभावात् = कारण में अस्तित्व होने से, च = भी यही मानना उचित है।

**व्याख्या—** कार्य का अस्तित्व 'कारण' में ही होता है, उससे अतिरिक्त या पृथक् नहीं। इसलिए कार्योत्पत्ति से पूर्व 'कार्य' का अस्तित्व कारण में बना रहता है। इसलिए 'सत्' कार्य का उत्पादन मानना युक्ति-संगत है, असत् का नहीं। यह बात लोक सिद्ध भी है। धान का कारण धान, आम का कारण आम, कचनार का कारण कचनार। इससे कार्य के कारणरूपता का सिद्धान्त सिद्ध होता है।

इस प्रकार कार्य के प्रकट न होने पर भी 'कारण' में उसका अस्तित्व बना ही रहता है। इसलिए 'असत्' कार्य की उत्पत्ति संभव नहीं, 'सत्' कार्य की ही उत्पत्ति हो सकती है॥ ११८॥

**( ११९ ) न भावे भावयोगश्चेत्॥ ११९॥**

**सूत्रार्थ—** चेत् = यदि कहो कि, भावे = जो है, उसका भावयोग =होना, न = नहीं कहना चाहिए।

**व्याख्या—** पूर्व सूत्रों में कहा गया कि कार्य 'कारण' में पहले से ही विद्यमान रहता है, जो पहले से विद्यमान रहता है, वही प्रकट होकर 'कार्य' कहलाता है। ऐसी स्थिति में 'कार्य' की उत्पत्ति बताना ठीक नहीं; क्योंकि 'कार्य' तो कारण में पहले से था ही, जब 'कार्य' विद्यमान है, तब उसकी उत्पत्ति कैसी? अविद्यमान की उत्पत्ति मानी जा सकती है।

इसलिए सत्कार्य सिद्धान्त के अनुसार किसी कार्य के उत्पादन या विनाश की बात कहना युक्ति संगत न होगा। ऐसी आशंका होने पर अगले सूत्र में समाधान दिया जा रहा है॥ ११९॥

**( १२० ) नाभिव्यक्तिनिबन्धनौव्यवहाराव्यवहारौ॥ १२०॥**

**सूत्रार्थ—** न = नहीं है, व्यवहाराव्यंवहारौ =व्यवहार अथवा अव्यवहार, अभिव्यक्तिनिबन्धनौ = प्रकट होने की व्यवस्था पर है।

**व्याख्या—** किसी भी 'कार्य' के उत्पन्न होने अथवा अस्तित्व का व्यवहार या अव्यवहार उस कार्य की अभिव्यक्ति पर आधारित है। यद्यपि कारण रूप में कार्य विद्यमान है; परन्तु कार्य सम्बन्धी समस्त व्यवहार उसी समय सम्पन्न होता है, जब कार्य प्रकट हो जाता है। जब तक कार्य प्रकट नहीं होता, तब तक विद्यमान होने न होने का प्रश्न ही नहीं उठता।

तिल के भीतर का तेल पेरने से ही प्रकट होगा, पहले से यह कैसे कहा जा सकता है कि इसमें कितना तेल निकलेगा? उस तेल के व्यवहार अथवा अव्यवहार की स्थिति तो तभी बनेगी, जब वह बाहर प्रकट होगा॥ १२०॥

**( १२१ ) नाशः कारणलयः॥ १२१॥**

**सूत्रार्थ—** कारणलयः = कारण में लीन ही, नाशः = नाश कहा गया है।

**व्याख्या**— 'कार्य' प्रकट होने के पूर्व अपने कारण में विद्यमान रहता है, यह बात मान भी ली जाय, परन्तु कार्य ध्वंस होकर तो विनष्ट हो ही जाता है, इस पर सूत्रकार कहते हैं कि पदार्थ का अपने कारण में लीन हो जाना ही नाश है। वस्तुत: किसी कार्य-वस्तु का सर्वात्मना नाश या अभाव कभी नहीं होता। 'कार्य' रूप में प्रकट होने के बाद जब वह अपने उस रूप का परित्याग करता है, तब या तो उससे किसी अन्य कार्य का प्राकट्य हो जाता है या वह अपने मूल कारण अवस्था में चला जाता है; इसी स्थिति को हम उस कार्यवस्तु के नाश की स्थिति कहते हैं।

इस प्रकार प्रत्येक वस्तु की कारण रूप में सत्ता तथा अप्रकट अवस्था में कार्य रूप की असत्ता स्पष्ट सिद्ध हो जाती है॥ १२१॥

## ( १२२ ) पारम्पर्यतोऽन्वेषणा बीजाङ्कुरवत्॥ १२२॥

**सूत्रार्थ**— पारम्पर्यत: = परम्परा से , बीजांकुरवत् = बीज से अंकुर उत्पन्न होने के समान, अन्वेषणा= खोज करनी चाहिए।

**व्याख्या**— जिस प्रकार 'कारण' में कार्य की सत्ता रहती है, क्या उसी प्रकार कार्य की अभिव्यक्ति (प्रकट होने) की भी सत्ता 'कारण' में होती है? नि:सन्देह नहीं; क्योंकि व्यवहार में ऐसा आता नहीं, तो फिर असत् रूप में रहती है? यदि उसे असत् मानें, तो फिर 'सत्' में वह कैसे आती है? तब तो सत्कार्यवाद का सिद्धान्त ही असंगत होने लगता है, इसका समाधान सूत्रकार देते हैं- किसी वस्तु के प्रकट होने (अभिव्यक्ति) का विवेचन, उसकी परम्परा के आधार पर होना चाहिए। प्रकट होने के बाद लीन होना और लीन होने के बाद प्रकट होना, यही परम्परा से चलने वाला क्रम है।

जब कोई वस्तु कार्य रूप में प्रकट हो चुकी है, तब उसी अवस्था में रहते हुए, उसी रूप में पुन: प्रकट होने का प्रश्न ही नहीं उठता। इसलिए जब 'कार्य' 'कारण' रूप में स्थित है, प्रकट होने का कार्य रूप भी उसी तरह से 'कारण' में स्थित है- यही मानना होगा। प्रकट होने का पुन: प्रकट होना उसी स्थिति में सम्भव है, जब प्रकट हुआ, अप्रकट स्थिति में पहुँच जाए। जिस प्रकार बीज से सीधा बीज नहीं होता और न अंकुर से सीधा अंकुर होता है। उनमें एक परम्परा है-बीज से अंकुर, अंकुर से बीज होता है। यही क्रम बराबर चलता रहता है। इसलिए कार्यरूप में प्रकट होने से पूर्व अभिव्यक्ति (प्रकट होने) का अस्तित्व कारण रूप में विद्यमान रहता है, जो उसकी अप्रकट अवस्था है। फलत: उक्त आशंका का अवकाश नहीं॥१२२॥

## ( १२३ ) उत्पत्तिवद्वाऽदोष:॥ १२३॥

**सूत्रार्थ**— वा = अथवा, उत्पत्तिवत् = उत्पत्ति के समान ही, अदोष: = दोष नहीं है।

**व्याख्या**— पूर्व सूत्र में कहे गये तथ्य को प्रकारान्तर से सूत्रकार पुन: कहते हैं। 'कारण रूप' में विद्यमान कार्य जब प्रकट होता है, तब उस अवस्था को प्रकट होना कहें या उत्पन्न होना-तथ्य दोनों एक ही हैं। 'प्रकट होना' (अभिव्यक्ति) और उत्पन्न होना दोनों एक ही तथ्य के नामान्तर भर हैं। इसलिए उत्पन्न होना कहने में कोई दोष नहीं है।

यहाँ यह प्रश्न उठना स्वाभाविक - सा लगता है कि जब सब वस्तुओं की अभिव्यक्ति (प्रकट) होना सम्भव है, तब अभिव्यक्ति की भी अभिव्यक्ति होनी चाहिए। इसका उत्तर यह है कि 'प्रकट' का 'प्राकट्य' प्रकट होने का ही रूप है। उसके पुन: प्रकट होने की कल्पना उचित नहीं, अन्यथा अनवस्था दोष (कभी समाप्त न होने वाला क्रम) उत्पन्न होगा॥ १२३॥

**( १२४ ) हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिंगम्॥ १२४॥**

**सूत्रार्थ—** हेतुमत् = कारणवाला, अनित्यम् = अनित्य (सदा एक सा न रहने वाला), अव्यापि = एक स्थान पर रहने वाला, सक्रियम् = क्रियावान्, अनेकम् = अनेक (पृथक्-पृथक् प्रतीत होने वाला), आश्रितम् = कारण के आधीन, लिंगम् = कार्य लक्षण वाला है।

**व्याख्या—** प्रत्येक हेतुमान् पदार्थ 'कार्य' होता है। यहाँ हेतुमान् का अर्थ है, जो किसी कारण से उत्पन्न हुआ हो। साथ ही जो सदा एक जैसा न रहे, नाशवान् हो, जो व्यापक न होकर एक स्थान पर रहने वाला हो, जो क्रियावान् (जिसमें क्रिया होती) हो, जिसके अनेक रूप हों- जो कारण के आश्रित हो अर्थात् कारण के रहने पर रहे, न रहने पर न रहे, जो लिंग (अपने कारण में लय-विलय होने वाला) हो अथवा जो लीन-अन्तर्हित (छिपे हुए) अतीन्द्रिय कारण का बोध कराता हो-यह सब 'कार्य' के लक्षण हैं।

सारांशत: कहा जा सकता है कि हेतुमत्, अनित्य, अव्यापि, क्रियावान्, अनेक आश्रित और लिंग-यह कार्य का स्वरूप है। किसी भी कार्य में हेतुमत्व आदि विशेषताएँ अवश्य पायी जायेंगी। सभी कार्यों में ये विशेषताएँ नहीं रहतीं, इसलिए कार्य के साथ मूल प्रकृति की भिन्नता स्वत: सिद्ध है॥ १२४॥

**( १२५ ) आञ्जस्यादभेदतो वा गुणसामान्यादेस्तत्सिद्धिः प्रधानव्यपदेशाद्वा॥**

**सूत्रार्थ—** आञ्जस्यात् = प्रत्यक्ष से, वा = अथवा, गुणसामान्यादे: = गुण सामान्य आदि (जाति, स्वभाव आदि) का, अभेदत: भेद न होने के कारण, वा = अथवा, प्रधानव्यपदेशात् = प्रधान के व्यपदेश(वर्णन) से, तत्सिद्धि: = उसकी सिद्धि है अथवा वैसा होना सिद्ध है।

**व्याख्या—** प्रत्यक्ष प्रमाण से कार्य और कारण का भेद स्पष्टतया विदित होता है। जिस प्रकार मिट्टी कारण है और घट उसका कार्यरूप है। यद्यपि घट है तो मिट्टी रूप ही; किन्तु आकार-प्रकार की भिन्नता-विशेषता उसके पार्थक्य (कार्यरूप) का बोध कराती है। यह भेद प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होता है। कुछ विषयों में इस प्रकार के प्रत्यक्ष प्रमाण न होने से वहाँ अनुमान से कार्य और कारण में भेद किया जाता है। जिस प्रकार बेर के स्वरूप को हम जानते हैं, तो उसकी जाति के जितने प्रकार के बेर होंगे, वे सब प्राय: उसी ढंग के होंगे; इसी प्रकार शब्द प्रमाण से भी कार्य-कारण की संगति की पुष्टि हो जाती है। श्रुति में प्रकृति और पुरुष के भेद का स्पष्ट वर्णन है। जगत् का मूल कारण प्रधान है, जिसमें जगत् के लय की बात कही गई है, उसका जगत् से पृथक् रूप में होना विवेचित किया गया है। इस प्रकार प्रधान का वर्ग न होने से कार्य के कारण से अलग (भिन्न) होने की बात स्वत: सिद्ध होती है॥ १२५॥

**( १२६ ) त्रिगुणाचेतनत्वादिद्वयो:॥ १२६॥**

**सूत्रार्थ—** द्वयो: = कार्य और कारण दोनों में, त्रिगुणाचेतनत्वादि = त्रिगुणात्मकता और अचेतनता आदि धर्म में।

**व्याख्या—** कारण और कार्य दोनों सत,रज,तम से युक्त हैं और अचेतन भी हैं, अत: दोनों ही समानधर्मी हैं। सबकी कारणस्वरूपा प्रकृति त्रिगुणमयी, अचेतन, अज्ञानयुक्त और परिणामी है, इसी प्रकार इस प्रकृति के समस्त कार्य भी इन्हीं कार्यों से युक्त हैं। ये सभी धर्म चैतन्य आत्मा के विपरीत लक्षण वाले हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि कारण और कार्य समान लक्षण वाले हैं॥ १२६॥

**( १२७ ) प्रीत्यप्रीतिविषादाद्यैर्गुणानामन्योऽन्यं वैधर्म्यम्॥ १२७॥**

**सूत्रार्थ—** प्रीत्यप्रीतिविषादाद्यै: = प्रीति, अप्रीति और विषाद आदि के भेद से, गुणानाम् = गुणों की, अन्योऽन्यम् = आपस में, वैधर्म्यम् = विरुद्धता है।

**व्याख्या**— सत्त्व, रजस् और तमस्-इन तीन गुणों में क्रमश: सतोगुण-प्रीतिवाला, रजोगुण-अप्रीति वाला और तमोगुण विषाद वाला है। इस प्रकार स्पष्ट है कि ये तीनों गुण परस्पर विरुद्ध धर्म वाले हैं; किन्तु सूत्रकार द्वारा सूत्र में 'आदि' शब्द लगाकर इन गुणों के (इनके अतिरिक्त) अन्य धर्मों का भी संकेत किया गया है।

यद्यपि इन गुणों के प्रमुख धर्म तो उपर्युक्त ही हैं; किन्तु इनके कई अन्य सहायक धर्म भी हैं, जैसे- सत्वगुण के धर्म प्रसन्नता, हलकापन, संग, प्रीति, क्षमा, सन्तोष, सुख आदि हैं, रजोगुण के धर्म-अप्रीति, अप्रसन्नता, शोक, तृष्णा, ईर्ष्या, दु:ख आदि हैं तथा तमोगुण के धर्म निद्रा, आलस्य, मोह, आदि हैं। इन सभी में एक के धर्म दूसरे में न होने से इन्हें विरुद्ध धर्मी कहा जा सकता है॥ १२७॥

**( १२८ ) लघ्वादिधर्मैःसाधर्म्यं वैधर्म्यं च गुणानाम्॥ १२८॥**

**सूत्रार्थ**— लघ्वादिधर्मैः =लघु आदि (हलकापन आदि) धर्मों द्वारा, गुणानाम् =गुणों का, साधर्म्यम् = समान धर्म होना, च = और , वैधर्म्यम् = विरुद्ध धर्म होना, दोनों ही हैं।

**व्याख्या**— लघु (हलकेपन) आदि धर्म वाले समस्त सत्त्व गुण सम्पन्न (व्यक्ति) एक समान हैं; किन्तु रजोगुण और तमोगुण वालों से इनमें लक्षण न मिलने के कारण उनके ये विरुद्ध धर्म वाले हैं। इसी प्रकार चंचलता आदि धर्म वाले सभी रजोगुण सम्पन्न व्यक्ति एक जैसे हैं; किन्तु सत्त्वगुण और तमोगुण के विरुद्ध धर्म वाले हैं।

इसी प्रकार गुरुत्व आदि धर्म वाले समस्त व्यक्ति तथा तमोगुण सम्पन्न व्यक्ति एक समान हैं; कि न्तु रजोगुण और सत्त्वगुण वाले इनके विरुद्ध धर्म वाले हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि प्रकृति कोई व्यक्तिरूप तत्त्व नहीं है; वरन् सत्त्व, रजस् , तमस् को ही प्रकृति कहते हैं। उनमें प्रत्येक अनन्त हैं, इसलिए उनमें साधर्म्य की उक्ति तर्क संगत प्रतीत होती हैं। यदि सत्त्व एक व्यक्ति स्वरूप हो, तब वहाँ साधर्म्य होना असम्भव है॥ १२८॥

**( १२९ ) उभयान्यत्वात् कार्यत्वं महदादेर्घटादिवत्॥ १२९॥**

**सूत्रार्थ**— उभयान्यत्वात् = दोनों (प्रकृति-पुरुष) से अन्य (भिन्न) होने के कारण, महदादेः = महत् आदि का, घटादिवत् =घट आदि के समान, कार्यत्वम् = कार्य सिद्ध है।

**व्याख्या**— सृष्टि के मूल में चेतन और अचेतन दोनों तत्त्वों का होना स्वीकार किया गया है। इनमें पुरुष चेतन और प्रकृति अचेतन है। इनका अन्य कोई उपादान (कारण) नहीं है, अत: ये नाशवान् नहीं हैं, नित्य हैं। महत् आदि तत्त्व इन दोनों पुरुष और प्रकृति से भिन्न हैं, ये उसी प्रकार प्रकृति के कार्यरूप हैं, जिस प्रकार मृत्तिका (मिट्टी) के प्रत्यक्ष दृश्यमान कार्य घट आदि होते हैं। इस प्रकार कार्य और कारण का भेद स्पष्ट ही है॥ १२९॥

**( १३० ) परिमाणात्॥ १३०॥**

**सूत्रार्थ**— परिमाणात् = परिमाण से भी यह मान्यता उपयुक्त है।

**व्याख्या**— महत् आदि सीमित (एक देशीय)होने से कार्य हैं। किसी से उत्पन्न होने वाले कभी एक समान नहीं होते, इसलिए अनित्य और सीमित होते हैं। सीमित पदार्थ नाशवान् होते हैं, घट आदि भी सीमित हैं, अत: अनित्य हैं। कारण असीमित होता है,अत: वह नाशवान् नहीं होता॥ १३०॥

**( १३१ ) समन्वयात्॥ १३१॥**

**सूत्रार्थ**— समन्वयात् = समन्वय से भी यही सिद्ध होता है।

**व्याख्या**— इस सूत्र में समन्वय के द्वारा महत्तत्त्व के कार्य होने की पुष्टि की गई है। यदि भिन्न-भिन्न पदार्थ एक ही प्रकार के धर्म वाले हों,तो इसे समन्वय कहेंगे। जिस प्रकार पृथक्-पृथक् प्रकार के पात्र एक ही मिट्टी से निर्मित हों,तो मूलत: वे सभी मिट्टी ही हैं, यही उनकी समन्वयात्मकता है। इसी प्रकार बुद्धि आदि जो महत्तत्त्व के अन्तर्गत हैं,उन सभी में एकरूपता होने से,उन्हें गुणत्रय( सत,रज, तम)का विकास समझना चाहिए। प्रकृति का विकार होने से महत् तत्त्व आदि का 'कार्य' होना सिद्ध है॥

**( १३२ ) शक्तितश्चेति ॥ १३२॥**

**सूत्रार्थ**— च = और, शक्तित: = शक्ति से भी, इति = इसी प्रकार की (महत् आदि के कार्य होने सम्बन्धी) मान्यता है।

**व्याख्या**— 'शक्ति' शब्द का अभिप्राय साधन और योग्यता अथवा कारण दोनों ही हैं। कारण का अर्थ क्रिया अथवा हेतु भी है। प्राणी के लिए महत्तत्त्व (बुद्धि) आदि भोग प्रदान करने में प्रमुख साधन अर्थात् हेतु की भूमिका निभाते हैं। जिस प्रकार देखने के कारण नेत्र आदि करण(साधन)कार्य हैं,उसी प्रकार महत्(बुद्धि)आदि करण भी कार्य हैं। प्रत्येक कार्य अपने योग्य कारण से प्रादुर्भूत होता है-जैसे तिल से तेल उत्पन्न होता है,बालू से नहीं। इसी प्रकार त्रिगुणात्मक महत् सत्त्व, रज, तम रूप प्रकृति से उत्पन्न होता है। उस (कार्य) की शक्ति अपने कारण से सीमित होती है। इसे इस उदाहरण द्वारा स्पष्टत: समझा जा सकता है-नेत्रों के बिना मनुष्य देख सकने में समर्थ नहीं हैं; किन्तु आत्मा के बिना नेत्र भी देख नहीं सकते। अस्तु,नेत्रों की दर्शन शक्ति सीमित है जो अपने मूल कारण(आत्मा)से कम है।

जिस प्रकार नेत्रों के अभाव में देखना शक्य नहीं है, उसी प्रकार महदादि के अभाव में सृष्टि उत्पत्ति नहीं हो सकती। इससे भी स्पष्ट है कि महत् आदि प्रत्यक्षत: कारण दिखते हुए भी वस्तुत: कार्य रूप ही हैं॥ १३२॥

**( १३३ ) तद्धाने प्रकृति: पुरुषो वा॥ १३३॥**

**सूत्रार्थ**— तद्धाने=उसकी हानि(अर्थात् ऐसा न मानने)में, प्रकृति: =वह प्रकृति है, वा = अथवा, पुरुष: = पुरुष है।

**व्याख्या**— महत् आदि तत्त्वों को यदि कार्य न माना जाए, तो उन्हें प्रकृति अथवा पुरुष मानना पड़ेगा। उन्हें (महदादि तत्त्वों को) परिणामी मानें, तो प्रकृति और अपरिणामी मानें, तो पुरुष मानना होगा; किन्तु पुरुष चेतन और महत् आदि तत्त्व अचेतन हैं, इसलिए उन्हें पुरुष भी नहीं माना जा सकता तथा प्रकृति की जो स्थिति विवेचित की जा चुकी है, वह स्थिति भी महत् आदि तत्त्वों की नहीं है। अत: उन्हें प्रकृति (कारण) मानना भी उचित नहीं है, इस प्रकार स्पष्ट है कि महदादि पदार्थ 'कार्य' ही हैं॥ १३३॥

**( १३४ ) तयोरन्यत्वे तुच्छत्वम्॥ १३४॥**

**सूत्रार्थ**— तयो:=उनसे,अन्यत्वे=अन्य(भिन्न)होने पर,तुच्छत्वम्=महदादि तुच्छ माने जायेंगे।

**व्याख्या**— प्रकृति और पुरुष इन दो को ही वस्तु माना जाता है। संसार के शेष सभी पदार्थ अवस्तु रूप हैं, इसलिए महत् आदि तत्त्वों को प्रकृति का कार्य मानना चाहिए। यदि इन्हें प्रकृति और पुरुष से भिन्न माना जाए और कार्य भी न माना जाए, तो इनमें(महदादि तत्त्वों में)तुच्छता का भाव मानना होगा अर्थात् उन्हें कुछ भी नहीं माना जायेगा। ऐसी स्थिति में वे अस्तित्व विहीन हो जायेंगे; किन्तु इनका अस्तित्व सिद्ध ही है। अत: इन्हें तुच्छ न मानकर कार्यरूप ही मानना उचित है॥ १३४॥

**( १३५ ) कार्यात्कारणानुमानं तत्साहित्यात्॥ १३५॥**

**सूत्रार्थ—** कार्यात् = कार्य से, कारणानुमानम् = कारण का अनुमान, तत्साहित्यात् = उसके कार्य साहित्य (कार्य सहितता) से करना चाहिए।

**व्याख्या—** कार्य द्वारा कारण का अनुमान होता है। इस अनुमान प्रक्रिया को कार्य साहित्य(कार्य सहितता) कहते हैं अर्थात् जहाँ कार्य द्वारा कारण विदित हो, वह 'कार्य साहित्य' है। कार्य सदैव कारण सहित होता है। इस सहितता से ही कारण का अनुमान होता है। जैसे तिल में रहने वाले तेल रूपी कार्य का उपादान कारण तिल है, इसी प्रकार महदादि कार्यों का उपादान कारण प्रकृति है और ठीक इसी प्रकार महत् आदि तत्त्व अपने कार्यों के उपादान कारण हैं॥ १३५॥

**( १३६ ) अव्यक्तं त्रिगुणाल्लिङ्गात्॥ १३६॥**

**सूत्रार्थ—** त्रिगुणालिङ्गात् = गुणत्रय (सत्त्व, रज, तम) के लक्षण वाला (महत्) होने से, अव्यक्तम् = अव्यक्त (प्रकृति का अनुमान होता) है।

**व्याख्या—** कार्य के कारण में विलीन होने वाली शृंखला का अन्तिम कार्य महत्तत्त्व है। इसमें सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण, के परिणाम क्रमशः सुख, दुःख और मोह हैं। सम्पूर्ण व्यक्त संसार अपने मूल कारण में विलीन होते-होते महत्तत्त्व में विलीन हो जाता है। यह त्रिगुणात्मक महत्तत्त्व व्यक्त है। इससे इसकी कारणरूपा त्रिगुणमयी अव्यक्ता मूल प्रकृति का अनुमान होता है, कारण यह है कि प्रकट वस्तु ही अपने कार्यरूप में परिवर्तित होती है। यदि प्रकृति भी व्यक्त (प्रकट) होती, तो उसका मूल कारण हो सकना सम्भव नहीं था। इस प्रकार महत्तत्त्व के त्रिगुणात्मक होने से उसके मूल कारण प्रकृति का भी त्रिगुणात्मक होना सिद्ध होता है॥ १३६॥

**( १३७ ) तत्कार्यतस्तत्सिद्धेर्नापलापः॥ १३७॥**

**सूत्रार्थ—** तत् = उसके, कार्यतः = कार्यों से, तत्सिद्धेः = उसकी सिद्धि होती है, अतः; न अपलापः = अपलाप (मिथ्यावाद) नहीं है।

**व्याख्या—** महत्तत्त्व आदि प्रकृति के कार्य हैं, उनके सिद्ध हो जाने से प्रकृति की भी सिद्धि हो जाती है। अतः उसे मिथ्यावाद नहीं कहा जा सकता अर्थात् प्रकृति नहीं है, ऐसा नहीं माना जा सकता। स्पष्ट है महत्तत्त्व (कार्य) और प्रकृति (कारण) दोनों की सिद्धि हो चुकी है॥ १३७॥

**महत्तत्त्व और प्रकृति सिद्धि के बाद अब पुरुष के सन्दर्भ में चर्चा की जायेगी।**

**( १३८ ) सामान्येन विवादाभावाद्धर्मवन्न साधनम्॥ १३८॥**

**सूत्रार्थ—** सामान्येन = सामान्यरूप से (चेतन पुरुष के सन्दर्भ में), विवादाभावात् = विवाद के अभाव में, धर्मवत् = धर्म के समान, न साधनम् = विशेष साधन (प्रमाण) की आवश्यकता नहीं है।

**व्याख्या—** जब किसी वस्तु (पदार्थ-तथ्य) की मान्यता में साधारणतया विवाद न हो, तब उसके अस्तित्व को स्वीकार करने के लिए किसी विशेष साधन (तर्क-प्रमाण) की आवश्यकता नहीं होती।

जिस प्रकार चतुर्वर्ण(ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र)और चतुराश्रम(ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास) के सम्बन्ध में कोई विवाद नहीं है,सभी विद्वान् इन्हें समान रूप से स्वीकार करते हैं, उसी प्रकार चेतन(पुरुष)के अस्तित्व के सम्बन्ध में कोई विवाद न होने से उसे सिद्ध करने के लिए किन्हीं तर्कों, विशेष प्रमाणों की आवश्यकता नहीं है; किन्तु प्रकृति के सम्बन्ध में (अलग-अलग दार्शनिकों में) भिन्न-भिन्न मान्यता है। अतः उसे सिद्ध करने के लिए विभिन्न तर्कों-प्रमाणों की आवश्यकता पड़ती है॥ १३८॥

**( १३९ ) शरीरादिव्यतिरिक्तः पुमान्॥ १३९॥**

**सूत्रार्थ—** पुमान् = पुरुष, शरीरादिव्यतिरिक्तः = शरीर आदि से भिन्न है।

**व्याख्या—** चेतन पुरुष जगत् के सभी अचेतन तत्त्वों से पृथक् है। स्थूल शरीर से लेकर सूक्ष्म और अति सूक्ष्म प्रकृति तक जितना भी अचेतन जगत् है, उस सबसे पुमान् (पुरुष आत्मा) की स्थिति अलग है। मूलतः दो ही तत्त्व हैं- चेतन और अचेतन। सम्पूर्ण संसार अचेतन और जीवात्मा-परमात्मा चेतन है।

पुमान् शब्द सम्पूर्ण चेतन के लिए है। जीवात्मा अविवेक वश शरीर-इन्द्रिय तथा बाहरी अर्थों के प्रति अभेद मानता है, पर वस्तुतः वह इन सबसे अलग है। सर्वज्ञ ईश्वर के विषय में किसी प्रकार की भ्रान्ति हो ही नहीं सकती। वह तो प्रकृति आदि समस्त अचेतन संसार से स्वयमेव व्यतिरिक्त है॥ १३९॥

**( १४० ) संहतपरार्थत्वात्॥ १४०॥**

**सूत्रार्थ—** संहत = संघात, परार्थत्वात् =परार्थ के लिए होने से, भी यह सिद्ध होता है।

**व्याख्या—** यूँ तो प्रकारान्तर से यही सूत्र इसी अध्याय के ६६ वें क्रमाङ्क पर आ चुका है और वहाँ इसकी व्याख्या की जा चुकी है। प्रसङ्गवश यहाँ भी यह सूत्र आया है, अतः संक्षेप में व्याख्या की जा रही है। संघात रूप में विद्यमान जितने अचेतन तत्त्व समुदाय हैं, उनकी प्रवृत्ति परार्थ (दूसरे के लिए) होती है। वह 'पर' आखिर कौन है? वह संघात के विपरीत लक्षण वाला तथा संघात का भोक्ता, जीवात्मा है। यदि भोक्ता आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार न किया जाए, तो जगत् की सम्पूर्ण प्रवृत्ति निष्फल हो जायेगी। अस्तु, उसके अस्तित्व को मानना ही पड़ेगा। इस प्रकार भोग्य अचेतन (संघात) से भिन्न (विलक्षण) भोक्ता चेतन जीवात्मा के अस्तित्व की सिद्धि होती है॥ १४०॥

**( १४१ ) त्रिगुणादिविपर्ययात्॥ १४१॥**

**सूत्रार्थ—** त्रिगुणादि = त्रिगुण आदि के, विपर्ययात् = विपरीत होने के कारण यही मान्यता उपयुक्त है।

**व्याख्या—** सत्त्व, रज और तम- इन तीनों गुणों से युक्त सभी पदार्थ अचेतन अर्थात् जड़ हैं। जीवात्मा इन तीनों गुणों वाले पदार्थों से बिल्कुल भिन्न है और गुणों से रहित है। गुणों से युक्त जो भी पदार्थ हैं, वे सभी नश्वर हैं, पर जीवात्मा शाश्वत अर्थात् अमर है, इस कारण भी जीवात्मा को प्रकृति से भिन्न चेतन तत्त्व कहा गया है॥ १४१॥

**( १४२ ) अधिष्ठानाच्चेति॥ १४२॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, अधिष्ठानात् = शरीर का अधिष्ठाता होने से, इति = ऐसा ही मानना चाहिए।

**व्याख्या—** जिस प्रकार रथ का सवार रथ के गुणों से पृथक् होता है; किन्तु रथ से सम्बद्ध होने के कारण वह रथ का अधिष्ठाता माना जाता है, उसी प्रकार शरीर में रहने के कारण जीवात्मा उसका अधिष्ठाता माना जाता है; किन्तु शरीर के धर्मों से वह पृथक् होता है, उससे उसकी स्थिति में कोई अन्तर नहीं पड़ता। इस सूत्र में, शरीर में अधिष्ठान करने वाले के वर्णन से जीवात्मा के लिए संकेत है। परमात्मा तो सम्पूर्ण जगत् का अधिष्ठाता है। जीव शरीर का और ईश्वर विश्वभर का अधिष्ठाता है। दोनों ही चैतन्य हैं। अतः दोनों चैतन्यों का अस्तित्व इस सूत्र से स्पष्टतः सिद्ध होता है॥१४२॥

**( १४३ ) भोक्तृभावात्॥ १४३॥**

**सूत्रार्थ—** भोक्तृभावात् = भोक्ता होने से भी ऐसा मानना उचित ही है।

**व्याख्या**— संसार के जितने भी जड़ पदार्थ हैं,वे सब जीवात्मा के उपभोग के लिए ही हैं,उन सब पदार्थों का उपभोग करने के कारण जीवात्मा भोक्ता है। जड़ पदार्थों का उपभोग कोई जड़ नहीं,प्रत्युत चैतन्य ही कर सकता है और सांख्य दर्शन में चैतन्य को ही भोक्ता माना गया है। अस्तु,चैतन्य होने के कारण जीवात्मा ही भोक्ता है। इस प्रकार भोक्ता होने के कारण जीवात्मा की चैतन्यता सिद्ध होती है॥

**( १४४ ) कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च॥ १४४॥**

**सूत्रार्थ**— च = और, कैवल्यार्थम् = मुक्त होने के निमित्त, प्रवृत्तेः = प्रवृत्त होने के कारण (भी यह सिद्ध होता है)।

**व्याख्या**— कैवल्य (मोक्षप्राप्ति) की आकांक्षा जीवात्मा में ही देखी जाती है, वह उसको प्राप्त करने के लिए प्रयत्न भी करता है; क्योंकि मोक्ष ही परम पुरुषार्थ है। इस प्रकार स्पष्ट है कि मोक्ष प्राप्ति का प्रयत्न चैतन्य आत्मा द्वारा ही किया जाना सम्भव है, कोई जड़ पदार्थ मोक्ष प्राप्ति के लिए प्रवृत्त नहीं हो सकता। सुख-दुःखादि का अनुभव जड़ होने के कारण शरीर को नहीं हो सकता। शरीर द्वारा किये गये कर्म से उत्पन्न सुख-दुःख की अनुभूति, शरीर को नहीं जीवात्मा को ही होती है। इसी कारण वह (जीवात्मा) दुःख-सुख से मुक्ति पाने के लिए मोक्ष के निमित्त प्रयत्न करता है। इससे चैतन्य आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि होती है॥ १४४॥

**( १४५ ) जडप्रकाशायोगात् प्रकाशः॥ १४५॥**

**सूत्रार्थ**— जड = अचेतन का, प्रकाश = आत्मा से, अयोगात् = अयोग होने (मेल न होने) से, प्रकाशः = चेतन (स्वतः सिद्ध है)।

**व्याख्या**— अचेतन (जड़) पदार्थों का मेल (योग) चेतन पदार्थों से नहीं होता अर्थात् दोनों एक रूप नहीं हो पाते। अतः चेतन पृथक् दिखाई पड़ता है। शरीर में निवास करने वाला आत्मा शरीर से भिन्न होता है। इसी कारण मृत्यु हो जाने पर आत्मा (चेतन) शरीर से बाहर निष्क्रमण कर जाता है, उस समय शरीर मिट्टी के समान चेतना शून्य हुआ पड़ा रहता है, वह हिल-डुल-बोल और कुछ कर नहीं सकता। उस समय यह समझ लिया जाता है कि इस जड़ कलेवर से चैतन्य आत्मा बाहर चला गया है। इस प्रकार जड़ शरीर से पृथक् रूप वाला आत्मा बाहर चला गया है। इस प्रकार जड़ शरीर से पृथक् रूप वाले आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है॥ १४५॥

**( १४६ ) निर्गुणत्वान्न चिद्धर्मा॥ १४६॥**

**सूत्रार्थ**— निर्गुणत्वात् = निर्गुण होने से, चिद्धर्मा = चित् धर्म वाला, न = नहीं।

**व्याख्या**— सत्त्व, रज और तम- ये तीन गुण माने गये हैं। इन गुणों में धर्म और धर्मी भाव स्वीकार किया गया है, जहाँ कार्य-कारण भाव के आधार पर उन दोनों में भेद-अभेद बताया गया है। उस धर्म और धर्मी भाव को लक्षण और लक्षण वाला कह कर भी निरूपित किया गया है। जैसे सतोगुण का लक्षण सुख है, तो इस (सुख के) लक्षण वाले व्यक्ति को सुखी कहा जाएगा। उसी प्रकार आत्मा में कोई गुण न होने (निर्गुण होने) के कारण वह चेतन तो है; परन्तु चिद्धर्मा (चेतनता का आभास मात्र) नहीं है। अभिप्राय यह है कि उसमें यथार्थ चेतनता तो है, बाह्य (दिखावटी) चेतनता नहीं है॥ १४६॥

**( १४७ ) श्रुत्या सिद्धस्य नापलापस्तत्प्रत्यक्षबाधात्॥ १४७॥**

**सूत्रार्थ**— श्रुत्या = श्रुति से, सिद्धस्य = सिद्ध होने की, तत् = उसकी, प्रत्यक्षबाधात् = प्रत्यक्ष (स्पष्ट रूप से) बाधा होने के कारण, न = नहीं है, अपलापः = निन्दा।

**व्याख्या—** आत्मा गुणरहित (निर्गुण) है, यह तथ्य केवल कल्पना नहीं; अपितु श्रुति (शास्त्रीय) प्रमाण से भी सिद्ध है। बृहदा० (४.३.१५) में उल्लेख है- **'असङ्गो ह्यऽयं पुरुषः'** अर्थात् यह पुरुष संगरहित (निर्गुण) है, अथवा **'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च'**। (श्वेता० ६.११) अभिप्राय यह है कि यह आत्मा साक्षी, चैतन्य और केवल निर्गुण (गुण रहित) है। आत्मा के सन्दर्भ में धर्म और धर्मी भेद अर्थात् 'मैं हूँ' ऐसा भाव अविवेक के कारण होता है। इस आभास से आत्मा के गुणरहित अथवा चैतन्य होने के तथ्य का विरोध नहीं होता॥ १४७॥

**( १४८ ) सुषुप्त्याद्यसाक्षित्वम्॥ १४८॥**

**सूत्रार्थ—** सुषुप्ति आद्य = सुषुप्ति आदि अवस्थाओं का, साक्षित्वम् = आत्मा ही साक्षी है।

**व्याख्या—** सुषुप्ति आदि अवस्थाएँ विशेष अन्त:करण -बुद्धि (अन्त:करण चार माने गये हैं- मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार। इनमें यहाँ बुद्धि को ही लिया गया है) की वृत्तियाँ हैं। जीवात्मा इनका साक्षी अर्थात् देखने वाला है। कोई गम्भीर विषय जब (विचार हेतु) बुद्धि के पास पहुँचता है, तब बुद्धि स्वयं उसी आकार वाली अर्थात् उस विषय की गम्भीरता को समझने योग्य हो जाती है। यही बुद्धि की वृत्ति कहलाती है।

जब बुद्धि उस विषय को आत्मा के पास प्रेषित करती है, तब आत्मा को उस बाह्य विषय का अनुभव होता है, इसी अनुभव के कारण आत्मा को साक्षी कहा जाता है॥ १४८॥

**( १४९ ) जन्मादिव्यवस्थातः पुरुषबहुत्वम्॥ १४९॥**

**सूत्रार्थ—** जन्मादिव्यवस्थातः = जन्म-मरण आदि की व्यवस्था होने के कारण, पुरुषबहुत्वम् = पुरुष (जीवात्मा) का बहुत्व (बहुत होना) सिद्ध है।

**व्याख्या—** सांख्य सिद्धान्त के अनुसार जीवात्मा को एक नहीं, अनेक माना गया है। प्रकृति द्वारा जीवों के जन्म-मरण की व्यवस्था के कारण यह बहुत्व स्पष्ट होता है। एक जीव जन्म धारण करता है, दूसरा मृत्यु को प्राप्त होता है, तीसरा दु:ख भोग करता, चौथा-सुखभोग करता है। इसी प्रकार कोई मनुष्य है, तो कोई पशु है आदि। इस प्रकार विभिन्न रूपों में आत्मा की स्थिति का दर्शन होता है। यदि आत्मा (पुरुष) एक रूप होता और उसमें यह वैविध्य न होता, तो सब एक साथ जन्मते, एक साथ मरते, एक साथ दु:ख और एक साथ ही सुख का उपभोग करते। तब पशुयोनि, मनुष्य योनि का प्रश्न ही नहीं होता, सभी एक ही योनि में होते; किन्तु ऐसा नहीं है। अस्तु: जन्म-मरण की व्यवस्था के कारण आत्मा (पुरुष) का बहुत्व सिद्ध होता है॥ १४९॥

**यद्यपि यह सत्य है कि जन्म-मरण शरीर का होता है, आत्मा नित्य, शाश्वत और अविनाशी है। उसका जन्म-मरण नहीं हो सकता, तथापि आत्मा के स्थूल शरीर के सम्पर्क में आने को जन्म और स्थूल शरीर से पृथक् हो जाने को मरण कहा जाता है। उपर्युक्त सूत्र में जन्म-मरण की व्यवस्था के कारण पुरुष (आत्मा) का बहुत्व सिद्ध किया गया है, यह ठीक है, पर जन्म-मरण आत्मा का ही माना जाये, तो भी उसमें बहुत्व के सिद्धान्त पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा; वरन् वह सिद्धान्त पुष्ट ही होगा, तब (ऐसा मानने पर) प्रत्येक नये शरीर के साथ नया आत्मा भी होगा- इसी शंका का समाधान सूत्रकार ने अगले सूत्र में किया है—**

**( १५० ) उपाधिभेदेऽप्येकस्य नानायोग आकाशस्येव घटादिभिः॥ १५०॥**

**सूत्रार्थ—** उपाधिभेदे = शरीर आदि का भेद होने पर, एकस्य अपि = एक (आत्मा) का भी, नानायोगः = अनेक शरीरों से सम्बन्ध होता है, इव = जैसे, आकाशस्य घटादिभिः = आकाश का घट आदि से (सम्बन्ध होता है)।

**व्याख्या**— इस सूत्र में घट (घड़े) और आकाश के उदाहरण द्वारा शरीरों के बहुत्व और आत्मा के एकत्व को स्पष्ट किया गया है। जिस प्रकार एक घड़ा टूट जाता है, तो दूसरा उसके स्थान पर आ जाता है; किन्तु उसमें (टूटे हुए घड़े में) स्थित आकाश नष्ट नहीं होता, नये घड़े में भी वह आकाश यथावत् रहता है। घट परिवर्तित होते रहते हैं; किन्तु आकाश नहीं बदलता, उसी प्रकार आत्मा (पुरुष) का सम्बन्ध विभिन्न शरीरों से रहता है, मृत्यु उपरान्त शरीर नष्ट हो जाते हैं; किन्तु आत्मा नष्ट नहीं होता। वह पुनः-पुनः जन्म लेने वाले नये शरीरों में प्रविष्ट होता रहता है। इस प्रकार शरीर बदल जाते हैं, पर आत्मा में कोई परिवर्तन नहीं होता। वह कभी न तो घटता है, न बढ़ता है, न कटता है, न फटता है और न ही कभी नया-पुराना ही होता है॥ १५०॥

**(१५१) उपाधिर्भिद्यते नतु तद्वान्॥ १५१॥**

**सूत्रार्थ**— उपाधिर्भिद्यते = शरीर, अन्तःकरण आदि में भिन्नता होती है, तु = किन्तु, तद्वान् = उस आत्मा में, न = भिन्नता नहीं होती।

**व्याख्या**— शरीर विभिन्न रूपों वाले होते हैं; किन्तु उन शरीरों का धारक आत्मा सदैव एक रूप रहता है। शरीर नश्वर है, इसी कारण वह जन्म और मृत्यु को प्राप्त होता है; किन्तु आत्मा नित्य है, इसलिए वह कभी नहीं मरता। विभिन्न शरीरों के बदलते रहने पर भी आत्मा उनमें सतत एक ही रहता है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि मरण के समय केवल शरीर ही विनष्ट होता है, आत्मा कभी नहीं॥ १५१॥

**(१५२) एवमेकत्वेन परिवर्त्तमानस्य न विरुद्धधर्माध्यासः॥ १५२॥**

**सूत्रार्थ**— एवम् = इस प्रकार, एकत्वेन = आत्मा के एक रूप होने से, परिवर्त्तमानस्य = परिवर्तित (घटित) होने वाले कार्य (व्यवहार) के उचित होने (स्वीकार करने) पर भी, विरुद्धधर्माध्यासः = विरुद्ध धर्मों का आभास (प्रतीति), न = नहीं होता।

**व्याख्या**— यदि परिवर्तित होते रहने वाले शरीर धर्म से आत्मा की संगति बिठाई जाए, तो भी आत्मा के जन्म-मरण की बात सिद्ध नहीं होती; क्योंकि आत्मा एक देशीय नहीं है और शरीर एक देशीय है। दूसरी बात यह है कि आत्मा चैतन्य है, चैतन्यतत्त्व अविनाशी होता है, जिससे उसका विनाश सम्भव नहीं है। जन्म-मरण तो जड़ और परिच्छिन्न पदार्थों अर्थात् शरीर आदि का ही हो सकता है॥ १५२॥

**(१५३) अन्यधर्मत्वेऽपि नारोपात्तत्सिद्धिरेकत्वात्॥ १५३॥**

**सूत्रार्थ**— अन्यधर्मत्वे = अन्य (अन्तःकरण आदि) का धर्म होने पर, अपि = भी, एकत्वात् = एक होने (आत्मा के होने) के कारण, आरोपात् = आरोप से, तत्सिद्धिः = उस अवस्था (व्यवस्था) की सिद्धि, न = नहीं हो सकती।

**व्याख्या**— सुख-दुःखादि जो अन्य (मन आदि) के धर्म हैं, उन्हें आत्मा में आरोपित कर लें और इन्हें आत्मा का धर्म मान लें, तो भी उस आरोप से उचित व्यवस्था की सिद्धि नहीं हो सकती, कारण यह है कि एक तो सुख-दुःखादि इन्द्रिय धर्म चैतन्य में नहीं हो सकते, दूसरे आत्मा एक होने की स्थिति में वह एक ही समय में सुखी-दुःखी, बद्ध और मुक्त नहीं हो सकता।

वास्तविकता यह है कि एक ही आत्मा जन्मान्तर भेद से अनेक देहों में भ्रमण करता रहता है, वह कभी नहीं मरता। यदि प्रत्येक जन्म में भिन्न-भिन्न आत्मा होता, तो उसे भी जन्मने और मरने के धर्मवाला माना जाता, ऐसी स्थिति में आत्मा के सम्बन्ध में कही जाने वाली 'अजर, अमर, अविनाशी' उक्ति का श्रुति से विरोध माना जाता॥ १५३॥

**( १५४ ) नाद्वैतश्रुतिविरोधो जातिपरत्वात्॥ १५४॥**

**सूत्रार्थ—** जातिपरत्वात् = जाति परक होने के कारण, अद्वैतश्रुतिविरोध: = अद्वैत का प्रतिपादन करने वाली श्रुति के साथ विरोध, न = नहीं होगा।

**व्याख्या—** यदि आत्मा को अनेक मानें, तो अद्वैत तत्त्व का प्रतिपादन करने वाली श्रुतियों 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' आदि से भी विरोध नहीं होता। कारण यह है कि आत्मा की एकता का प्रतिपादन, उसकी समान चेतन रूपता का प्रतिपादन है। आत्मा चाहे जीवात्मा है या परमात्मा उनकी चेतनारूपता एक समान है। आत्मा परमात्मा की यही सजातीयता है। अत: किसी प्रकरण में भी अद्वैत की प्रतिपादक श्रुतियों से विरोध नहीं होता॥ १५४॥

**( १५५ ) विदितबन्धकारणस्य दृष्ट्या तद्रूपम्॥ १५५॥**

**सूत्रार्थ—** विदितबन्धकारणस्य = बन्धन के कारण का ज्ञान प्राप्त कर लेने वाले की, दृष्ट्या = दृष्टि से, तद्रूपम् = वह उसी रूप को प्राप्त हो जाता है।

**व्याख्या—** जो साधक आत्मज्ञान प्राप्त करके बन्धन के कारण का ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं, उनसे अन्य व्यक्ति वह ज्ञान पाकर अर्थात् स्वयं ज्ञानी होकर अन्तत: आत्मरूप को प्राप्त कर लेते हैं। इस सूत्र का एक अर्थ यह भी निकलता है कि साधक, जीवात्मा को बन्धन में डालने वाले सभी कारणों को जानकर आत्म साक्षात्कार कर लेता है अर्थात् आत्मा के स्वरूप को जान लेता है॥ १५५॥

**( १५६ ) नान्धादृष्ट्या चक्षुष्मतामनुपलम्भ:॥ १५६॥**

**सूत्रार्थ—** अन्ध अदृष्ट्या = अन्धे व्यक्ति द्वारा दिखाई न पड़ने से, चक्षुष्मताम् = नेत्र वालों का, अनुपलम्भ: = न देखा जाना, न = सिद्ध नहीं होता।

**व्याख्या—** किसी अन्धे व्यक्ति को कोई वस्तु दिखाई न दे, तो इससे यह नहीं माना जा सकता कि आँखों वाले व्यक्ति को भी दिखाई नहीं पड़ता। इसी प्रकार विषयरत मनुष्य आत्माओं की समान चेतनता को न जान पायें, तो इससे यह सिद्ध नहीं होता कि तत्त्वज्ञानी पुरुष भी आत्मा-परमात्मा के समान चेतनता को नहीं जानते।

फलत: आत्माओं की समान चेतनता के वर्णन की भावना से ही वेद में जहाँ-तहाँ आत्मा की एकता का उल्लेख है। वस्तुत: आत्मा अनेक हैं- यही तथ्य प्रमाण सिद्ध है॥१५६॥

**( १५७ ) वामदेवादिर्मुक्तो नाद्वैतम्॥ १५७॥**

**सूत्रार्थ—** वामदेवादि: = वामदेव आदि ऋषि, मुक्त: = मोक्ष को प्राप्त हुए, अस्तु; अद्वैतम् = एक आत्मा का ही होना (अर्थात् दूसरी आत्मा नहीं है, ऐसा), न = सिद्ध नहीं होता।

**व्याख्या—** वामदेव आदि ऋषियों के मुक्त होने की बात निश्चित ही है। यदि सम्पूर्ण विश्व की एक ही आत्मा होती, तो कोई बन्धन युक्त न रहता, मुक्त होने वालों के साथ सभी एक साथ मुक्त हो गये होते। यदि ऐसा होता तो संसार का वर्तमान सृष्टिक्रम भी दिखाई न पड़ता। एक आत्मा के मोक्ष के साथ सम्पूर्ण संसार समाप्त हो जाता; किन्तु सम्पूर्ण संसार चक्र चल रहा है। इससे स्पष्ट होता है कि आत्मा एक ही नहीं, वरन् अनेक हैं। ब्रह्म और जीवात्माएँ पृथक्-पृथक् हैं॥ १५७॥

**( १५८ ) अनादावद्ययावदभावाद्भविष्यदप्येवम्॥ १५८॥**

**सूत्रार्थ—** अनादौ = अनादि काल से, अद्ययावत् = आज तक, अभावात् = अभाव होने से, भविष्यत् अपि = भविष्य में भी, एवम् = इसी प्रकार होगा।

**व्याख्या**— अनादि काल से अद्यावधि जो कार्य नहीं हुआ, वह भविष्य में कैसे हो सकता है? अनेक मुक्त होते जा रहे व्यक्तियों के मुक्त रहने पर भी सम्पूर्ण संसार अभी तक रिक्त नहीं हुआ है, तो आगे भी कैसे खाली होगा? कारण यह है कि मुक्त होने के बाद भी प्रयोजन विशेष के लिए जीवों की संसार में फिर लौटने की व्यवस्था है। अस्तु; स्पष्ट है कि संसार से जीवात्माओं का पूर्णरूपेण अन्त कभी न होगा; क्योंकि सृष्टि विधान ही इस तरह का नहीं है॥ १५८॥

**( १५९ ) इदानीमिव सर्वत्र नात्यन्तोच्छेदः॥ १५९॥**

**सूत्रार्थ**— इदानीम् इव = वर्तमान समय की तरह, सर्वत्र = समस्त काल में अर्थात् सदैव, अत्यन्तोच्छेदः = अत्यन्त उच्छेद (विनाश), न = नहीं होता।

**व्याख्या**— जिस प्रकार अद्यावधि (आज तक) रहा है, उसी प्रकार किसी भी समय इस जगत् का अत्यन्त (सम्पूर्ण) विनाश कभी नहीं होता। यही तथ्य मुक्त पुरुषों के सन्दर्भ में भी समझा जा सकता है, तब इसका अर्थ यह निकलेगा कि मुक्त होना आत्मा का स्वभाव नहीं है, वरन् यह एक अवस्था विशेष मात्र है, जो कि एक निश्चित समय तक ही होती है। उस स्थिति की अवधि समाप्त हो जाने पर आत्मा को पुनः इस (मर्त्य) लोक में आना होता है। इस प्रकार जिसका आदि और अन्त नहीं है, ऐसी आत्मा संसार के प्रवाह में प्रवहमान रहती है॥ १५९॥

**( १६० ) व्यावृत्तोभयरूपः॥ १६०॥**

**सूत्रार्थ**— उभयरूपः = दोनों रूपों से, व्यावृत्त = हटा हुआ (निवृत्त) है।

**व्याख्या**— संसार का लीन हो जाना अथवा वर्तमान रूप में सतत बने रहना, इन दोनों रूपों से ही वह (संसार) निवृत्त (हटा हुआ) है; क्योंकि संसार न तो कभी सदा के लिए लीन होता है और न ही सदा एक ही रूप में बना रहता है, वरन् वह परिवर्तनशील रहता है। इसीलिए उसे दोनों ही स्थितियों से निवृत्त (हटा हुआ) बताया गया है। कुछ विद्वानों ने दोनों रूपों से निवृत्त होने की स्थिति ईश्वर की मानी है, उनके अनुसार इस सूत्र का भावार्थ यह हुआ कि संसार में लीन होने और सदा वर्तमान रूप में बने रहने इन दोनों स्थितियों से ईश्वर निवृत्त है। उससे भिन्न अनेक रूप वाली जीवात्माएँ हैं, जिनसे संसार कभी रिक्त नहीं रहता। इसमें आवागमन का चक्र निरन्तर चलता ही रहता है॥ १६०॥

**( १६१ ) साक्षात्सम्बन्धात्साक्षित्वम्॥ १६१॥**

**सूत्रार्थ**— साक्षात्-सम्बन्धात् =साक्षात् सम्बन्ध होने से ही (जीवात्मा का), साक्षित्वम् = साक्षित्व है।

**व्याख्या**- चूँकि मन, बुद्धि आदि इन्द्रियों से जीवात्मा का सीधा (साक्षात्) सम्बन्ध होता है, इसी कारण जीवात्मा को 'साक्षी' कहा जाता है। स्वभावतः आत्मा को साक्षी नहीं माना जाता; किन्तु बुद्धि आदि से आत्मा का सम्बन्ध अविवेक के कारण होता है।

जब ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है, तब अज्ञान (अविवेक) दूर हो जाता है। ज्ञान प्राप्ति के पश्चात् आत्मा का साक्षित्व मोक्ष में बाधक नहीं बनता॥ १६१॥

**( १६२ ) नित्यमुक्तत्वम्॥ १६२॥**

**सूत्रार्थ**— नित्य = नित्य अर्थात् कभी नष्ट न होने वाले का, मुक्तत्वम् = मुक्त होना प्रमाणित है।

**व्याख्या**— आत्मा नित्य है, कभी नष्ट न होना उसका स्वभाव है। वह चैतन्य और निर्गुण भी है। जो ऐसे लक्षणों से युक्त है, वही मुक्त हो सकता है। जो जड़ है, वही नाशवान् होता है, उसे सुख-दुःख का

अनुभव नहीं होता, वह मुक्त कैसे हो सकता है? जड़ पदार्थ विनष्ट होकर समाप्त हो जाते हैं; किन्तु आत्मा देह का परित्याग कर पुनः जन्म धारण करती है अथवा मुक्ति को प्राप्त हो जाती है॥ १६२॥

**( १६३ ) औदासीन्यं चेति॥ १६३॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, इति = इस प्रकार, औदासीन्यम् = उदासीन होना (आत्मा का स्वभाव अथवा धर्म है।)

**व्याख्या—** उदासीन होने का अर्थ कर्म को न करना है। पिछले सूत्रों में परिणामी और अपरिणामी का भेद स्पष्ट कर चुके हैं, तो भी प्रसंगवश बताया जा रहा है कि संसार के सभी जड़ पदार्थ परिणामी हैं; क्योंकि वे परिणाम उत्पन्न करने वाले हैं तथा चेतन तत्त्व अपरिणामी है, जो कोई परिणाम उत्पन्न नहीं करता। इसीलिए अपरिणामी चेतन तत्त्व को अकर्त्ता भी कहते हैं। इसीलिए कर्म से विरत रहना, उदासीन रहना अपरिणामी जीवात्मा का धर्म है। जितने भी अपरिणामी (अपरिवर्तनशील) तत्त्व हैं, वे शाश्वत हैं-नाशवान् नहीं हैं। इससे आत्मा का अमर होना सिद्ध है॥ १६३॥

**( १६४ ) उपरागात्कर्तृत्वं चित्सान्निध्याच्चित्सान्निध्यात्॥ १६४॥**

**सूत्रार्थ—** चित्सान्निध्यात् = चैतन्य का संयोग होने से, उपरागात् = बुद्धि आदि इन्द्रियों में उपराग होने से, कर्त्तृत्वम् = कर्त्तृत्व है।

**व्याख्या—** जब जीवात्मा बुद्धि आदि इन्द्रियों के सम्पर्क में आता है, तो विषय भोगों को अपना कर्त्तव्य मानने की भूल करता है; किन्तु आत्मा का विषयों के साथ यह संयोग अविवेकवश होता है, इसी कारण आत्मा को कर्त्ता मान लिया जाता है; क्योंकि इन्द्रियाँ तो अचेतन हैं, वे स्वतः तो कार्य कर नहीं सकतीं। अस्तु; आत्मा की चित्शक्ति से संयुक्त होने के कारण ही वे (इन्द्रियाँ) कार्य करने में समर्थ होती हैं! इस प्रकार जीवात्मा का कर्त्तृत्व सिद्ध है। सूत्र में 'चित्सानिध्यात्' का दुबारा प्रयोग अध्याय समाप्ति का सूचक है॥ १६४॥

## ॥ इति प्रथमोऽध्यायः ॥



## ॥ अथ द्वितायाऽध्याय: ॥

**द्वितीय अध्याय के अन्तर्गत प्रकृति द्वारा सम्पन्न होने वाली सृष्टिप्रक्रिया का विस्तृत वर्णन किया गया है—**

**( १६५ ) विमुक्तमोक्षार्थं स्वार्थं वा प्रधानस्य॥ १ ॥**

**सूत्रार्थ—** विमुक्त = आत्मा के , मोक्षार्थम् = मोक्ष प्राप्ति के लिये, वा = और, स्वार्थम् = भोग प्राप्ति के लिए, प्रधानस्य = प्रधान (प्रकृति) की प्रवृत्ति कही गयी है।

**व्याख्या—** यहाँ पर विमुक्त पद आत्मा के लिए प्रयुक्त किया गया है। प्रकृति के सान्निध्य में रहते हुए भी आत्मा उससे बिल्कुल पृथक् है। इसी कारण उसे 'विमुक्त' कहा गया है। प्रकृति के सान्निध्य से ही उसका विवेक नष्ट हो जाता है तथा वह अपने चैतन्य स्वरूप को विस्मृत कर स्वयं को अचेतन स्वीकार करने लगता है, उसका अज्ञान दूर करने एवं मोक्ष प्राप्ति हेतु प्रधान (प्रकृति) की प्रवृत्ति होती है। वैसे ही आत्मा के लिए भोग पदार्थों की प्राप्ति हेतु प्रकृति की प्रवृत्ति कही गई है। इससे यह प्रकट होता है कि मोक्ष और भोग दोनों को ही प्राप्त करने में प्रकृति की प्रवृत्ति अति आवश्यक है। उसके अभाव में कोई भी कार्य पूर्ण नहीं हो सकता। सूत्र में 'वा' शब्द 'च' के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है॥ १ ॥

**( १६६ ) विरक्तस्य तत्सिद्धेः॥ २ ॥**

**सूत्रार्थ—** विरक्तस्य = विरक्त को ही, तत् = उस (मोक्ष) की, सिद्धेः = सिद्धि हो सकती है।

**व्याख्या—** रागादि विषयों का भोग भोगते रहने से मोक्ष प्राप्ति कभी भी संभव नहीं है। जब ऐहिक भोगों की व्यर्थता का ज्ञान हो जाये तथा उन भोगों को छोड़कर आत्मा पवित्र चित्त एवं वैराग्य युक्त हो जाये, तभी मोक्ष हेतु प्रयास करने के पश्चात् उसे प्राप्त कर सकते हैं। इसलिए विरक्त को मोक्ष-सिद्धि मिलने से उस अवस्था को पाने के लिए बारम्बार सृष्टि का प्रादुर्भाव होता है; क्योंकि सृष्टि के प्रकट होने पर ही भोग एवं मोक्ष दोनों को प्राप्त किया जा सकता है॥ २ ॥

**( १६७ ) न श्रवणमात्रात्तत्सिद्धिरनादिवासनाया बलवत्त्वात्॥ ३ ॥**

**सूत्रार्थ**—श्रवणमात्रात् = केवल सुन लेने से ही, अनादिवासनाया: = अनादि वासना के, बलवत्त्वात् = बलवान् होने के कारण, तत्सिद्धिः = वैराग्य की सिद्धि, न = नहीं हो सकती।

**व्याख्या—** सर्वप्रथम तो आत्मज्ञान से सम्बन्धित प्रवचनों का श्रवण करना ही कई जन्मों के संचित पुण्य कर्मों से मिलता है; किन्तु मात्र ऐसे प्रवचनों के सुनने से अनायास ही वैराग्य का भाव जाग्रत् नहीं होता; क्योंकि आत्मा अनादिकाल से ऐहिक भोगों में संलिप्त है। वे वासनाएँ अत्यधिक बलवती होती हैं, जो वैराग्य के उद्भव में बाधक बनती हैं। इसी कारण आत्मिक उत्थान हेतु कथा-वार्ताओं के केवल सुनने से ही वैराग्य की सिद्धि नहीं होती। उसमें सदैव अभ्यास एवं भावनाओं की शुद्धता के लिए प्रयत्नशील होना पड़ता है। तब यह सब एक बार ही सर्ग रचना से किस प्रकार संभव हो सकता है? अत: यह सर्ग-प्रवाह अनादि व अन्तरहित कहा गया है। काल की दृष्टि से इसकी कोई सीमा सम्भव नहीं॥ ३ ॥

**( १६८ ) बहुभृत्यवद्वा प्रत्येकम्॥ ४॥**

**सूत्रार्थ—**वा = और , बहुभृत्यवत् = अधिक कुटुम्बियों के समान, प्रत्येकम् = जैसे हर एक का पालन करने की प्रवृत्ति होती है, वैसे ही पुन:पुन: सृष्टि-रचना चलती रहती है।

**व्याख्या—** सूत्र में 'वा' पद 'च' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। जिस प्रकार एक बड़े परिवार-कुटुम्ब में बहुत से प्राणी रहते हैं और उनके भरण-पोषण का दायित्व एक व्यक्ति पर होता है, तो उसके अनुरूप उसे व्यवस्था बनानी पड़ती है। निर्वाह करने की दृष्टि से जितने ज्यादा व्यक्ति होंगे, उतने ही

साधन-सुविधाओं की आवश्यकता होगी और प्रतिक्षण भोजन बनाने आदि के कार्य करने पड़ेंगे। उसी प्रकार प्रकृति द्वारा जिनका भरण-पोषण करना है, वे जीवात्मायें भी अनन्त हैं। अत: उन समस्त आत्माओं के पोषण का कार्यकाल भी अनन्त ही होगा। इस प्रकार सृष्टि प्रवाह अनन्त है॥ ४॥

**( १६९ ) प्रकृतिवास्तवे च पुरुषस्याध्याससिद्धिः॥ ५॥**

**सूत्रार्थ**— प्रकृतिवास्तवे = प्रकृति के वास्तविक होने में, च = ही , पुरुषस्य = पुरुष के, अध्याससिद्धिः = अध्यास की सिद्धि होती है।

**व्याख्या**— यहाँ पर इस सूत्र में 'च' पद अवधारण (निश्चयात्मक) के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। प्रकृति को यथार्थ रूप में मान लेने पर ही पुरुष के अध्यास की सिद्धि हो सकती है। चेतन अपरिणामी आत्मा अज्ञानता के कारण प्रकृति के सान्निध्य में आकर अध्यास की स्थिति का आभास कराता है। अध्यास का अर्थ है एक वस्तु का दूसरे में आरोपित होना अर्थात् चेतन में अचेतन और अचेतन में चेतन की प्रतीति ही अध्यास है। सृष्टि के प्रादुर्भाव का कार्य वास्तव में प्रकृति का है; किन्तु प्रकृति से पुरुष का सम्बन्ध होने से ही यह कहा जाता है कि सृष्टि रचना पुरुष (ईश्वर) ने की है। जिस प्रकार युद्ध में सैनिक पराजित होते हैं, तो राजा की पराजय कही जाती है और यदि सैनिक जीतते हैं, तो राजा की जीत कही जाती है। इससे यही सिद्ध होता है कि प्रकृति द्वारा ही सृष्टि रचना सम्पन्न की जाती है॥ ५॥

**( १७० ) कार्यतस्तत्सिद्धेः॥ ६॥**

**सूत्रार्थ** — कार्यत: = प्रकृति के कार्य से, तत्सिद्धे: = उस (भोग-अपवर्ग) की सिद्धि होती है।

**व्याख्या**— प्रकृति के जो महदादि कार्य हैं, उनके कार्यरूप में परिणत होने पर जीवात्मा के भोग एवं अपवर्ग (मोक्ष) की प्राप्ति (सिद्धि) कराती है। इसी से प्रकृति की यथार्थता एवं गुणवत्ता स्पष्ट होती है। यदि प्रकृति जीवात्मा के भोग एवं मोक्ष को पूर्ण नहीं करती, तो उसके कार्यरूप में बदलने का अन्य दूसरा उद्देश्य सिद्ध नहीं होता। जब प्रकृति कार्यरूप में परिणत हो रही है, तब यह आवश्यक है कि वह जीवात्मा के भोग एवं मोक्ष (अपवर्ग) को पूर्ण करे। जब यह निर्णय हो जाये कि प्रकृति जीवात्मा के भोग एवं मोक्ष के लिए है, तब उसकी यथार्थता से इनकार नहीं किया जा सकता है॥ ६॥

**( १७१ ) चेतनोद्देशान्नियमः कंटकमोक्षवत्॥ ७॥**

**सूत्रार्थ**— चेतनोद्देशात् = चेतन की प्रेरणा से (प्रधान प्रवृत्ति के कारण), कण्टकमोक्षवत् = काँटे से बचाव की भाँति, नियम: = व्यवस्था है।

**व्याख्या**— जिस प्रकार कोई नेत्रहीन व्यक्ति काँटों वाले मार्ग पर जा रहा हो, तो उससे कहा जाता है कि इधर से अलग हटकर दूसरी तरफ चलो, यहाँ आगे काँटा है,इससे तुम्हें कष्ट होगा। इससे वह बचकर निकल जाता है, उसे काँटा नहीं लगता; लेकिन जो लोग नेत्रेन्द्रिय दोषरहित हैं, उनके लिए यह समझाने की जरूरत नहीं होती कि तुम इधर से हटकर निकलो। वह तो साधन सम्पन्न होने से स्वत: ही उससे बच जाता है। उसी प्रकार चेतन पुरुष की प्रेरणा से प्रधान प्रकृति आत्माओं के लिए भोग या अपवर्ग प्राप्त कराने के कार्यों की रचना करती है। इसीलिए प्रकृति किसी के लिए भोग एवं किसी के लिए मोक्ष के साधन उपस्थित करती है। इस प्रकार जो अज्ञानी हैं, उनके लिए भोग है और जो ज्ञानवान् हैं, उनके लिए मोक्ष है। विवेकी इस जगत् से स्वयं बचा रहता है, उसके लिए भोग प्रदान करना निरर्थक होगा। अत: ज्ञानी पुरुष की प्रेरणा द्वारा अज्ञानी पुरुष ज्ञान प्राप्त करके अपवर्ग (मोक्ष) के लिए निरन्तर प्रयासरत रहता है॥ ७॥

**( १७२ ) अन्ययोगेऽपि तत्सिद्धिर्नाञ्जस्येनायोदाहवत्॥ ८॥**

**सूत्रार्थ**— अन्ययोगे = अन्य (ईश्वर) का सहयोग होने पर, अपि = भी, आञ्जस्येन = प्रत्यक्ष रूप से, अयोदाहवत् = लोहे से जले हुए के समान, तत्सिद्धिः = उस (भोग मोक्ष) की सिद्धि, न = नहीं है।

**व्याख्या**— अन्य (ईश्वर) का सहयोग अर्थात् सर्ग रचना में प्रकृति के साथ प्रेरणा रूप में ईश्वर का सहयोग होते हुए भी प्रत्यक्ष रूप से भोग एवं मोक्ष की सिद्धि नहीं प्राप्त होती है; क्योंकि प्रेरणारूप ईश्वर स्वयमेव परिणत होकर सृष्टि रचना अर्थात् जगत् रूप हो जाये, ऐसा नहीं है। भोग एवं मोक्ष की प्रत्यक्ष सिद्धि तो उसी से हो जाती है, जो संसार रूप में प्रतिष्ठित है। जिस प्रकार अग्नि से तप्त लौहखण्ड जलाने में समर्थ है; किन्तु उस (लौहखण्ड) में गर्मी अग्नि की ही होती है और कहा यह जाता है कि अमुक व्यक्ति तप्त लौहखण्ड से जल गया। उसी प्रकार ईश्वर का आधार प्रकृति है। यद्यपि ईश्वर स्वयं संसार रूप में नहीं होता, वरन् वह जगत् का नियन्ता मात्र है। प्रकृति के साथ सहयोग होने पर भी वास्तविक रूप से ईश्वर द्वारा भोग एवं मोक्ष के साधन प्राप्त नहीं हो सकते, ये कार्य तो मात्र प्रकृति के ही हैं, ईश्वर के नहीं॥ ८॥

**( १७३ ) रागविरागयोर्योगः सृष्टिः॥ ९॥**

**सूत्रार्थ**— रागविरागयोः = राग अर्थात् अचेतन (प्रकृति) के साथ विराग अर्थात् चेतन (ईश्वर) का , योगः = सम्बन्ध (प्रेरणात्मक) संयोग ही, सृष्टिः = सृष्टि रचना है।

**व्याख्या**— सृष्टि रचना में ईश्वर की आवश्यकता अनिवार्य है। राग (अचेतन) के साथ विराग (चेतन) का योग (मिलन) ही सृष्टि है। जब प्रकृति अपनी कारणरूप अवस्था से परिणत होकर कार्यरूप में आती है अर्थात् प्रलय काल में विलीन हुई सृष्टि जब संसाररूप में प्रादुर्भूत होती है, तब उस अवस्था को सृष्टि का प्रादुर्भूत होना कहा जाता है; किन्तु यह तभी संभव है, जब राग के साथ विराग का मिलन हो जाता है। यहाँ सूत्र में 'राग' पद अचेतन प्रकृति का उपलक्षण है, जो तीनों गुणों से अतीत है। 'राग' प्रकृति का और 'विराग' पुरुष (ईश्वर) का उपलक्षण है। इन दोनों के संयोग से ही सृष्टि का प्रादुर्भाव होता है॥ ९॥

**( १७४ ) महदादिक्रमेण पञ्चभूतानाम्॥ १०॥**

**सूत्रार्थ**— महदादिक्रमेण = महत्तत्त्व आदि के क्रम से, पञ्चभूतानाम् = पञ्चभूतों की (उत्पत्ति)।

**व्याख्या**— इस जगत् में पञ्चभूतों की स्थूल रूप में प्रसिद्धि है। इनकी उत्पत्ति महदादि क्रम से पञ्चभूत अर्थात् पृथ्वी, आकाश, वायु, अग्नि एवं जल की हुई है। इनका विस्तृत वर्णन सृष्टि क्रम के अन्तर्गत प्रथम अध्याय के २६ से ३८ तक के सूत्रों में किया जा चुका है। प्रकृति का आदिम कार्य महत्तत्त्व है। उससे ही अहंकार एवं अहंकार से इन्द्रियों का उद्भव कहा गया है। अहंकार के दो भेद हैं, उनमें इन्द्रियों का उद्भव सात्त्विक अहंकार से और पञ्चतन्मात्राओं का उद्भव तामस अहंकार से होता है। सात्त्विक अहंकार से पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ (त्वक्, श्रोत्र, चक्षु, रसना एवं घ्राण), पाँच कर्मेन्द्रियाँ (हस्त, पाद, पायु, उपस्थ एवं वाणी) और एक आन्तर इन्द्रिय 'मन', सब मिलकर एकादश इन्द्रियाँ प्रादुर्भूत होती हैं। तामस अहंकार से पाँच तन्मात्राएँ (सूक्ष्मभूत), इसके पश्चात् सूक्ष्मभूतों से आकाशादि स्थूलभूतों का उद्भव होता है। इस प्रकार से सांख्य में महत्तत्त्वादि क्रम से आकाशादि पञ्चभूतों के उद्भव का वर्णन किया गया है॥ १०॥

**( १७५ ) आत्मार्थत्वात्सृष्टेर्नैषामात्मार्थ आरम्भः॥ ११॥**

**सूत्रार्थ**— सृष्टेः = सृष्टि के, आत्मार्थत्वात् = आत्मा के लिए होने से, एषाम् = इन (महत्तत्त्वादि) का, आत्मार्थः = अपने स्वयं के लिए, आरम्भः = प्रादुर्भूत, न = नहीं हैं।

**व्याख्या**— सृष्टि के सम्पूर्ण पदार्थ आत्मा के लिए भोगरूप हैं। इसी कारण इन महत्तत्त्वादि की उत्पत्ति किसी अपने स्वयं के प्रयोजनार्थ नहीं होती है। महत्तत्त्वादि रूप से अचेतन का परिणाम, किसी

दूसरे अन्य अचेतन के प्रयोजन को पूर्ण करने के लिए नहीं है। अचेतन के किसी प्रयोजन की संभावना भी नहीं है। यहाँ पर ये सभी दृश्य एवं अदृश्य अचेतन पदार्थ एक मात्र चेतन के प्रयोजन को ही पूर्ण करते हैं; क्योंकि कोई भी अचेतन पदार्थ अन्य किसी तरह के भोग में सक्षम नहीं है। अत: महत्तत्त्वादि रूप में इनका पूर्णता का अपना कोई उद्देश्य होगा, ऐसा कदापि न सोचना चाहिए॥ ११ ॥

**( १७६ ) दिक्कालावाकाशादिभ्य: ॥ १२ ॥**

**सूत्रार्थ**— दिक्कालौ = दिशा एवं काल, आकाशादिभ्य: = आकाशादि से (प्रादुर्भूत हैं)।

**व्याख्या**— दिशाएँ एवं काल (इन दोनों) की उत्पत्ति आकाश से हुई है, इस कारण ये दोनों भी आकाश की भाँति सर्वत्र व्याप्त हैं। आकाश का तात्पर्य स्थान या अवकाश का स्थल है। पूर्वादि चारों दिशाएँ किसी भी स्थल में होती हैं; क्योंकि दृष्टिगोचर होने वाले सभी स्थल कुछ न कुछ स्थान अवश्य ही आवृत करते हैं। वह स्थान ही यहाँ आकाश के रूप में जानना चाहिए या फिर दिशाएँ आकाश के अन्तर्गत हैं। दशों दिशाओं के अन्तर्गत ही आकाश की गणना होती है और दिन, मास, वर्ष अथवा घड़ी-पल आदि काल सूर्य एवं चन्द्र के उदय-अस्त से मापे जाते हैं और यह सूर्य एवं चाँद आकाश की विशेष उपाधियाँ कही गयी हैं। इसलिए दिक् एवं काल दोनों का उद्‌भव आकाश से ही माना गया है। यहाँ इस सूत्र में सूत्रकार ने 'आदि' शब्द का प्रयोग आकाश के उपाधि रूप सूर्य एवं चन्द्रमा के लिए किया है।

**( १७७ ) अध्यवसायो बुद्धि: ॥ १३ ॥**

**सूत्रार्थ**— अध्यवसाय: = अध्यवसाय (निश्चय वृत्ति वाली), बुद्धि: = बुद्धि (महत्तत्त्व) है।

**व्याख्या**— सांख्य में महत्तत्त्व का द्वितीय नाम 'बुद्धि' है। बुद्धि किसी कार्य का निश्चय कराने वाली है, इसी कारण से उसे अध्यवसाय कहा गया है। यद्यपि निश्चय बुद्धि नहीं है, बल्कि निश्चय कराने वाली बुद्धि होती है। अत: जिसकी निश्चयात्मक वृत्ति है, वही बुद्धि है, निश्चय करना ही बुद्धि का कार्य है। निश्चय वृत्ति-धर्म है तथा बुद्धि धर्मी है। सूत्र से आभास होता है कि यहाँ धर्म को ही धर्मी कहा गया है। यह दोनों की भेदरहित भावना से कह दिया गया है। अव्यक्त प्रकृति के पश्चात् यही सबसे पहला व्यक्त पदार्थ है, इसी कारण इसका नाम 'महत्तत्त्व' पड़ा॥ १३ ॥

**( १७८ ) तत्कार्यं धर्मादि ॥ १४ ॥**

**सूत्रार्थ**— धर्मादि = धर्म आदि, तत्कार्यम् = उस (बुद्धि) के कार्य हैं।

**व्याख्या** — धर्मादि समस्त कार्य बुद्धि के द्वारा ही सम्पन्न किये जाते हैं। उपर्युक्त सूत्र में अध्यवसाय अर्थात् निश्चय करना बुद्धि का असामान्य कार्य व्यापार कहा गया है। धर्मादि अर्थात् धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष इन चार पदार्थों को पुरुषार्थ चतुष्टय के रूप में कहा गया है, उन सभी को बुद्धि द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। यह बुद्धि भी सत्त्व, रज एवं तम के संयोग से तीन प्रकार की हो जाती है और धर्म आदि समस्त कार्य बुद्धि द्वारा उसी समय सम्पन्न होते हैं, जब सत्त्वगुण की अधिकता रहती है॥ १४ ॥

**( १७९ ) महदुपरागाद्विपरीतम् ॥ १५ ॥**

**सूत्रार्थ** — उपरागात् = उपराग (रजस्-तमस्) के प्रभाव से, महत् = महत्तत्त्व अर्थात् बुद्धि, विपरीतम् = विपरीत (अधर्म आदि रूप में हो जाती) है।

**व्याख्या**— जिस प्रकार सत्त्वगुण के संयोग से बुद्धि धार्मिक एवं श्रेष्ठ कार्यों में नियोजित होती है, उसी प्रकार रजस् एवं तमस् के संयोग से वह धर्म के विपरीत अर्थात् अधर्म एवं निकृष्ट कार्यों की प्रेरणा प्रदान करती है; किन्तु ऐसी स्थिति में उसकी निश्चयात्मिका वृत्ति बनी रहती है। इसका अभिप्राय यह है कि बुद्धि में ऐसी वृत्ति का प्रादुर्भाव, उसमें रजस् एवं तमस् के प्रभाव को प्रकट करता है॥ १५ ॥

**( १८० )  अभिमानोऽहंकारः ॥ १६ ॥**

**सूत्रार्थ—** अभिमानः = अभिमान वृत्तिवाला, अहंकारः = अहंकार है।

**व्याख्या—** अभिमान को ही अहंकार कहते हैं। 'मैं हूँ।' 'यह अमुक कार्य मैंने किया है। मैं अमुक स्थान का स्वामी हूँ।' आदि इस तरह का भाव ही अभिमान है। अहंकार को अन्तःकरण की संज्ञा प्राप्त है तथा अभिमान को उसकी वृत्ति अथवा धर्म कहा गया है। तेरहवें सूत्र में जिस प्रकार धर्म-धर्मी की भेद रहित भावना से निश्चयात्मिका वृत्ति को बुद्धि कहा है, उसी प्रकार यहाँ पर अभिमान को ही अहंकार कहा गया है। यथार्थतः अभिमान वृत्ति ही अहंकार है, ऐसा जानना चाहिए। अहं भावना का नाम अभिमान है। मैं की भावना का जो साधन है, 'मैं' जिसकी वृत्ति है, उसे ही अहंकार कहते हैं। अहं वृत्ति होने से ही इसे अहंकार के नाम से अभिहित किया गया है॥ १६॥

**( १८१ )  एकादशपञ्चतन्मात्रं तत्कार्यम्॥ १७॥**

**सूत्रार्थ—** एकादश = ग्यारह (इन्द्रियाँ) और, पञ्चतन्मात्रम् = पाँच तन्मात्रायें, तत्कार्यम् = उस (अहंकार) के कार्य हैं।

**व्याख्या—** इस सूत्र में अहंकार के कार्यों का निर्देशन किया गया है। आन्तर इन्द्रिय मन सहित एकादश इन्द्रियाँ एवं पाँच तन्मात्राएँ अहंकार द्वारा प्रादुर्भूत हुई हैं। ये एकादश इन्द्रियाँ दो भागों (आभ्यन्तर एवं बाह्य) में बँटी हैं। केवल एक मात्र 'मन' आभ्यन्तर इन्द्रिय है और बाह्य इन्द्रियों की संख्या दस है। इन्हें दो भागों में बाँटा गया है। इसके अन्तर्गत पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ -श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना एवं घ्राण और पाँच कर्मेन्द्रियाँ वाणी, हस्त, पाद, पायु एवं उपस्थ कही गयी हैं। पाँच तन्मात्रायें ही पाँच सूक्ष्म भूत कहे जाते हैं। इन सूक्ष्म भूतों के नाम कार्यानुसार इस प्रकार कहे गये हैं-शब्द,स्पर्श,रूप,रस एवं गन्ध। यही अहंकार द्वारा प्रादुर्भूत एकादश इन्द्रियाँ एवं पाँच तन्मात्राएँ हैं,जिनका उल्लेख सूत्रकार ने अपने सूत्र में किया है॥ १७॥

**( १८२ )  सात्त्विकमेकादशकं प्रवर्त्तते वैकृतादहङ्कारात्॥ १८ ॥**

**सूत्रार्थ—** वैकृतात् = वैकृत, विकार को प्राप्त हुए (सात्त्विक), अहंकारात् = अहंकार से, सात्त्विकं = सत्त्वगुण प्रधान, एकादशकं = एकादश इन्द्रियों का समूह, प्रवर्त्तते = कार्य में प्रवृत्त होते हैं।

**व्याख्या—** सत्त्वगुण की प्रधानता से युक्त अहंकार को वैकृत के नाम से जाना जाता है। वैकृत अर्थात् विकार को प्राप्त हुए अहंकार से एकादश इन्द्रियाँ प्रवृत्त होती हैं। एकादश इन्द्रियों का कारण-सत्त्वगुण प्रधान अहंकार होने से ये भी सात्त्विक हैं। इन (इन्द्रियों) का सात्त्विक रूप ज्ञान एवं क्रिया में प्रकाशित होता है। जिस प्रकार सात्त्विक अहंकार का नाम 'वैकृत' है, वैसे ही तामस अहंकार को 'भूतादि' के नाम से जाना जाता है। सम्भवतः इसका भूतादि नामकरण इसलिए किया गया होगा; क्योंकि यह भूतों का आदि अर्थात् कारणभूत तन्मात्राओं का सृजेता है। राजस अहंकार का दूसरा नाम 'तैजस' है। यद्यपि प्रत्येक वस्तु त्रिगुणात्मक है, फिर भी कार्य मात्र में गुणों की विषमता होने से जहाँ गुण की प्रधानता होती है, उसी के आधार पर उसकी क्रिया होने लगती है। इसी तरह त्रिगुणात्मक एक अहंकार गुण भेद से अनेकों कार्यों का जन्मदाता हो जाता है। विज्ञान भिक्षु के अनुसार सात्त्विक अहंकार, इन्द्रियों में एकादश स्थान पर प्रतिष्ठित एक मात्र 'मन' का ही प्रादुर्भाव करता है। शेष दसों इन्द्रियाँ राजस से प्रकट होती हैं। सभी व्याख्याकारों में एक मात्र विज्ञानभिक्षु ने ही ऐसा अर्थ किया है। इन्द्रियों में ज्ञान व क्रिया के प्रकाशन की क्षमता जो देखी जाती है, वह सत्त्वगुण की विशेषता के कारण ही है। इन्द्रियों का प्रमुख स्वरूप ज्ञान-क्रिया या अर्थ-क्रिया का प्रकटीकरण है, इसीलिए वे सात्त्विक कही गई हैं। इस तरह से विकारयुक्त अहंकार द्वारा इन्द्रियों का कार्य में नियोजित होना सिद्ध होता है॥ १८॥

**( १८३ ) कर्मेन्द्रियबुद्धीन्द्रियैरान्तरमेकादशकम्॥ १९॥**

**सूत्रार्थ—** कर्मेन्द्रियबुद्धीन्द्रियै: = कर्मेन्द्रिय एवं ज्ञानेन्द्रियों के सहित, एकादशकं = ग्यारहवीं (इन्द्रिय-मन), आन्तरम् = आभ्यन्तरम्-इन्द्रिय है।

**व्याख्या—** इस सूत्र में सूत्रकार ने स्वयं ही एकादश इन्द्रियों का निर्देश इस प्रकार से किया है- पाँच कर्मेन्द्रियों एवं पाँच बुद्धीन्द्रियों के सहित ग्यारहवीं आभ्यन्तर इन्द्रिय 'मन' है। यहाँ बुद्धीन्द्रिय को ही ज्ञानेन्द्रिय कहा है। पाँच कर्मेन्द्रिय और पाँच बुद्धीन्द्रिय ये दसों बाह्य इन्द्रियाँ हैं। इनके साथ ही एकादश इन्द्रिय-मन आन्तरिक इन्द्रिय है। पाँच ज्ञानेन्द्रिय-घ्राण, चक्षु, रसना, श्रोत्र एवं त्वक् हैं और पाँच कर्मेन्द्रिय- हस्त, पाद, पायु, उपस्थ एवं वाक् हैं। इस सूत्र में एकादश इन्द्रियों का उल्लेख किया गया है॥ १९॥

**( १८४ ) आहंकारिकत्वश्रुतेर्न भौतिकानि॥ २०॥**

**सूत्रार्थ—** श्रुते: = श्रुति द्वारा, आहंकारिकत्व = अहंकार का कार्य प्रतिपादित होने के कारण, इन्द्रियाँ; भौतिकानि = भूतों के द्वारा प्रादुर्भूत होना, न = सिद्ध नहीं होता।

**व्याख्या—** इन्द्रियाँ अहंकार द्वारा प्रादुर्भूत हुई हैं, इसलिए आहंकारिक कही जाती हैं। इन्द्रियों का भूतों के द्वारा प्रकट होना सिद्ध नहीं होता, इस कारण ये भौतिक नहीं हो सकतीं; क्योंकि जब इन्द्रियों का प्राकट्य हुआ, तब तक पञ्चभूतों की सत्ता ही प्रत्यक्ष रूप में नहीं थी। तब ऐसी स्थिति में इन्द्रियों का प्राकट्य भूतों के द्वारा किस तरह माना जा सकता है? इस अर्थ की पुष्टि शब्द प्रमाण से हो जाती है। प्रश्नोपनिषद् (४.८) में स्थूल से सूक्ष्म की ओर बढ़ने का जो क्रम दिया गया है (स्थूलभूत, तन्मात्रा, इन्द्रिय, मन, अहंकार) उससे यही ध्वनित होता है कि इन्द्रियों का कारण अहंकार है। इन्द्रिय रचना के सन्दर्भ में यह भी चिन्तन करना आवश्यक है कि इन्द्रियाँ अर्थ-प्रकाशक होने से सत्त्वगुण प्रमुख हैं; किन्तु भूतों की संरचना में तामस-गुण की अधिकता रहती है। इस कारण भूतों को इन्द्रियों का हेतु नहीं कहा जा सकता। इसके अलावा सर्ग (सृष्टि) के सन्दर्भ में सांख्य के मतानुसार इन्द्रियों का उद्‌भव हो जाने के पश्चात् भूतों की संरचना होती है। जब इन्द्रियों का प्रादुर्भाव हुआ, तब तक भूतों का अस्तित्व ही नहीं था। भूतों की सत्ता उस समय मात्र कारणरूप में थी; किन्तु इन्द्रियों का उद्‌भव अपने स्वरूप में पूर्ण हो चुका था, ऐसी दशा में इन्द्रियों को भौतिक मानने की कोई भी सम्भावना नहीं रह जाती। अत: उक्त निर्धारणों से यह सिद्ध होता है कि इन्द्रियों का उद्‌भव अहंकार से ही हुआ है॥ २०॥

**( १८५ ) देवतालयश्रुतिर्नारम्भकस्य॥ २१॥**

**सूत्रार्थ—** देवतालयश्रुति: =देवता में लय होने की श्रुति, आरम्भकस्य=कारण की सिद्धि,न=नहीं करती।

**व्याख्या—** 'देवता' पद से कहे जाने वाले अग्नि अथवा सूर्य आदि में जो इन्द्रिय का लीन होना श्रुति में 'शब्द' द्वारा प्रतिपादित किया गया है, वह 'शब्द' अग्नि या सूर्य को इन्द्रियों का आरम्भक (कारण) सिद्ध नहीं करता; क्योंकि कभी-कभी किसी वस्तु का अकारण में लीन होना देखा जाता है। जिस प्रकार पृथिवी पर जल गिरकर उसी में लय होता हुआ देखा जाता है, उसी प्रकार किसी भी वस्तु का प्रकार भेद से अपने आरम्भक(कारण)से अलग दूसरे कारण में लीन होना भी देखा जाता है। यथार्थत: यह औपचारिक लीन होने का निर्देश है, यथार्थ कार्य का कारण में विलय नहीं। शब्द प्रमाण के उन्हीं स्थानों पर आत्मा का आकाश में एवं श्रोत्र का दिशा में लीन होना कहा गया है। जो कि कार्य-कारण भाव के आधार पर संगत नहीं कहा जा सकता। वह तो मात्र अदृश्यता की भावना द्वारा किया गया वर्णन है। अत: ऐसे कथानकों के आधार पर इन्द्रियों की कारणता को सिद्ध नहीं किया जा सकता है॥ २१॥

**( १८६ ) तदुत्पत्तिश्रुतेर्विनाशदर्शनाच्च॥ २२॥**

**सूत्रार्थ—** तदुत्पत्तिश्रुतेः = अहंकार द्वारा (इन्द्रियों की) उत्पत्ति की श्रुति से, च = और (इन्द्रियों का अहंकार से), विनाश दर्शनात्=विनाश के प्रत्यक्षतया दृष्टिगोचर होने से भी ऐसा ही सिद्ध होता है।

**व्याख्या—** अहंकार द्वारा ही इन्द्रियों का उद्‌भव होता है, ऐसा श्रुति से शब्द प्रमाण द्वारा पुष्ट होने एवं अहंकार में इन्द्रियों का लय होना देखे जाने से यह सिद्ध हो जाता है कि इन्द्रियों का उद्‌भव अहंकार से होने के कारण वे आहंकारिक हैं, उनका पञ्चभूतों से प्रकट होना अर्थात्-भौतिक होना बिल्कुल सिद्ध नहीं होता है। अहंकार द्वारा इन्द्रियों के उद्‌भव के सन्दर्भ में शब्द प्रमाण का संकेत इसी अध्याय के बीसवें सूत्र में विस्तार से कर दिया गया है॥ २२॥

**( १८७ ) अतीन्द्रियमिन्द्रियं भ्रान्तानामधिष्ठाने॥ २३॥**

**सूत्रार्थ—** इन्द्रियं = इन्द्रिय, अतीन्द्रियं = इन्द्रियों से दृष्टिगोचर न होने वाली, अधिष्ठाने = इन्द्रियों के निवास स्थल-गोलक (को इन्द्रिय समझना), भ्रान्तानाम् = भ्रमित व्यक्तियों की भ्रान्ति है।

**व्याख्या—** इन्द्रियाँ अति सूक्ष्म होती हैं। किसी भी इन्द्रिय का स्वयं या किसी अन्य इन्द्रिय के द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता अर्थात् सूक्ष्मातिसूक्ष्म होने के कारण इन्द्रियाँ, इन्द्रियों द्वारा दृष्टिगोचर नहीं होतीं। इस कारण हर इन्द्रिय अतीन्द्रिय है। जो लोग इन्द्रियों के अधिष्ठान-गोलकों को ही इन्द्रिय समझने लगते हैं,यह उनकी भ्रान्ति है;क्योंकि यथार्थतः वे इन्द्रियाँ नहीं हैं। वह तो उनके निवास का स्थान मात्र है, स्वयं इन्द्रिय नहीं। इससे यह सिद्ध होता है कि इन्द्रियाँ प्रत्यक्ष रूप से दृष्टिगोचर होने वाली वस्तु नहीं हैं॥

**( १८८ ) शक्तिभेदेऽपि भेदसिद्धौ नैकत्वम्॥ २४॥**

**सूत्रार्थ—** शक्तिभेदे = शक्ति के भेद होने पर, अपि = भी, भेदसिद्धौ = भेद की सिद्धि हो जाने पर, एकत्वम् = इन्द्रिय का एक होना, न = सिद्ध नहीं होता।

**व्याख्या—** इन्द्रिय को एक मानने पर जब उसकी विभिन्न शक्तियों के अनुसार ही पृथक्-पृथक् विषयों का ग्रहण स्वीकार्य होता है, तब इन्द्रिय के जितने विषय हैं, उतने ही उसके शक्तिभेद मानने होंगे और शक्तिभेद जब कई होंगे, तो उनके साधन भी अनेकों मानने पड़ेंगे। इस तरह से विषय ग्रहण हेतु शक्तिभेद मानने के पश्चात् साधनों की अधिकता सिद्ध हो जाती है और तब ऐसी दशा में इन्द्रिय को एक कहना असंभव हो जाता है। सम्पूर्ण विषयों का इन्हीं इन्द्रियों द्वारा ग्रहण स्वीकार्य होने से अनेक की कल्पना भी प्रमाणरहित है। अतः इससे यह सिद्ध हो जाता है कि इन्द्रियों की संख्या ग्यारह ही है॥ २४॥

**( १८९ ) न कल्पनाविरोधः प्रमाणदृष्टस्य॥ २५॥**

**सूत्रार्थ—** प्रमाणदृष्टस्य = प्रमाण से सिद्ध अर्थात् प्रत्यक्ष रूप से दृष्टिगोचर होने से, कल्पनाविरोधः = कल्पना द्वारा विरोध, न = मान्य नहीं।

**व्याख्या—** जो वस्तु (पदार्थ) प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध होती है, उसका कल्पना मात्र के आधार पर तर्क करके विरोध नहीं किया जा सकता। जब ग्राह्य विषयों के वर्गीकरण, शरीर संरचना एवं क्रियाओं के आधार पर एकादश इन्द्रियों का होना सिद्ध होता है। तब मात्र कल्पना के आधार पर इनकी संख्या न्यून या अधिक बताना अथवा इन्हें अहंकार द्वारा प्रादुर्भूत हुआ न मानकार, भूतों द्वारा प्रादुर्भूत होना कहना सर्वथा प्रमाणरहित है। अतः ऐसा कहना उचित नहीं॥ २५॥

**( १९० ) उभयात्मकं मनः॥ २६॥**

**सूत्रार्थ—** मनः = मन, उभयात्मकम् = दोनों से सम्बन्धित है।

**व्याख्या** — सम्पूर्ण इन्द्रियों के मध्य में मन उभयात्मक है। पाँच ज्ञानेन्द्रियों एवं पाँच कर्मेन्द्रियों- इन दोनों से मन का सम्पर्क बना रहता है; क्योंकि मन का सहयोग पाये बिना कोई भी इन्द्रिय अपने कार्य में प्रवृत्त नहीं होती। हर इन्द्रिय से आलोचित वस्तु, यह ऐसी है या ऐसी नहीं है- इस रूप में मन द्वारा प्रेरित होती है। इस तरह मन का हर इन्द्रिय के साथ सान्निध्य बना रहने से वह उभयात्मक कहलाता है। किसी विषय का ग्रहण करना अर्थात् किसी वस्तु को उठाना, पढ़ना, लिखना, बोलना, आदि समस्त कार्य मन के सहयोग से ही सम्पन्न हो सकते हैं। मन जब यह निश्चित करता है कि अमुक वस्तु को उठाना है, तो हाथ इस कार्य के लिए मन की प्रेरणा द्वारा ही उठेगा। अत: इससे यह सिद्ध होता है कि मन दोनों तरह की इन्द्रियों से सम्पर्क रखता है। स्मृति आदि में मन का आन्तर विषय से सीधा सम्पर्क बना रहने से मन को आन्तर इन्द्रिय-कहा गया है। करण एवं इन्द्रिय दोनों ही स्थितियों में मन कार्य में संलग्न रहता है, ऐसी दशा में भी इसको उभयात्मक कह सकते हैं अर्थात् दोनों प्रकार की इन्द्रियों के साथ इसका सम्बन्ध बना रहता है॥ २६

**( १९१ ) गुणपरिणामभेदान्नानात्वमवस्थावत्॥ २७॥**

**सूत्रार्थ** — गुणपरिणामभेदात् = गुणों के परिणाम भेद से, अवस्थावत् = अवस्था के समान, नानात्वम् = (इन्द्रियों के) अनेक भेद हैं।

**व्याख्या** — सत्त्व, रजस् , तमस् इन तीनों गुणों के परिणाम भेद से भिन्न-भिन्न इन्द्रियों का प्रादुर्भाव हो जाता है। गुणों के परिणाम सर्वाधिक विचित्रता लिये हुए एवं चमत्कार से युक्त हैं, इन गुणों की विषमता से इनके विचित्र परिणाम होते रहते हैं। इस कारण एक ही अहंकार, सत्त्वादि गुणों के परिणाम भेद से विभिन्न इन्द्रियों को प्रादुर्भूत कर देता है, जिनमें विविध विषयों को ग्रहण करने की सामर्थ्य सन्निहित होती है। जिस प्रकार से एक ही देह की बाल्य, युवा एवं जरा आदि अवस्थाएँ होती हैं, उसी प्रकार अहंकार द्वारा विविध रूपों की सृष्टि होती है तथा यह विविधता गुणों के पृथक्-पृथक् प्रभाव के कारण होती है। यह मात्र इन्द्रिय सृष्टि संरचना में ही नहीं, वरन् भूतादि नामक तामस अहंकार द्वारा पञ्चतन्मात्रा रूप अनेक तरह की सृष्टि में भी होती है। यह सभी गुण परिणाम की विशेषता का ही चमत्कार कहलाता है॥ २७॥

**( १९२ ) रूपादिरसमलान्त उभयो: ॥ २८ ॥**

**सूत्रार्थ** — उभयो: = दोनों प्रकार की (इन्द्रियों के विषय), रूपादिरसमलान्त: = रूपादि से लेकर रसों के मल तक हैं।

**व्याख्या** — ज्ञानेन्द्रिय एवं कर्मेन्द्रिय दोनों प्रकार की इन्द्रियों के जो विषय हैं, उनमें रूप से लेकर रसों के मल (विष्ठा) तक हैं; दोनों तरह की दस इन्द्रियाँ पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ-श्रोत्र, चक्षु, रसना, घ्राण, त्वक् एवं पाँच कर्मेन्द्रियाँ-वाक्, हस्त, पाद, पायु, उपस्थ हैं तथा दस इन्द्रियों के दस विषय भी क्रमश: इस प्रकार हैं- ज्ञानेन्द्रिय के क्रमानुसार विषय शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श एवं कर्मेन्द्रियों के विषय क्रमानुसार बोलना, लेन-देन (पकड़ना), चलना, फिरना, मलविसर्जन एवं रति (आनन्द) हैं॥ २८॥

**( १९३ ) द्रष्टृत्वादिरात्मनःकरणत्वमिन्द्रियाणाम्॥ २९ ॥**

**सूत्रार्थ** — द्रष्टृत्वादि = द्रष्टृत्व (द्रष्टापन) आदिधर्म, आत्मन: = आत्मा के हैं, करणत्वम् = (और) करण-साधन होना, इन्द्रियाणाम् = इन्द्रियों का (धर्म) है।

**व्याख्या** — सम्पूर्ण इन्द्रियाँ करण हैं, किसी (आत्मा) के साधन हैं। यह कहा जाना उचित है कि सभी इन्द्रियों की एक ही तरह की स्थिति है कि वे किसी के मात्र साधन रूप में विद्यमान रहती हैं। जिस (आत्मा) के लिए चक्षु साधन बनकर रूप को प्रस्तुत करता है, वही आत्मा इसका द्रष्टा हुआ। द्रष्टा होना ही आत्मा का स्वरूप है। 'आदि' शब्द से अभिप्राय है कि द्रष्टा, श्रोता, स्पर्शयिता, रसयिता, घ्राता आदि रूपों में समस्त इन्द्रियों के विषयों का उपभोग करने वाला आत्मा ही है। जिस प्रकार करण-साधन होना इन्द्रियों का धर्म है। उसी प्रकार द्रष्टा, श्रोता, भोक्ता आदि आत्मा का धर्म है। यही आत्मा का स्वरूप है॥ २९ ॥

**( १९४ ) त्रयाणां स्वालक्षण्यम्॥ ३०॥**

**सूत्रार्थ—** त्रयाणाम् = तीनों (अन्तःकरणों मन, बुद्धि और अहंकार) का, स्वालक्षण्यम् = अपने-अपने लक्षणों से युक्त (धर्म या व्यापार से युक्त) होना कहा जाता है।

**व्याख्या —** महत् (बुद्धि), अहंकार एवं मन- यही अन्तःकरण के तीन भेद कहे गये हैं। इन तीनों का अपना-अपना जो विशिष्ट लक्षण (धर्म) है, वही इनका असामान्य व्यापार है। अध्यवसाय वृत्ति ही महत्तत्त्व (बुद्धि) है। उसका असामान्य स्वभाव ही अध्यवसाय है। इसी तरह अहंकार का लक्षण (धर्म ) अभिमान है तथा संकल्प ही मन का असाधारण गुण-धर्म अर्थात् लक्षण है॥ ३०॥

**( १९५ ) सामान्याकरणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्च॥ ३१॥**

**सूत्रार्थ—** प्राणाद्याः = प्राण आदि, पञ्च = पाँच , वायवः = वायु (प्राण), करण = अन्तःकरण के, सामान्या = सामान्य, वृत्तिः = कार्य-व्यापार हैं।

**व्याख्या—** ये पञ्च प्राण- प्राण, अपान, व्यान, समान एवं उदान, जो वायु रूप हैं, सभी करणों (अन्तःकरण) के सामान्य कार्य व्यापार हैं। करणों की संख्या तेरह है- ग्यारह इन्द्रियाँ (पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ और आभ्यन्तर इन्द्रिय-मन) अहंकार एवं बुद्धि। इस प्रकार ये कुल १३ करण हुए। इन सभी का अस्तित्व, प्राणों का प्रयोजक होने के कारण 'प्राण' इन सभी का व्यापार कहा गया है। यदि दो-एक करण का या अधिक का भी अस्तित्व न रहे, तो कुछ करणों के अस्तित्व में प्राण-व्यापार निरन्तर गतिशील बना रहता है। यह पाँचों प्राण वायु के सदृश गतिशील होने के कारण ही वायुरूप कहे गये हैं। 'करण' पद से कुछ विद्वज्जन तीन अन्तःकरण मानते हैं और कुछ विद्वान् तेरह करणों को मान्यता देते हैं; किन्तु यहाँ पर अन्तःकरण मानना ही उचित है॥ ३१॥

**( १९६ ) क्रमशोऽक्रमशश्चेन्द्रियवृत्तिः॥ ३२॥**

**सूत्रार्थ—** इन्द्रियवृत्तिः = इन्द्रियों का व्यापार, क्रमशः = क्रमानुसार, च = और, अक्रमशः = बिना क्रम-युगपत् (होता है)।

**व्याख्या—** इन्द्रियों का व्यापार क्रमानुसार होता है। जब कोई वस्तु सामने होती है, तब चक्षु उसे देखता है। तदनन्तर मन उसके सन्दर्भ में संकल्प करता है कि यह कौन-सी वस्तु है? फिर अहंकार उसके सम्बन्ध की भावना अपने साथ करता है। सबसे बाद में बुद्धि उसका निश्चय करती है। जिस प्रकार झुरमुट में कोई चीज दृष्टिगोचर होती है, यह चक्षु का विषय है। तत्पश्चात् यह संकल्प हुआ कि यह कोई व्यक्ति अथवा और कुछ है, यह संकल्प 'मन' का धर्म है। फिर उसके सम्बन्ध की भावना अपने साथ होती है कि यह हमारी तरफ आ रहा है या कोई वस्तु उठा रहा है, यह अहंकार का धर्म है और सबसे बाद में यह निर्णय होता है कि यहाँ से चला जाना चाहिए या फिर यदि वह व्यक्ति बिना पूछे कुछ उठा रहा है, तो उसे पकड़ लेना चाहिए — यह बुद्धि का धर्म है। इसी प्रकार किसी भी सन्दर्भ में इन्द्रियों का व्यापार क्रमानुसार ही होता है। इस क्रम के निर्देश में अहंकार और बुद्धि इन्द्रियाँ नही हैं तथा सूत्र में सूत्रकार ने इन्द्रिय-लक्षण के क्रमशः या अक्रमशः का ही उल्लेख किया है; फिर भी ग्यारह इन्द्रियों के समूह के साथ अहंकार एवं बुद्धि को भी समाहित कर लिया है।

कभी-कभी इन्द्रियों का व्यापार युगपत् अर्थात् अक्रमशः (बिना क्रम के) भी हो जाता है। घने

जंगल या अन्धेरे में जाते हुए कभी अचानक बिजली के चमकने या किसी प्रकाश से अपने सामने सिंह या साँप या फिर किसी भयानक वस्तु के देखने पर तुरन्त ही व्यक्ति भाग खड़ा होता है। इस समय चक्षु से देखना, मन से संकल्प, अहंकार से अभिमान, बुद्धि से निश्चय अनायास ही हो जाता है। इस प्रकार की इन्द्रिय वृत्ति को अक्रमिक या युगपत् कहते हैं। यथार्थता यह है कि इन्द्रियवृत्ति यहाँ भी अक्रमिक नहीं होती, वह क्रमानुसार ही होती है; किन्तु घटनाक्रम इतनी जल्दी हो जाता है कि भयादि के कारण उस क्रम को पकड़ा नहीं जा सकता और वह अक्रमिक लगने लगता है॥ ३२॥

**( १९७ ) वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाऽक्लिष्टाः॥ ३३॥**

**सूत्रार्थ**— क्लिष्टाऽक्लिष्टाः = क्लेश देने एवं न देने वाली, पञ्चतय्यः = पाँच प्रकार की, वृत्तयः = वृत्तियाँ हैं।

**व्याख्या**— यहाँ इस सूत्र में सभी तेरह करणों की पृथक्-पृथक् विशेष वृत्तियों एवं उनकी कुछ विशेषताओं का अवसर के अनुसार प्रतिपादन किया है। सूत्रकार यहाँ वृत्तियों की एक अन्य विशेषता का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि जो तेरह करणों की अलग विशेष वृत्ति है, उनमें तीन अन्तःकरणों की वृत्ति स्वतन्त्ररूपेण सीधे किसी बाहरी अर्थ को विषय नहीं करती, अपितु बाह्येन्द्रियों से जो विषय निर्धारित किया जाता है, उसी में अन्तस् का अध्यवसाय अवलम्बित रहता है। बाह्य इन्द्रियों के अन्तर्गत पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ एवं पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं। कर्मेन्द्रिय का मात्र क्रियारूप धर्म (लक्षण) होता है, जिसका प्रभाव आत्मा तक सही रूप में नहीं पहुँचता, वरन् ज्ञानेन्द्रियों से पहुँचता है।

इस तरह से मुख्यतया पाँच ज्ञानेन्द्रिय-वृत्तियाँ ही क्लिष्ट एवं अक्लिष्ट दोनों तरह की होती हैं। बाह्य अर्थानुसार जो इन्द्रिय वृत्तियाँ आत्मानुकूल अनुभूति की जन्मदात्री हैं, वही अक्लिष्ट अर्थात् सुख प्रदात्री हैं। इससे विपरीत जो आत्मा के प्रतिकूल अनुभूति की जन्मदात्री हैं, वे क्लिष्ट अर्थात् दुःखदायी हैं। इस तरह आत्मा के सम्पूर्ण भौतिक सुख-दुःख भोग, इन्हीं पाँच इन्द्रिय-वृत्तियों से पूर्णता प्राप्त करते हैं। जब सभी बाह्य अर्थ विषय वाली इन्द्रिय वृत्तियों को दुःख पक्ष में नियोजित कर दिया जाता है, तभी ये सभी क्लिष्ट (दुःखदायी) हैं। मात्र समाधि वृत्तियाँ ही अक्लिष्ट (सुखदायी) होती हैं॥३३॥

**( १९८ ) तन्निवृत्तावुपशान्तोपरागः स्वस्थः॥ ३४॥**

**सूत्रार्थ**— तन्निवृत्तौ = उन (इन्द्रिय-वृत्तियों) के निवृत्त हो जाने के पश्चात्, उपशान्तोपरागः = विषयों का प्रभाव शान्त हो जाने पर, स्वस्थः = अपने में स्थित होकर आत्मानन्द की प्राप्ति हो जाती है।

**व्याख्या**— जब इन्द्रिय वृत्तियों का निवारण हो जाता है, भौतिक विषयों में किसी भी तरह की आसक्ति नहीं रह जाती है और तृष्णा-रहित होने से आत्मा पर बाहरी विषयों का प्रभाव पड़ना शान्त हो जाता है, तब ऐसी स्थिति में आत्मा अपने निज रूप में स्थित होता है। अज्ञानता के कारण जो चेतन में अचेतन एवं अचेतन में चेतन की भावना रहती है, वह न रहकर चैतन्य में चैतन्य की भावना होना ही आत्मा का अपने निज रूप में प्रतिष्ठित होना है। ऐसी स्थिति समाधि लाभ के अनन्तर आत्म साक्षात्कार होने से ही मिलती है, जब सभी विषयी इन्द्रिय वृत्तियों का शमन हो जाता है॥ ३४॥

**( १९९ ) कुसुमवच्च मणिः॥ ३५॥**

**सूत्रार्थ**— मणिः = स्वच्छ स्फटिक, च =जैसे, कुसुमवत् = पुष्प के सदृश (दृष्टिगोचर होती है)।

**व्याख्या —** जिस प्रकार स्फटिक मणि के पास पुष्प रख दिया जाय, उसकी प्रतिच्छाया से पुष्प के रंगानुसार वह मणि भी लाल, नीली, पीली या हरी दृष्टिगोचर होने लगती है; लेकिन जैसे ही पुष्प अलग कर लिया जाता है, वह (मणि) अपने वास्तविक रूप में दिखाई देने लगती है। उसके यथार्थ स्वरूप में कभी भी कोई परिवर्तन नहीं होता। ऐसे ही चैतन्य स्वरूप आत्मा को इन्द्रिय वृत्तियों द्वारा प्रभावित होकर चैतन्य में अचैतन्य एवं अचैतन्य में चैतन्य का आभास हुआ करता है; किन्तु समाधि लाभ से इन्द्रिय-वृत्तियों के निवृत्त हो जाने से आत्मा अपने चैतन्यमय रूप का साक्षात्कार कर लेता है। उसके अपने इस यथार्थरूप में कभी भी कोई परिवर्तन नहीं होता। वृत्तियों का निवृत्त होना, उसका 'स्वरूप में स्थित होना' कहा गया है। यहाँ पर सूत्र में 'च' पद पूर्व सूत्र के दृष्टान्त सहित अर्थ सम्बन्ध का द्योतन करता है॥ ३५॥

**(२००) पुरुषार्थं करणोद्भवोऽप्यदृष्टोल्लासात्॥ ३६॥**

**सूत्रार्थ —** अदृष्टोल्लासात् = अदृष्ट के प्रभाव से, करणोद्भवः = करणों का व्यापार (उत्पन्न होना), अपि = भी, पुरुषार्थम् = पुरुष-चेतन आत्मा के लिए ही कहा गया है।

**व्याख्या —** अदृष्ट अर्थात् धर्माधर्म के प्रकट होने से पुरुष के भोग एवं मोक्ष रूप उद्देश्य को प्राप्त करने हेतु करणों अर्थात् इन्द्रियों की प्रवृत्ति होती है। यह इन्द्रियाँ स्वयमेव पुरुषार्थ (पुरुष के प्रयोजन) को प्रदान करने वाली हैं। आदिकाल से आत्मा इसी क्रम में गतिशील है। इसे जो कुछ शुभाशुभ कर्म करने होते हैं, उनके अनुसार ही करणों की प्रवृत्ति होती रहती है, यही पुरुषार्थ के साधन हैं। यद्यपि इन्द्रिय-वृत्तियाँ दुःख का कारण कही गयी हैं; परन्तु इस स्थिति के अभाव में आत्मा के भोग एवं अपवर्ग आदि की प्राप्ति के प्रयास में प्रवृत्ति के अभाव के कारण उसके उद्देश्य (पुरुषार्थ) की प्राप्ति नहीं हो पाती॥ ३६॥

**(२०१) धेनुवद्वत्साय॥ ३७॥**

**सूत्रार्थ —** वत्साय = बछड़े के लिए, धेनुवत् = गाय के सदृश (समझनी चाहिए)।

**व्याख्या —** जिस प्रकार गाय अपने बच्चे के लिए दुग्ध स्वयमेव प्रस्रवित कर देती है, उसी प्रकार समस्त इन्द्रियों की प्रवृत्ति पुरुषार्थ के लिए ही होती है। पुत्रस्नेह की भावना से अनुप्राणित गो-चेतन पयः प्रवृत्ति (दूध देने) का निमित्त कारण है। गौ-आत्मा से प्रेरित दुग्ध वत्स के लिए प्रवृत्त होता है। ऐसे ही सर्वशक्तिमान् चैतन्य तत्त्व से प्रेरित अचेतन करण (इन्द्रियादिक) पुरुषार्थ हेतु ही प्रवृत्त होते हैं॥ ३७॥

**(२०२) करणं त्रयोदशविधमवान्तरभेदात्॥ ३८॥**

**सूत्रार्थ —** अवान्तरभेदात्=अवान्तर भेद से,त्रयोदशविधम् = तेरह प्रकार के, करणम् = करण हैं।

**व्याख्या —** अवान्तर भेद के द्वारा 'करण' तेरह प्रकार के कहे गये हैं। प्रमुख करण एकमात्र 'बुद्धि' है। बुद्धि का परिणाम ही अहंकार है। अहंकार द्वारा ग्यारह इन्द्रियाँ प्रकट हो जाती हैं। इस प्रकार ये करण बुद्धि के अवान्तर भेद कहे जा सकते हैं। सूत्र में 'विध' का प्रयोग करणों के सभी अवान्तर भेदों का प्रकार बतलाने के लिए किया गया है। वे 'करण' के प्रकार मात्र तेरह हैं। 'करण' के ये तेरह प्रकार इस प्रकार हैं- बुद्धि, अहंकार एवं मन ये तीनों अन्तःकरण और पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ-श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, घ्राण एवं रसना, तथा पाँच कर्मेन्द्रियाँ-वाक्, हस्त, पाद, पायु, उपस्थ॥ ३८॥

**(२०३) इन्द्रियेषु साधकतमत्वयोगात्कुठारवत्॥ ३९॥**

**सूत्रार्थ —** साधकतमत्व = अत्यधिक साधन होने के, योगात् = सम्बन्ध से, कुठारवत् = कुठार की भाँति, इन्द्रियेषु = इन्द्रियों में करण का व्यवहार होता है।

**व्याख्या**— यह सत्य है कि पुरुष के लिए बुद्धि, विषय को सीधा समर्पित करती है; किन्तु हर बाहरी विषय के बुद्धि तक जाने में इन्द्रियों का अत्यधिक सहयोग रहता है। इसी कारण इन्द्रियों को 'करण' कहा गया है। बाह्य विषय के साथ बुद्धि का कभी सीधा संपर्क नहीं रहता। इन्द्रियाँ ही इस कार्य को पूर्ण करती हैं। जिस प्रकार लकड़ी कुल्हाड़े द्वारा काटी जाती है; किन्तु कुल्हाड़े का प्रहार पूर्ण शक्ति से होगा, तभी लकड़ी कटेगी। लकड़ी पर कुल्हाड़े को बिना प्रहार के शनैः-शनैः चलाने से लकड़ी नहीं कट सकती। यद्यपि यहाँ पर 'कटना' क्रिया द्वारा सीधा सम्बन्ध प्रहार का है; किन्तु यदि कुल्हाड़ा न हो, तब प्रहार की संभावना भी नहीं रहती। इसलिए लकड़ी काटने का साधन कुल्हाड़ा ही माना जाता है। इसी तरह आत्मा के साथ बुद्धि का सीधा सम्पर्क रहने से इन्द्रियों के अभाव में कोई बाह्य विषय बुद्धि के पास तक नही पहुँच सकता। अतः पुरुषार्थ की पूर्णता में उनका (इन्द्रियों का) अत्यधिक सहयोग होने से उन्हें (इन्द्रियों को) करण मानना व्यर्थ सिद्ध नहीं होता अर्थात् उन्हें 'करण' माना जाना उचित है॥ ३९॥

**( २०४ ) द्वयोः प्रधानं मनोलोकवद् भृत्यवर्गेषु॥ ४०॥**

**सूत्रार्थ**— द्वयोः = दोनों (आन्तर एवं बाह्य) प्रकार की इन्द्रियों में , मनः = मन, प्रधानम् = प्रमुख है। लोकवत् = लोक में (होने के समान), भृत्यवर्गेषु = भृत्य वर्गों में (होता या देखा जाता है)।

**व्याख्या**— आन्तर एवं बाह्य भेद से इन्द्रियाँ दो प्रकार की मानी गई हैं। इसका प्रतिपादन प्रथम अध्याय के १/२८ एवं द्वितीय अध्याय के २/१९ में विस्तार से किया जा चुका है। शेष दस इन्द्रियाँ (पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ एवं पाँच कर्मेन्द्रियाँ) बाह्य हैं। इन दोनों में से 'मन' को प्रमुख माना गया है। जिस प्रकार लोक (संसार) में राजा का एक प्रधान भृत्य एवं अन्य छोटे-छोटे कई भृत्य वर्ग (कर्मचारी) होते हैं। उन सभी का कार्य पृथक्-पृथक् बँटा होता है। सभी अपना-अपना कार्य पूर्ण करके अपने प्रमुख कर्मचारी को सौंप देते हैं और प्रधान भृत्य उस कार्य को राजा तक पहुँचाने की व्यवस्था बनाता है। इसी तरह समस्त इन्द्रियाँ अपना-अपना कार्य 'मन' को पहुँचाती रहती हैं। मन उभयात्मक है, आवश्यकतानुसार उसका सम्पर्क दोनों तरह की दसों इन्द्रियों के साथ होता रहता है। 'मन' उस कार्य को निरन्तर आगे पहुँचाता रहता है। इस कारण से दोनों तरह की इन्द्रियों में आभ्यन्तर इन्द्रिय 'मन' को प्रमुख अर्थात् प्रधान कहा गया है। इसी से किसी प्रख्यात मनीषी ने कहा है कि-'मन के हारे हार है, मन के जीते जीत'। ऐसे ही उपनिषदकार ने मन को ही बन्धन एवं मोक्ष का कारण बतलाया है- **'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः'**॥ ४०॥

**( २०५ ) अव्यभिचारात्॥ ४१॥**

**सूत्रार्थ**— अव्यभिचारात् = नियम में बाधा उपस्थित न होने से मन की प्रधानता सिद्ध है (अर्थात् इन्द्रिय के साथ नियत सम्बन्ध होने से मन की प्रधानता सिद्ध होती है)।

**व्याख्या**— समस्त बाह्येन्द्रियों के साथ आवश्यकतानुसार 'मन' का सान्निध्य बना रहता है; क्योंकि प्रत्येक बाह्येन्द्रिय बाह्य विषय को अपने अन्दर ग्रहण करके 'मन' को सौंप दिया करती है। इस नियम में कभी भी कोई बाधा नहीं आ सकती। मन, दस बाह्य इन्द्रियों के ऊपर एक कोतवाल की तरह से रहता है। सभी बाह्येन्द्रियाँ अपना-अपना विषय क्रमानुसार मन को समर्पित कर दिया करती हैं। इस नियम में कोई भी बाधा उपस्थित न होने से इन्द्रियों पर 'मन' का प्रधान होना ही सिद्ध होता है। अतः समस्त इन्द्रियों में 'मन' ही प्रमुख साधन है॥ ४१॥

**( २०६ ) तथाऽशेषसंस्काराधारत्वात्॥ ४२॥**

**सूत्रार्थ**— अशेषसंस्काराधारत्वात् = सभी संस्कारों का आधार होने से, तथा = प्रधान है।

**व्याख्या**— जिस प्रकार समस्त इन्द्रियों में मन की प्रधानता कही गयी है, उसी प्रकार से सभी करणों में 'बुद्धि' की प्रधानता है। यहाँ सभी संस्कारों का आधार होने से सभी 'करणों' में 'बुद्धि' को ही प्रमुख माना जाता है। सभी इन्द्रियाँ अपना-अपना विषय मन को समर्पित कर देती हैं, मन अहंकार को समर्पित करता है और अहंकार बुद्धि को समर्पित कर देता है। 'बुद्धि' सर्वात्मना उस विषय की अवधारणा करती हुई पुरुष(ब्रह्म)के लिए उसको समर्पित कर देती है। समस्त विषयों को पुरुष के लिए साक्षात् समर्पित करने से तो बुद्धि की प्रधानता है ही तथा इसके अलावा सभी संस्कार एवं धर्माधर्म आदि का आश्रय होने से भी बुद्धि की प्रधानता सिद्ध होती है॥ ४२॥

**( २०७ ) स्मृत्यानुमानाच्च॥ ४३॥**

**सूत्रार्थ**— स्मृत्या = स्मृति से, च = और, अनुमानात् = अनुमान से (भी यही सिद्ध होता है)।

**व्याख्या**— स्मृति अर्थात् स्मरण रूप वृत्ति से भी बुद्धि की प्रमुखता का अनुमान हो जाता है। पूर्वानुभूत अर्थ संस्कार ही स्मृति के जन्मदाता होते हैं एवं सभी संस्कारों का एकमात्र आश्रय बुद्धि है। अतः प्रत्येक स्मृति का अस्तित्व ही बुद्धि का अनुमान कराता है, जो स्थिति अन्य दूसरे करणों के लिए नहीं है। इस कारण सभी करणों में बुद्धि की ही प्रधानता है। स्मृति शब्द का अर्थ जब चिन्तन अथवा ध्यान के रूप में किया जाता है, तभी उससे करणों में बुद्धि की प्रमुखता का अनुमान किया जाता है। इसका कारण यह है कि ध्यानरूप वृत्ति ही अन्य सभी वृत्तियों में उत्तम है। उस स्थिति में बाह्य एवं आभ्यन्तर इन्द्रियों की सभी वृत्तियाँ एवं किसी भी तरह की अहंवृत्ति सदैव रुद्ध हो जाती है, एकमात्र ज्ञान या चेतना वृत्ति सर्वथा बनी रहती है, जो कि बुद्धि वृत्ति ही है। इस कारण से स्मृति अर्थात् चिन्तन द्वारा भी सभी करणों में बुद्धि की प्रमुखता का अनुमान कर लिया जाता है॥ ४३॥

**( २०८ ) संभवेन्न स्वतः॥ ४४॥**

**सूत्रार्थ**— स्वतः = स्वयं स्मृति बनी रहे, संभवेत् = संभावना, न = नहीं है।

**व्याख्या**— यदि कोई पुरुष यह कहे कि स्मृति आत्मा की वृत्ति है, तो इस प्रकार कहना उचित नहीं कहा जा सकता; क्योंकि स्मृति आत्मा की वृत्ति नहीं, वरन् वह बुद्धि का कार्य है। बुद्धि के अभाव में स्वयं ही पुरुष को स्मृति बनी रहे, ऐसा कभी भी संभव नहीं हो सकता और न ही आन्तर एवं बाह्य करण, भोग अथवा अपवर्ग के साधनों को उपस्थित करने हेतु खुद ही प्रवृत्त होते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि सभी 'करण' अचेतन हैं, अतः इनमें स्वयं की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। जिस पुरुष (चैतन्य आत्मा) के लिए प्रवृत्ति कही जाती है, उस पुरुष की समीपता ही इनकी प्रवृत्ति का प्रमुख कारण होता है। उसके द्वारा प्रेरित करण, उसके भोग एवं मोक्ष को पूर्ण करने हेतु प्रवृत्त होते हैं, स्वयं अपने आप प्रवृत्त नहीं होते॥ ४४॥

**( २०९ ) आपेक्षिको गुणप्रधानभावः क्रियाविशेषात्॥ ४५॥**

**सूत्रार्थ**— क्रिया विशेषात् = कार्य की विशेषता से, आपेक्षिकः = (करणों का) परस्पर अपेक्षा मूलक, गुणप्रधानभावः = गुण की प्रधानता का भाव है।

**व्याख्या**— करणों का आपस में एक दूसरे की अपेक्षा जो गुण की प्रधानता का भाव कहा गया है, वह कार्य की विशेषता के कारण ही होता है। करणों के जो स्व-स्व कार्य हैं, वे सभी उनकी स्थिति के नियामक हैं। उसी के अनुसार उनके गुणों की प्रधानता के भाव का निर्धारण किया गया है। जिस तरह नेत्र आदि के कार्यों से उनके विषय का ग्रहण होता है। नेत्र देखने का कार्य करते हैं, कर्णेन्द्रिय श्रवण करने का कार्य करती है, नासिका सूँघती है एवं मन उन सभी इन्द्रियों के विषय का संकल्प करता है। इस प्रकार से

मन का कार्य इन्द्रियों के कार्य से कहीं अधिक विशिष्ट है, मन से अहंकार श्रेष्ठ है और अहंकार से भी कहीं अधिक बुद्धि श्रेष्ठ है। अत: इससे यह सिद्ध होता है कि करणों के कार्य की विशिष्टता से अर्थात् व्यापार भेद से उनमें गुणों के प्राधान्य भाव को स्वीकार किया गया है॥ ४५॥

**( २१० ) तत्कर्मार्जितत्वात्तदर्थमभिचेष्टालोकवत्॥ ४६॥**

**सूत्रार्थ—** तत्कर्मार्जितत्वात् = उस (आत्मा) के कर्मों से अर्जित होने के कारण, लोकवत् = संसार की भाँति, तदर्थम् = उस (आत्मा) के लिए, अभिचेष्टा = करणों की प्रवृत्ति का स्वभाव है।

**व्याख्या—** जीवात्मा द्वारा किये गये कर्मों से अर्जित होने के कारण उसी जीवात्मा के लिए वे सभी 'करण' प्रवृत्त होते हैं; क्योंकि जीवात्मा के द्वारा संगृहीत कर्मफल रूपी साधन-सामग्री, उसके स्वयं के ही कार्य में प्रयुक्त होते हैं। उनका उपभोग अन्य कोई जीवात्मा नहीं कर सकता। इसी प्रकार सृष्टि-रचना काल में जब जीवात्मा शरीर में आता है, तब उसी समय से वह अपने पूर्वकृत् कर्मानुसार सूक्ष्म शरीर में आविष्ट हो जाता है। यह शरीर तेरह करण एवं उनके आश्रयभूत पाँच तन्मात्राओं से परिपूर्ण होता है। यह जीवात्मा का आतिवाहिक शरीर होता है, जो प्रारम्भिक सृष्टि-रचना से लेकर तत्त्वज्ञान पर्यन्त बना रहता है तथा जीवात्मा के भोग एवं मोक्ष को पूर्णता तक पहुँचाने हेतु सतत गतिशील रहता है। इस प्रकार पुरुष कर्मों द्वारा अर्जित होने से ही समस्त करण, पुरुषार्थ को पूर्ण कराने के लिए कार्य करते रहते हैं ॥ ४६॥

**( २११ ) समानकर्मयोगे बुद्धेः प्राधान्यं लोकवल्लोकवत्॥ ४७॥**

**सूत्रार्थ—** समानकर्मयोगे = समान कर्मयोग (कर्म के प्रति उपयोग) होने में, बुद्धेः = बुद्धि की, प्राधान्यम् = प्रधानता है, लोकवत् = जैसे कि लोक में (प्राय: देखा जाता है)।

**व्याख्या—** पुरुष के भोग एवं मोक्ष रूपी उद्देश्य को पूर्ण करने हेतु सभी करणों का समान रूप से उपयोग होने के बाद भी बुद्धि की प्रधानता को माना गया है। यद्यपि यह उचित ही है कि जो जिसका अध्यवसाय है, उसे पूर्णरूपेण निर्वाह करने में सभी की समानता है, फिर भी उनके विशेष अध्यवसाय के आधार पर उनकी महत्ता में भी विशिष्टता है। जिस प्रकार लोक में राजा के भृत्यगण, जो भी जिस कार्य में नियोजित किये जाते हैं, उसके अनुसार सतर्कतापूर्वक अपने-अपने कार्य को पूर्णता तक पहुँचाने का जहाँ तक प्रश्न है, वे सभी समान हैं; किन्तु उनकी कार्यशैली एवं उनकी स्थिति में पर्याप्त अन्तर होता है। उदाहरणार्थ-एक सैनिक या गाँव का ग्रामप्रधान तथा प्रधानमन्त्री के कार्यों एवं उनकी स्थिति में काफी अन्तर होता है। उन सभी के कार्यानुसार अवश्य ही मन्त्री की प्रधानता को स्वीकार किया जाता है; क्योंकि समस्त कार्यों में राजा के साथ उसका सीधा सान्निध्य बना रहता है। ऐसे ही सभी करणों में बुद्धि को प्रमुख माना गया है। इसी कारण उसकी प्रधानता को स्वीकार किया गया है। यहाँ सूत्र में 'लोकवत्' पद दो बार प्रयुक्त होना, अध्याय की समाप्ति का सूचक मानना चाहिए॥ ४७॥

**॥ इति द्वितीयोऽध्याय: समाप्त: ॥**



# ॥ अथ तृतीयोऽध्यायः ॥

**द्वितीय अध्याय के अन्तर्गत सर्ग ( सृष्टि रचना ) का उद्देश्य, तेरह करण एवं तन्मात्राओं के उद्‌भव आदि का सविस्तार वर्णन किया गया है। अब यहाँ पर ( तृतीय अध्याय में ) पञ्च स्थूल भूतों की उत्पत्ति, दोनों प्रकार के देह एवं वैराग्य के लिए आत्मा की विभिन्न योनियों में गतिशीलता तथा अन्य दूसरे ज्ञान-साधनों का विस्तार से विवेचन किया जा रहा है —**

**( २१२ ) अविशेषाद्विशेषारम्भः ॥ १ ॥**

**सूत्रार्थ—** अविशेषात् = अविशेषों (तन्मात्राओं-सूक्ष्मभूतों) से, विशेषारम्भः = विशेषों अर्थात् स्थूल भूतों का शुभारम्भ होता है।

**व्याख्या—** सांख्य दर्शन में पञ्च सूक्ष्म भूतों-तन्मात्राओं को ही 'अविशेष' के नाम से अभिहित किया गया है। सम्पूर्ण स्थूल जगत् के ये ऐसे कारणभूत तत्त्व हैं, जिनमें अभी तक जगत् की अनुभवगम्य विशेषताओं का उद्‌भव नहीं हुआ है। इसी कारण से इन्हें अविशेष या 'तन्मात्रा' कहा जाता है। इन पञ्च सूक्ष्म भूतों से पञ्च स्थूल भूतों (पृथिवी, जल, अग्नि, वायु एवं आकाश) का प्रादुर्भाव होता है। समस्त पदार्थों का प्रत्यक्ष रूप से दृष्टिगोचर होना ही इन स्थूल भूतों की विशिष्टता है, इसी कारण इन्हें 'विशेष' कहा गया है। जो अविशेष (तन्मात्राएँ) कार्य की ओर उन्मुख होकर पृथिवी आदि अणुओं के रूप में बदल जाते हैं, व्यवहार रूप में उन्हें ही गन्ध एवं रस तन्मात्रा आदि कह दिया जाता है। अतः कारण की 'अविशेष' (सूक्ष्मभूत) अवस्था से 'विशेष' (स्थूलभूत) कार्य का प्राकट्य होता है॥ १ ॥

**( २१३ ) तस्माच्छरीरस्य ॥ २ ॥**

**सूत्रार्थ—** तस्मात् = उन स्थूल भूतों से, शरीरस्य = स्थूल शरीर का प्राकट्य होता है।

**व्याख्या—** उक्त प्रथम सूत्र में सूक्ष्म भूतों द्वारा जिन स्थूल भूतों का अविर्भाव होना कहा गया है, उन स्थूल भूत समुदाय से स्थूल शरीरों का उद्‌भव होता है। इसका दूसरा अर्थ यह भी है कि पूर्व (प्रथम व द्वितीय) अध्यायों में जिन तेईस तत्त्वों को कहा गया है, उन सूक्ष्म एवं स्थूल तत्त्वों द्वारा सूक्ष्म एवं स्थूल दोनों शरीरों का प्रादुर्भाव होता है।

आर्य समाज के उद्‌भट विद्वान् पं० उदयवीर शास्त्री ने अपने सांख्य दर्शन के विद्योदय भाष्य में इस सूत्र के दो अर्थ इस प्रकार कहे हैं- १. उस स्थूलभूत समुदाय के अर्थात् 'विशेष' से स्थूल शरीर का आरम्भ होता है। २. उस (अविशेष) सूक्ष्म भूत समुदाय से सूक्ष्म शरीर का उद्‌भव होता है। इस सूत्र की विस्तृत व्याख्या वहीं देखनी चाहिए॥ २ ॥

**( २१४ ) तद्बीजात्संसृतिः ॥ ३ ॥**

**सूत्रार्थ —** तद्‌बीजात् = उन स्थूल भूतों के बीज अर्थात् उपादानभूत तन्मात्राओं के घटित सूक्ष्म शरीर से, संसृतिः = संसरण अर्थात् आत्माओं का देहान्तर रूप में गमनागमन होता है।

**व्याख्या—** एक योनि (शरीर) से दूसरी योनि में जीवात्मा का संसरण (गमनागमन) स्थूलभूतों के बीज से अर्थात् उपादान भूत तन्मात्राओं द्वारा घटित सूक्ष्म शरीर से सम्पन्न होता है। जब आत्मा मृत्यु के समय एक स्थूल देह का परित्याग करके दूसरे स्थूल शरीर में गमन करता है, तब उस समय त्याग किया हुआ स्थूल शरीर यहीं पर छूट जाता है; लेकिन सूक्ष्म शरीर आत्मा को चारों तरफ से अपने घेरे में लिपटाये हुए सतत उसके साथ बना रहता है। आत्मा के साथ सूक्ष्म शरीर का यह सम्मिलन प्रलय की स्थिति आने तक सभी सृष्टि संरचनाओं में यथावत् बना रहता है। इस तरह से संसार की अत्यन्त दीर्घकालीन महायात्रा

पर अग्रसर आत्मा का सान्निध्य सूक्ष्म शरीर से निरन्तर यथावत् बना रहता है,यदि सृष्टि संरचना के अन्तराल में कभी किसी आत्मा को महान् पथ-प्रदर्शक (गुरु) की अनुकम्पा से आत्मसाक्षात्कार हो जाता है,तो तत्क्षण इस देह से मुक्ति मिल जाती है॥ ३॥

**( २१५ ) आविवेकाच्च प्रवर्तनमविशेषाणाम्॥ ४॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, अविशेषाणाम् = अविशेषों अर्थात् सूक्ष्म भूतों से घटित सूक्ष्म शरीर का, प्रवर्तनम् = संसरण( बारम्बार गमनागमन), आविवेकात् = विवेक ज्ञान का उदय होने तक (बना रहता है)।

**व्याख्या—** यहाँ सूत्र में सूत्रकार ने 'अविशेष' पद को अविशेषों (सूक्ष्मभूतों) द्वारा घटित सूक्ष्म शरीर के लिए प्रयुक्त किया है, आत्मा के चारों ओर आवृत-घिरे हुए सूक्ष्म शरीर का प्रवर्तन-संसरण (आवागमन) विवेक पर्यन्त बना रहता है। जब किसी आत्मा को आत्म-साक्षात्कार हो जाता है, तब प्रकृति-पुरुष के विवेक का ज्ञान प्रकट हो जाता है और तभी संसरण (प्रवर्तन) की समाप्ति हो जाती है। यहाँ सूत्र में 'आ' पद सीमा के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, विवेक 'गमनागमन' की सीमा है। विवेक का उदय होते ही प्रवर्तन (गमनागमन) नहीं होता, वहीं पर उसका समापन हो जाता है॥ ४॥

**( २१६ ) उपभोगादितरस्य॥५॥**

**सूत्रार्थ —** इतरस्य = दूसरे (अविवेकी) का, उपभोगात् = उपभोग बने रहने से, (उसका संसरण-आवागमन समाप्त नहीं होता।)

**व्याख्या—** सद्विवेक का उदय न होने से अविवेक ही बना रहता है, तब तक कर्मफल, रुचि, भोग भी बना रहता है, अत: तब तक संसरण जन्म-मृत्यु रूपी गमनागमन का चक्र समाप्त नहीं होता। यहाँ इस सूत्र का भाव यह है कि जब तक भोगों का उपभोग होता रहेगा, तब तक अपवर्ग (मोक्ष) को प्राप्त करना असम्भव है। मोक्ष की प्राप्ति आत्मज्ञान के उदय होने पर ही सम्भव है॥ ५॥

**( २१७ ) सम्प्रति परिष्वक्तो द्वाभ्याम्॥ ६॥**

**सूत्रार्थ—** सम्प्रति = अब (सृष्टिकाल या संसरण काल में आत्मा), द्वाभ्याम् = दोनों अवस्थाओं (स्थूल एवं सूक्ष्म शरीरों) से, परिष्वक्त: = आबद्ध रहता है।

**व्याख्या—** सृष्टिकाल अथवा संसरणकाल-गमनागमन की अवधि में आत्मा वासना एवं भोगादि से युक्त स्थूल और सूक्ष्म दोनों प्रकार के शरीरों से आबद्ध रहता है। वह अपने कर्मफल के रूप में सुख-दु:ख आदि का उपभोग करता रहता है।

संसरण काल में प्रलय के आने तक सूक्ष्म शरीर का सान्निध्य आत्मा के साथ यथावत् बना रहता है; किन्तु प्रलयकाल के समय में सूक्ष्म एवं स्थूल दोनों ही शरीर अपने-अपने कारणों में विलीन हो जाते हैं और उतने काल तक आत्मा सुप्त-सदृश बना रहता है। अगला सृष्टिकाल शुरू होने पर पुन: उनके उपभोग की साधन-सामग्री प्रस्तुत हो जाती है और पुन: वही क्रम अनवरत चल पड़ता है॥ ६॥

**( २१८ ) मातापितृजं स्थूलं प्रायश इतरन्न तथा॥ ७॥**

**सूत्रार्थ—** प्रायश: = प्राय:, स्थूलम् = स्थूल शरीर, मातापितृजम् = माता-पिता के संयोग से उत्पन्न होता है (किन्तु), इतरत् = इससे भिन्न अर्थात् सूक्ष्म शरीर, तथा = उस प्रकार (से), न = नहीं होता।

**व्याख्या—** अधिकांशत: स्थूल शरीर माता-पिता के संयोग द्वारा प्रादुर्भूत होता है। यह समस्त सृष्टिकाल की स्थिति का विवेचन है। यहाँ अधिकांश इसलिए कहा गया कि कृमि-कीटक आदि अयोनिज अर्थात् मातृ-पितृ जन्य नहीं होते हैं। स्वेदज कीटों को ही अयोनिज कहते हैं। सृष्टि के प्रारम्भिक

काल में सर्वप्रथम प्राणि-सृष्टि ही होती है। इस कारण अधिकांशत: स्थूल शरीर माता-पिता द्वारा प्रादुर्भूत कहे गये हैं। यहाँ सूत्र में 'प्रायश:' शब्द इसीलिए निर्दिष्ट किया गया है। दूसरा सूक्ष्म शरीर है, वह माता-पिता द्वारा प्रादुर्भूत नहीं होता। सृष्टि के प्रारम्भ में सूक्ष्म शरीर की नैसर्गिक रचना होती है। उसी क्षण प्रत्येक आत्मा के साथ एक सूक्ष्म-शरीर सम्बद्ध हो जाता है और उसी रूप में सम्पूर्ण सृष्टि पर्यन्त यथावत् बना रहता है।

पूर्व सूत्रानुसार समस्त सृष्टिकाल में आत्मा दोनों शरीरों के साथ संयुक्त रूप से बना रहता है। मातापितृज स्थूल शरीर तो परिवर्तित होता रहता है;लेकिन सूक्ष्म शरीर अपरिवर्तनीय है,वह परिवर्तित नहीं होता। इस सूक्ष्म शरीर का एक ही बार, प्रलय आने या फिर आत्मज्ञान की प्राप्ति होने पर ही त्याग किया जाता है। यह नियत रूप से प्रलय की स्थिति आने या आत्मज्ञान होने तक यथावत् बना रहता है॥ ७॥

**( २१९ ) पूर्वोत्पत्तेस्तत्कार्यत्वं भोगादेकस्य नेतरस्य॥ ८॥**

**सूत्रार्थ—** पूर्वोत्पत्ते: = (सर्गकाल में प्रादुर्भूत) सूक्ष्म शरीर के, भोगात् = भोग से, एकस्य = एक (सूक्ष्म शरीर) का (भोग है), इतरस्य = दूसरे (स्थूल शरीर) का, न = नहीं होता (क्योंकि), तत्कार्यत्वम् = भोग उन दोनों का (स्थूल-सूक्ष्म शरीरों का) कार्य है।

**व्याख्या—** यहाँ सूत्र में 'पूर्वोत्पत्ति' पद सूक्ष्म शरीर के लिए प्रयुक्त हुआ है। सूक्ष्म शरीर का प्रादुर्भाव सर्गकाल के प्रारम्भ में हो जाता है तथा प्रलय की स्थिति आ जाने पर समाप्त हो जाता है। सर्गकाल में सर्वप्रथम सूक्ष्म शरीर के घटक तत्त्वों की उत्पत्ति होती है। सूक्ष्म शरीर के अस्तित्व में आने पर ही उसमें भोग होते हैं। इससे स्पष्ट है कि सूक्ष्म शरीर से ही सुख-दु:खादि भोगों की प्राप्ति होती है; क्योंकि वह सुख-दु:ख रूपी कार्य उसी (सूक्ष्म शरीर) के हैं। स्थूल शरीर द्वारा सुख-दु:खादि भोगों की प्राप्ति सूक्ष्म शरीर के आधार पर ही होती है, अकेले नहीं हो सकती। यदि ऐसा होता तो स्थूल शरीर की मृत्यु के तुरन्त बाद ही सुख-दु:ख आदि भोगों का भी समापन हो जाता तथा दूसरा स्थूल शरीर ग्रहण करने के बाद उसमें सुख-दु:ख आदि दृष्टिगोचर न होते।

अत: इससे यह सिद्ध होता है कि सुख-दु:खादि भोग सूक्ष्म शरीर के साथ ही बने रहते हैं, तभी तो स्थूल शरीर के प्रकट होते ही समस्त भोग दृष्टिगोचर होने लगते हैं॥ ८॥

**( २२० ) सप्तदशैकं लिङ्गम्॥ ९॥**

**सूत्रार्थ—** सप्तदश = सत्रह और, एकम् = एक, लिङ्गम् = सूक्ष्म शरीर होता है।

**व्याख्या—** लिङ्ग अर्थात् सूक्ष्म शरीर का निर्माण सत्रह और एक अर्थात् अठारह घटक तत्त्वों से मिलकर सम्पन्न हुआ है। इन अठारह तत्त्वों में तेरह करण और पञ्च तन्मात्रायें हैं। करणों में तीन अन्त:करण-मन, अहंकार, बुद्धि और बाह्य करण में पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ (चक्षु, श्रोत्र, त्वक्, घ्राण और रसनेन्द्रिय) और पाँच कर्मेन्द्रियाँ (वाक्, हस्त, पाद, पायु, और उपस्थ) इस प्रकार ये तेरह करण हुए। पाँच तन्मात्राएँ- शब्द, स्पर्श, रूप, रस, एवं गंध हैं, इन्हें ही सूक्ष्म भूत कहते हैं। यही कुल अठारह तत्त्व हैं, जिनके द्वारा सूक्ष्म शरीर विनिर्मित होता है।

सूक्ष्म शरीर में तेरह करण 'आश्रित' तथा पाँच तन्मात्राएँ 'आश्रय' होते हैं। इस अर्थ को इसी अध्याय के बारहवें सूत्र में विस्तार से स्पष्ट करेंगे। आश्रयभाग को 'कारण शरीर' के नाम से कुछ शास्त्रकारों ने विवेचित किया है। करण अनाश्रित नहीं रह सकते, अत: पञ्च तन्मात्राएँ उनके आश्रयभूत कहे गये हैं। विभिन्न योनियों में संसरणकाल के समय भी आत्मा सूक्ष्म शरीर के द्वारा आवृत रहता है।

विज्ञानभिक्षु ने इस सूत्र का अर्थ सत्रह तत्त्वों से एक 'सूक्ष्म शरीर' होना किया है तथा अहंकार को उन्होंने बुद्धि के अन्तर्गत माना है; लेकिन अहंकार तो बुद्धि से अलग तत्त्व है, इस कारण वह बुद्धि का भेद नहीं हो सकता। यदि अहंकार को बुद्धि के अन्तर्गत मानें, तो मन को भी बुद्धि के अन्तर्गत स्वीकार करना चाहिए। अत: इससे यही सिद्ध होता है कि सूक्ष्म शरीर अठारह तत्त्वों द्वारा ही विनिर्मित होता है॥ ९॥

**कोश ग्रन्थों एवं वेदान्त आदि की मान्यता के अनुसार सत्रह तत्त्वों का विवेचन इस प्रकार किया गया है- अन्त:करण- मन, बुद्धि, पाँच ज्ञानेन्द्रिय-चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, स्वाद एवं त्वक्। पाँच तन्मात्रायें ( शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, ) पञ्च प्राण- प्राण, अपान, समान, उदान एवं व्यान। इन्हीं सत्रह तत्त्वों से मिलकर सूक्ष्म शरीर का निर्माण हुआ है॥ ९॥**

**( २२१ ) व्यक्तिभेद: कर्मविशेषात्॥ १०॥**

**सूत्रार्थ—** कर्मविशेषात् = कर्म की विशेषता से ही, व्यक्तिभेद: = व्यक्ति भेद होता है।

**व्याख्या—** प्राय: कुछ व्यक्ति शंका करते हैं कि यदि सूक्ष्म शरीर एक ही जैसा है, तो स्थूल शरीरों की आकृति पृथक्-पृथक् क्यों होती है? इसका समाधान यह है कि व्यक्तियों के शरीरों की भिन्न-भिन्न आकृति उनके कर्मों की विशेषता (कर्मभेद) के कारण होती है; क्योंकि वही जीवात्मा के सुख-दु:ख आदि भोगों का कारण है। श्रेष्ठ कर्म का परिणाम अच्छा और बुरे का बुरा परिणाम जीवात्मा को भोगना पड़ता है। इस प्रकार पृथक्-पृथक् रूप होना अपने ही कर्मों का प्रतिफल है॥ १०॥

**( २२२ ) तदधिष्ठानाश्रयेदेहे तद्वादात्तद्वाद: ॥ ११॥**

**सूत्रार्थ—** तदधिष्ठानाश्रये = उस (आत्मा) के अधिष्ठान (सूक्ष्म शरीर) के आश्रय, देहे = स्थूल शरीर में, तद्वादात् = उस (देह) पद का प्रयोग होने से, तद्वाद: = देह पद का व्यवहार होता है।

**व्याख्या—** सूक्ष्म शरीर का निर्माण अठारह तत्त्वों (तेरह करण+पाँच तन्मात्राओं) से मिलकर हुआ है। आत्मा इस सूक्ष्म शरीर से घिरा रहता है, इसी कारण उस (सूक्ष्म शरीर) को आत्मा के प्रतिष्ठित होने का एक प्रकार का अधिष्ठान कहा गया है। आत्मा उसका अधिष्ठाता है; लेकिन यह अधिष्ठान रूपी सूक्ष्म शरीर भी स्थूल शरीर में निवास करता है और स्थूल शरीर की सहायता के अभाव में वह कोई भी सांसारिक कार्य नहीं कर सकता।

सूक्ष्म शरीर के सभी कार्य स्थूल शरीर के सहयोग से ही हो सकते हैं। इस आधार पर स्थूल की भाँति सूक्ष्म शरीर को भी देह कहा जाना सिद्ध हो जाता है॥ ११॥

**( २२३ ) न स्वातन्त्र्यात् तदृते छायावच्चित्रवच्च॥ १२॥**

**सूत्रार्थ—** छायावत् = छाया के समान, च = और, चित्रवत् = चित्र के समान, तदृते = तन्मात्र (स्थूल शरीर) के आश्रय के बिना, स्वातन्त्र्यात् = स्वतन्त्र रूप से (स्थिति), न = नहीं रह सकती।

**व्याख्या—** आश्रय के अभाव में स्वतन्त्र रूप से सूक्ष्म की स्थिति नहीं रहती; परन्तु जिस प्रकार आश्रय के अभाव में छाया नहीं रह सकती और न ही आश्रय के अभाव में चित्र की रचना हो सकती है। उसी प्रकार स्थूल शरीर के आश्रय के अभाव में सूक्ष्म शरीर स्वतन्त्र रूप से नहीं रह सकता; क्योंकि संसार में सूक्ष्म शरीर की प्रत्यक्ष स्थिति नहीं दिखती।

आत्मा के लिए सभी तरह के सुख-दु:खादि भोगों को प्रस्तुत करने वाले सूक्ष्म शरीर को आश्रय प्रदान करने में स्थूल शरीर का उपयोग स्पष्ट रूप से होता है॥ १२॥

## ( २२४ ) मूर्त्तत्वेऽपि न सङ्घात योगात् तरणिवत्॥ १३॥

**सूत्रार्थ—** मूर्त्तत्वे = मूर्त्त होने पर, अपि = भी, सङ्घात योगात् = समूह रूप सम्बन्ध से, तरणिवत् = तरणि अर्थात् सूर्य के समान, न = नहीं रह सकता।

**व्याख्या—** सूक्ष्म शरीर मूर्त्त (प्रत्यक्ष) है। प्रत्येक कार्य मूर्त्त होता है और जो मूर्त्त है, निश्चित ही वह समूह रूप होगा। सूक्ष्म शरीर संघात रूप होने से मूर्त्त (प्रत्यक्ष) होते हुए भी किसी आश्रय के अभाव में स्थिर नहीं रह सकता है; क्योंकि प्रत्येक 'संघात' परार्थ (दूसरे के लिए) होता है। जिस 'पर' के लिए वह है, वही उसका भोग करने वाला होता है। अतः सूक्ष्म भोगों को प्रस्तुत करने की शक्ति रखते हुए भी प्रत्यक्ष एवं समूह रूप होने से भोग करने वाला नहीं हो सकता। जिस प्रकार-तरणि अर्थात् सूर्य अन्य पदार्थों को प्रकाशित करने की शक्ति रखते हुए भी मूर्त्त (प्रत्यक्ष) तथा अचेतन होने के कारण परार्थ (दूसरे के लिए) होता है, उसी प्रकार सूक्ष्म शरीर समूह रूप योग द्वारा मूर्त्त (प्रत्यक्ष) की शक्ति रखते हुए भी परार्थ अर्थात् दूसरों के लिए होता है, स्वयं के भोग के लिए नहीं॥ १३॥

## ( २२५ ) अणुपरिमाणं तत्कृतिश्रुतेः॥ १४॥

**सूत्रार्थ—** तत्=वह (मन अथवा सूक्ष्म शरीर), अणुपरिमाणम् = अणु परिमाण वाला है (क्योंकि), कृतिश्रुतेः = उसकी उत्पत्ति शब्द प्रमाण द्वारा सुनी जाती है।

**व्याख्या—** उस (मन अथवा सूक्ष्म शरीर) को अणु आकार वाला कहा गया है। विज्ञान भिक्षु के अनुसार वह (सूक्ष्म शरीर) अत्यन्त अणु नहीं है; क्योंकि उसे 'सावयव' कहा गया है। उसके सावयव होने में हेतु **'कृतिश्रुति' है अर्थात् शब्द प्रमाण है।** (तैत्तिरीय० २.५ तथा बृहदारण्यकोपनिषद्- ४.४.२ में ) उस (सूक्ष्म शरीर) के द्वारा मन भी करणों से संयुक्त होने के कारण सूक्ष्म शरीर का एक घटक कहा गया है; किन्तु मन महापरिमाण व देह परिमाण के सृदश नहीं है; क्योंकि इन दोनों अवस्थाओं में सभी बाह्य इन्द्रियों के साथ मन का युगपत् सम्बन्ध होना नहीं रोका जा सकता। ऐसी दशा में अनेक ज्ञान एक साथ समाहित हो जाने चाहिए, जो कि होते नहीं हैं। इन्द्रियों की अपने सन्दर्भ में प्रवृत्ति क्रमानुसार ही होती है, बिना क्रम के नहीं। इस कारण मन को अणु परिमाण रूप स्वीकार करना चाहिए। इस सन्दर्भ में यह ध्यान रखना चाहिए कि कोई भी कार्यतत्त्व परिमाण की दृष्टि से अपने मूल उपादान की समता नहीं करता। जगत् के मूल उपादान (सत्त्व, रज, तम) अत्यधिक सूक्ष्म तत्त्व होते हैं। मन का परिमाण उन सूक्ष्मातिसूक्ष्म की अपेक्षा निश्चय ही कुछ अधिक स्थूल है॥ १४॥

## ( २२६ ) तदन्नमयत्वश्रुतेश्च॥ १५॥

**सूत्रार्थ—** च = और, तदन्नमयत्व = उस (सूक्ष्म शरीर का घटक एकादश आभ्यन्तर इन्द्रिय मन) का अन्नमय होना, श्रुतेः = शब्द प्रमाण द्वारा सुना जाता है।

**व्याख्या—** उस (सूक्ष्म शरीर के अन्तर्गत करण समुदाय का एक घटक मन) का अन्नमय होना शब्द प्रमाण से सिद्ध है। मन की अन्नमयता को छां०उप० में इस प्रकार से कहा गया है- **'अन्नमयं हि सोम्य मनः'** (छां० उ० ६.५.४) अर्थात् हे सोम्य! मन अन्नमय ही है। अथर्ववेद (१५.१४.१) में भी 'मन' को 'अन्नाद' कहा गया है। अतः 'मन' का अन्नमय होना स्पष्ट है। मन को 'अन्नमय' अथवा 'अन्नाद' कहने का आशय यह नहीं है कि वह अन्न का विकार है अथवा 'अन्न' ग्रहण करता है; बल्कि उसका भाव यह है कि 'अन्न' ग्रहण करने से 'मन' सन्तुलित बना रहता है; वह सन्तुलन से अपनी कार्यक्षमता को अक्षुण्ण बनाए रखता है। अन्न का मन पर प्रभाव पड़ता है (जैसा खाये अन्न-वैसा बने मन)। इस कारण मन को

अन्नाद और अन्नमय कहा गया है। मन के लिए अन्नाद और अन्नमय आदि कथन मात्र औपचारिक हैं, फिर भी उसके द्वारा यह आभास तो हो ही जाता है कि वह 'नित्य' नहीं है, साथ ही वह महापरिमाण से युक्त भी नहीं हो सकता। वह तो परिच्छिन्न परिमाण वाला है। अन्य इन्द्रियों की भी यही स्थिति है॥ १५॥

**( २२७ ) पुरुषार्थं संसृतिर्लिङ्गानां सूपकारवद्राज्ञः॥ १६॥**

**सूत्रार्थ—** लिङ्गानाम् = लिङ्ग अर्थात् सूक्ष्म शरीर रूप करणों का, संसृति = संसरण (आवागमन), राज्ञः = राजा से, सूपकारवत् = पाचक-रसोइये के समान, पुरुषार्थम् = चेतन आत्मा के लिए है।

**व्याख्या—** समस्त करणों की प्रवृत्ति पुरुष (आत्मा) के लिए होती है। एक देह से दूसरे देह में करणों की जो निरन्तर गतिशीलता है तथा अनादिकाल से यथावत् यही क्रम अबाध रूप से सक्रिय है, यह सभी कुछ चेतन आत्मा के कार्य-उद्देश्य को सिद्ध करने के लिए है। पुरुष-आत्मा के कार्य उद्देश्य हैं- भोग एवं मोक्ष। इन्हीं की प्राप्ति हेतु करणों की समस्त दौड़-धूप है। जिस प्रकार सूपकार (रसोइया) अपने राजा (मालिक) के लिए भोग सामग्री जुटाने हेतु रसोईघर में यत्र-तत्र दौड़-धूप करता रहता है, उसी प्रकार चेतन पुरुष- आत्मा के लिए सूक्ष्म शरीर स्थित करणों को दौड़-धूप करना पड़ता है॥ १६॥

**( २२८ ) पाञ्चभौतिको देहः॥ १७॥**

**सूत्रार्थ—** देहः = स्थूल शरीर, पाञ्चभौतिकः = पञ्च स्थूल भूतों से मिलकर विनिर्मित हुआ है।

**व्याख्या—** यह स्थूल शरीर पञ्च स्थूल भूतों से मिलकर विनिर्मित हुआ है। सम्पूर्ण आन्तरिक एवं बाह्य प्रमुख अंग अवयव पृथिवी तत्त्व से मिलकर बने हैं। शरीर में स्थित सम्पूर्ण रक्त एवं अन्य सभी धातुएँ और अंगों को आपस में जोड़ना-मिलाना जल तत्त्व का कार्य है। ऐसे ही पाचन-तन्त्र और जीवनी शक्ति के अनुकूल ऊष्मा (गर्मी) अग्नि तत्त्व के द्वारा उत्पन्न होती है। सभी प्राण,रक्त और अन्य धातुओं व मलों का स्थूल देह में सर्वत्र संचालित करना वायु तत्त्व का कार्य है और बाह्य-अन्तः सभी जगह अवकाश (रिक्त स्थान) प्रदान करना आकाश तत्त्व का कार्य है। इस तरह से स्थूल देह का निर्माण स्थूल पञ्चभूतों (पृथिवी, जल, अग्नि, वायु एवं आकाश) द्वारा निर्मित होना सिद्ध होता है॥ १७॥

**( २२९ ) चातुर्भौतिकमित्येके॥ १८॥**

**सूत्रार्थ—** एके = कुछ आचार्य गण, इति = ऐसा मानते हैं (कि वह स्थूल देह), चातुर्भौतिकम् = चार भूतों से विनिर्मित हुआ है।

**व्याख्या—** कुछ विद्वान् लोग इस स्थूल देह को पञ्च भूतों से विनिर्मित हुआ न मानकर चार भूतों द्वारा प्रादुर्भूत हुआ मानते हैं। उनके विचार में आकाश तत्त्व किसी वस्तु का आरम्भक नहीं होता। वह अवयवरहित है, इस कारण आकाश किसी दूसरे तत्त्व के साथ विलीन नहीं होता और न ही किसी वस्तु को प्रकट करने वाला हो सकता है। अतः प्रत्येक स्थूल देह चार भूतों द्वारा विनिर्मित होता है। शरीर रचना में आकाश तत्त्व प्रयुक्त नहीं है॥ १८॥

**( २३० ) ऐकभौतिकमित्यपरे॥ १९॥**

**सूत्रार्थ—** अपरे = अन्य-दूसरे (आचार्यगण), इति = ऐसा मानते हैं कि यह शरीर, ऐकभौतिकम्= एक भौतिक तत्त्व द्वारा विनिर्मित है।

**व्याख्या—** अन्य कुछ आचार्यों का कथन है कि यह स्थूल शरीर (देह) एकमात्र पृथिवी तत्त्व द्वारा ही निर्मित हुआ है। देह को प्रादुर्भूत करने वाले तत्त्व पार्थिव अर्थात् पृथिवी के ही तत्त्व हैं, अन्य तत्त्व तो उसकी उत्पत्ति में मात्र सहायक हैं। इस प्रकार वे विद्वज्जन पञ्चभूतों से स्थूल शरीर की रचना मानते हुए भी जिस तत्त्व की प्रधानता है, उसी के द्वारा शरीर का उत्पन्न होना बतलाते हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि किसी भी तत्त्व को स्थूल शरीर की रचना में से निष्कासित नहीं किया जा सकता। इससे यह सम्भव है कि शरीर के एक भौतिक होने का विचार उसमें मात्र एक ही तत्त्व की प्रमुखता पर अवलम्बित हो। जिस प्रकार पृथ्वी लोक में सभी शरीरों की रचना में पार्थिव तत्त्वों की प्रमुखता है, इसी तरह ही सूर्य आदि लोकों में तेजोमय शरीर की भावना की जा सकती है। वहाँ पर जो देह होंगे, उनमें उसी तेजोमय तत्त्व की प्रमुखता सम्भव है।

इसी प्रकार दूसरे लोकों में उन्हीं तत्त्वों से सम्बन्धित प्रधान शरीर हो सकते हैं। अतः पृथिवी-लोक पर शरीर को पृथिवी तत्त्व प्रधान ही मानना चाहिए॥ १९ ॥

**( २३१ ) न सांसिद्धिकं चैतन्यं प्रत्येकादृष्टेः ॥ २० ॥**

**सूत्रार्थ—** प्रत्येकादृष्टेः = प्रत्येक भूत में न देखे जाने से (पञ्च भौतिक तत्त्व में), सांसिद्धिकम् = स्वाभाविक, चैतन्यम् = चैतन्य, न = नहीं है।

**व्याख्या—** भूतों का विश्लेषण करने पर यह ज्ञात होता है कि प्रत्येक मूलभूत तत्त्व में चैतन्य का दर्शन नहीं होता। इस जड़ जगत् के मूलतत्त्व सत्त्व, रज, तम हैं। ये तीनों ही अचेतन हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि इन तीन तत्त्वों से विनिर्मित होने वाला शरीर चेतन नहीं हो सकता। सांख्य दर्शन के अनुसार जड़ चेतन नहीं हो सकता और चेतन अचेतन नहीं बन सकता। चेतना तो यत्र-तत्र-सर्वत्र संव्याप्त है, फिर भी आधुनिक वैज्ञानिक उस चैतन्य तत्त्व पर अपना नियन्त्रण स्थापित नहीं कर सके हैं। अतः हम देह को चैतन्यमय न होने के कारण 'भोक्ता' नहीं कह सकते हैं, तब हर शरीर में एक अलग 'चेतन' तत्त्व का अस्तित्व निश्चित ही स्वीकार करना पड़ेगा॥ २० ॥

**( २३२ ) प्रपञ्चमरणाद्यभावश्च ॥ २१ ॥**

**सूत्रार्थ—** च=और, प्रपञ्च मरणाद्यभावः = समस्त अचेतन जगत् का और मरण आदि का अभाव हो जाना चाहिए। [यदि भूत (भौतिक) को चैतन्य माना जाय, तब]।

**व्याख्या—** जब सभी भौतिक तत्त्वों को चेतन माना जाये, तभी देह को चेतन कहा जा सकता है। यदि ऐसा मान लिया जाये, तो दृष्टिगोचर होने वाला यह सम्पूर्ण जगत् अदृश्य हो जायेगा; क्योंकि कोई भी चैतन्य तत्त्व दृष्टिगोचर नहीं होता।

इसके अतिरिक्त जब सभी तत्त्व चेतन माने जायेंगे, तब देह के जन्म-मृत्यु वाले चक्र का भी समापन हो जाएगा; क्योंकि चैतन्य तत्त्व हमेशा एक ही जैसा रहता है। सूत्र में 'आदि' पद से सुषुप्ति एवं मूर्च्छा आदि अवस्थाओं का ग्रहण किया जा सकता है। चैतन्य शरीर में इन अवस्थाओं का कोई भी अस्तित्व नहीं होगा; क्योंकि ऐसी स्थिति में शरीर सहज रूप में प्रतिष्ठित रहता है। तब सदैव एक ही अवस्था बनी रहनी चाहिए; किन्तु यह सभी प्रत्यक्षादि प्रमाणों के विरुद्ध है। इस कारण शरीर की चैतन्यता को स्वीकार नहीं किया जा सकता॥ २१ ॥

**( २३३ ) मदशक्तिवच्चेत् प्रत्येकपरिदृष्टे सौक्ष्म्यात् सांहत्ये तदुद्भवः ॥ २२ ॥**

**सूत्रार्थ—** चेत् = यदि, मदशक्तिवत् = मद-शक्ति के समान ( भूतों में चैतन्य माना जाये, तो यह कथन उपयुक्त न होगा, क्योंकि), सौक्ष्म्यात् = सूक्ष्म रूप से, प्रत्येकपरिदृष्टे = प्रत्येक (मादक द्रव्य में) परीक्षण से मादकता के देखे जाने पर, सांहत्ये = उनके घोल में, तदुद्भवः = मादकता के उद्भव की सम्भावना हो सकती है।

**व्याख्या—** जिस प्रकार अनेक द्रव्यों को मिश्रित करके एक घोल तैयार कर लिया जाता है, जिसमें मादकता का आविर्भाव हो जाता है; किन्तु उस घोल के हर द्रव्य में पृथक् रूप से मादकता की प्रतीति नहीं होती।

इसी तरह यदि प्रत्येक मूल तत्त्व में चेतन की उपस्थिति नहीं है, तब भी तत्त्वों का मिश्रण हो जाने से चैतन्य का आविर्भाव हो जाना चाहिए। इसमें कोई अवरोध नहीं है। इस प्रकार जड़ मूल तत्त्वों का कार्य स्थूल शरीर, चैतन्य युक्त कहा जा सकता है। इस शंका का समाधान सूत्रकार इस प्रकार करते हैं कि मादक घोल के हर द्रव्य में मादकता का अंश सूक्ष्म रूप से दृष्टिगोचर होता है। इसी कारण उनके सम्बन्ध में विभिन्न द्रव्यों के मिश्रित घोल में मादकता का अविर्भाव होना सम्भव है; किन्तु शरीरादि भूत-भौतिक द्रव्यों में ऐसा नहीं है। सम्पूर्ण जगत् के मूल तत्त्वों में किसी भी रूप में चैतन्यता का अंश नहीं पाया जाता।

अतः इस तरह के तत्त्वों का कोई भी कार्य चेतन नहीं कहा जा सकता है। अतः हर शरीर में एक अन्य चेतन भोक्ता का ग्रहण किया जाना अनिवार्य है॥ २२॥

**( २३४ ) ज्ञानान्मुक्तिः ॥ २३ ॥**

**सूत्रार्थ—** ज्ञानात् = चेतन-अचेतन के भेद साक्षात्कार से, मुक्तिः = मोक्ष की प्राप्ति सम्भव है।

**व्याख्या—** जब व्यक्ति आत्म साक्षात्कार के द्वारा चेतन-अचेतन के भेद को जान लेता है, तब उस अवस्था को ज्ञान प्राप्ति अर्थात् मोक्ष का प्राप्त होना कहा जाता है। इस जगत् में प्राकृत करणों द्वारा चारों ओर से आवृत आत्मा, सांसारिक सुख-दुःख आदि भोगों में यथावत् आसक्त बना रहता है; किन्तु जब कभी पूर्व संचित संस्कारों, गुरुकृपा अथवा अन्य किन्हीं कारणों से उसके आध्यात्मिक भावों का जागरण होता है, तब उसकी प्रवृत्ति बाह्य विषयों से हटकर अन्तस् की ओर आकृष्ट हो जाती है अर्थात् वह अन्तर्मुखी हो जाता है।

तभी आत्मा अपने वास्तविक रूप को जानने हेतु बेचैन हो उठता है। इंद्रिय संयम द्वारा समाधि लाभ के लिए सतत प्रयत्न करता रहता है। वह दृढ़ संकल्प एवं नियमित अभ्यास द्वारा समाधि-लाभ के पश्चात् अपने शुद्ध चेतन स्वरूप का साक्षात्कार करता है। वह अनुभव करता है कि 'आत्मा' अचेतन विकारमय परिणामिनी प्रकृति से सर्वथा भिन्न है।

ऐसी स्थिति में करणों का सम्पूर्ण व्यापार समाप्त हो जाता है। यही आत्मा के मोक्ष-प्राप्ति की अवस्था है। इस अवस्था को ही व्यक्ति आत्म साक्षात्कार द्वारा प्राप्त करता है॥ २३॥

**( २३५ ) बन्धो विपर्ययात् ॥ २४ ॥**

**सूत्रार्थ—** विपर्ययात् = विपर्यय अर्थात् आत्मज्ञान के अभाव से, बन्धः = जन्म-मृत्यु का बंधन बना रहता है।

**व्याख्या—** विपर्यय अर्थात् आत्मज्ञान के अभाव से अज्ञानता के कारण जीवात्मा में जन्म-मृत्यु के बंधन की स्थिति बनी रहती है। इस स्थिति में आत्मा के साथ बुद्धि आदि करणों पर आवरण का ढँका

होना एवं आत्मा के भोगों की पूर्ति हेतु उनका प्रवर्तन यथावत् गतिशील रहता है। ऐसी अवस्था को लाने की स्थिति बनी रहती है, जब सभी प्रवृत्तियों का आकर्षण अध्यात्म की तरफ हो जाता है, तब उस अवस्था में आत्मा वर्ण, आश्रम आदि धर्मों एवं सामाजिक परिस्थिति का परिपालन करता हुआ आध्यात्मिक प्रगति के पथ पर आरूढ़ हुआ अग्रसर होता रहता है॥ २४॥

**( २३६ ) नियतकारणत्वान्न समुच्चयविकल्पौ॥ २५॥**

**सूत्रार्थ**— नियतकारणत्वात् = निश्चित कारण होने से, समुच्चयविकल्पौ = समुच्चय अथवा विकल्प, न = नहीं है।

**व्याख्या**— मोक्ष की अवस्था प्राप्त होने का कारण निश्चित है। वह निश्चित कारण ज्ञान है। ज्ञान के उद्‌भव से मोक्ष की प्राप्ति शक्य है। इसलिए समुच्चय अर्थात् किसी दूसरे कारण का उसमें आकर सम्मिलित हो जाना अथवा विकल्प अर्थात् कभी किसी एक कारण द्वारा मोक्ष प्राप्त होना तथा कभी किसी अन्य कारण से, ऐसी सम्भावना उसमें नहीं रहती। मोक्ष की स्थिति उत्पन्न करने वाला निश्चित कारण आत्मज्ञान है।

यजु०-३१/१८, श्वेता०उ०-३.८ और ६.१५ में इसका विवेचन इस प्रकार है-'**तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय**' अर्थात् जो प्रकृति से परे चैतन्यमय पुरुष है, उसे ही जानकर प्राकृत बन्धनों से मुक्त होना सम्भव है। मोक्ष प्राप्ति के लिए और कोई अन्य मार्ग नहीं है। अतः इस सन्दर्भ में कारणों के समुच्चय अथवा विकल्प की सम्भावना नहीं की जा सकती। ज्ञान के प्रकट होने पर मोक्ष की प्राप्ति सहज सम्भव है॥ २५॥

**( २३७ ) स्वप्नजागराभ्यामिव मायिकामायिकाभ्यां नोभयोर्मुक्तिः पुरुषस्य॥ २६॥**

**सूत्रार्थ**— मायिकामायिकाभ्याम् = मायिक (असत्य) और असामायिक (सत्य) दोनों से, स्वप्नजागराभ्याम् = स्वप्न एवं जागृति के लिए (विकल्प एवं समुच्चय का प्रश्न नहीं), इव = जैसे, पुरुषस्य = पुरुष (आत्मा) का, मुक्ति = मोक्ष, उभयोः = दोनों के (विकल्प, समुच्चय से), न = नहीं है।

**व्याख्या**— माया द्वारा सम्बन्धित कार्यों को मायिक और ब्रह्म (पुरुष)-सत्य से सम्बन्धित कार्यों को अमायिक (माया रहित) कहा जाता है। स्वप्न और जाग्रत् - ये दोनों अवस्थायें पृथक्-पृथक् हैं। ये दोनों एक ही समय में नहीं रह सकतीं। व्यक्ति जब स्वप्न में होता है, तब जाग्रत् असम्भव है और जब जाग्रत् अवस्था में रहता है, तब स्वप्न नहीं आते। स्वप्न दृष्टिगोचर होना अवास्तविक, अस्थिर है; अतः यहाँ पर सूत्रकार ने इस अवस्था को मायिक कहा है।

जागृति वास्तविक है, उसमें सभी तत्त्वों का यथार्थ बोध होता है। इसी सत्य स्वरूप यथार्थ बोध की स्थिति को अमायिक अर्थात् मायारहित कहा गया है। इन दोनों स्थितियों का एक साथ होना (समुच्चय) अशक्य है और स्वप्न की प्रतीति कभी सोते में और कभी जागृति में हो या फिर जागृति में सामने कुछ हो और दृष्टिगोचर कुछ हो, ऐसा विकल्प भी अशक्य है। इस प्रकार जीवात्मा की मोक्ष प्राप्ति में भी समुच्चय या विकल्प नहीं हो सकता।

यहाँ पर मात्र ज्ञान एवं कर्म के अवस्था भेद के प्राकट्य हेतु उक्त दृष्टान्त कहा गया है। सकाम कर्म सांसारिक भोग साधनों का एक अंग है और निष्काम कर्म भोग प्राप्ति के अतिरिक्त अन्तःकरण की शुद्धि के लिए होते हैं। अन्तःकरण के परिष्कार का भाव यही है कि उस अवस्था में करणों की प्रवृत्ति आध्यात्मिकता की तरफ हो जाती है। कर्मों का कार्य व्यापार मात्र इतना ही है। इसके आगे उपासना एवं ध्यान आदि से

समाधि की स्थिति तक पहुँचने पर स्वत: ही आत्मसाक्षात्कार हो जाता है। यह आत्मबोध ही मोक्ष प्राप्ति का साधन है। आत्मा की इस अवस्था में कर्म करने या न करने की कल्पना ही नहीं उठती, तो फिर इनके समुच्चय या विकल्प की सम्भावना ही कहाँ रह जाती है?॥ २६॥

**( २३८ ) इतरस्यापि नात्यन्तिकम्॥ २७॥**

**सूत्रार्थ—** इतरस्य = अन्य (कर्म) का (फल), अपि = भी, आत्यन्तिकम् = बहुत अधिक (सार्वकालिक), न = नहीं है।

**व्याख्या—** कर्मानुष्ठान के रूप—प्रथम-सकाम तथा द्वितीय निष्काम होते हैं। किसी फलप्राप्ति की आकांक्षा-कामना से किये गये कर्म सकाम कहलाते हैं। मोक्षप्राप्ति के लिए सकाम कर्म द्वारा कोई भी अभीष्ट सिद्ध नहीं हो सकता। अत: सकाम फल सार्वकालिक नहीं होते, इसके अतिरिक्त अन्य जो दूसरे निष्काम कर्म हैं, वे सर्वाधिक महत्त्व के होते हुए भी आत्यन्तिक (पूर्ण रूपेण मोक्ष रूप) फल वाले नहीं होते। मोक्षप्राप्ति हेतु एक मात्र विवेक-ज्ञान अर्थात् चेतन-अचेतन का भेद प्राप्त करना ही उचित है। ऐसा दिव्य ज्ञान आत्म-साक्षात्कार के अभाव में अशक्य है अर्थात् आत्मसाक्षात्कार द्वारा ही इसे प्राप्त किया जा सकता है। इसीलिए इनका (कर्मों का)समुच्चय-विकल्प असम्भव है, जैसा कि उपर्युक्त सूत्र में कहा जा चुका है॥ २७॥

**( २३९ ) संकल्पितेऽप्येवम्॥ २८॥**

**सूत्रार्थ—** संकल्पिते = संकल्प की अवस्था में, अपि = भी, एवम् = ऐसा ही जानना चाहिए अर्थात् वह आत्यन्तिक नहीं है।

**व्याख्या—** जब कोई समर्थ योगी अपने संकल्पबल से किसी जिज्ञासु व्यक्ति पर, जिस समय तक शक्ति का संचरण करता है, तभी तक वह जिज्ञासु साधक उस समयावधि में एक ज्ञानवान् की स्थिति का अनुभव करता है। वह शक्ति-संचरण से प्रदत्त ज्ञान आत्यन्तिक अर्थात् स्थायी नहीं होता। संचारित शक्ति का प्रभाव रहने तक ही वह जिज्ञासु, ज्ञानी जैसी अवस्था की अनुभूति कर सकता है। प्रभाव हटते ही पुन: सामान्य स्थिति में आ जायेगा। हाँ,यह निश्चित है कि उसकी यह स्थिति उसे आध्यात्मिक पथ पर बढ़ने के लिए सर्वाधिक सहयोगी होती है।

जिस तरह कामनारहित कर्म अध्यात्म मार्ग के लिए महत्त्वपूर्ण है, वैसे ही कुछ अधिक मात्रा में समर्थ योगी का संकल्प बल जिज्ञासु के लिए आध्यात्मिक पथ हेतु सहयोगी होता है। तत्पश्चात् दृढ़ वैराग्य आदि के साथ नियमित अभ्यास द्वारा समाधि लाभ प्राप्त करके, जब जिज्ञासु व्यक्ति आत्मसाक्षात्कार कर लेता है,तभी उसे मोक्ष की प्राप्ति होती है। इस प्रकार किसी योगी के संकल्प बल से प्रदत्त शक्ति संचरण किसी भी जिज्ञासु के लिए मोक्षप्राप्ति का साधन नहीं हो सकता॥ २८॥

**( २४० ) भावनोपचयाच्छुद्धस्य सर्वं प्रकृतिवत्॥ २९॥**

**सूत्रार्थ—** शुद्धस्य = पवित्र अन्त:करण वाले पुरुष के, भावनोपचयात् = समाधि भावना की उत्कृष्टतम अवस्था द्वारा, सर्वम् = सभी कुछ (सम्भव है), प्रकृतिवत् = प्रकृति के समान।

**व्याख्या—** पवित्र अन्त:करण सम्पन्न पुरुष, सद्भावपूर्वक की हुई योग-साधना से उत्पन्न शक्ति की उन्नत अवस्था प्राप्त होने के कारण प्रकृति-नियमानुकूल समस्त कार्यों को (सभी कुछ) कर सकता है। इसी प्रकार शक्ति सम्पन्न योगी अपने से सम्बन्धित समस्त कार्यों के लिए दूसरे किसी अन्य बाहरी साधन के अभाव में भी समर्थ होता है।

इस तरह से योगी-साधक किसी भी अविवेकी जिज्ञासु को अपने संकल्प-बल से आत्म-ज्ञानी की स्थिति का बोध करा सकता है; लेकिन इससे जिज्ञासु को मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता; क्योंकि मोक्ष-प्राप्ति तो आत्म-साक्षात्कार द्वारा ही सम्भव है॥ २९॥

**( २४१ ) रागोपहतिर्ध्यानम्॥ ३०॥**

**सूत्रार्थ—** रागोपहतिः = राग का शमन, ध्यानम् = ध्यान (आत्म-चिन्तन) द्वारा हो सकता है।

**व्याख्या—** उपर्युक्त सूत्रों द्वारा यह निश्चित हो गया है कि आत्म-साक्षात्कार द्वारा ही मोक्ष-प्राप्ति सम्भव है। अब यहाँ से आगे के सूत्रों में आत्म-साक्षात्कार के साधनों का निरूपण किया जा रहा है-विषय वासनाओं में बुद्धि की आसक्ति का होना ही राग कहलाता है। इससे आध्यात्मिक प्रगति सम्भव नहीं है। यह आत्म साक्षात्कार का महान् प्रतिबन्धक (अवरोधक) है। मोक्ष पाने के लिए सर्वप्रथम विषयों का परित्याग करना परमावश्यक है, इसी कारण सबसे पहले ध्यान करना ही आवश्यक है। राग का समापन जिस साधन के द्वारा हो सके, उसे ही ध्यान कहते हैं। बुद्धि की एक ऐसी स्थिति का नाम ध्यान है, जहाँ बुद्धि वृत्ति विषयों की तरफ प्रवृत्त न होकर, मात्र आत्मा की तरफ लगी हो। विषय-रहित मन को ही ध्यान की अवस्था कहा गया है। जब कोई बाह्य विषय अन्तःकरण में प्रतिभासित नहीं होता, तब मात्र आत्म विषयक वृत्ति सतत सक्रिय रहती है, ऐसी स्थिति को ही ध्यान कहा गया है। इस प्रकार के ध्यान में जब वृत्ति अंश का पूर्ण रूपेण शमन हो जाता है, तब केवल ध्येय (आत्म तत्त्व) स्वयमेव प्रतिभासित होता है, तभी समाधि की स्थिति प्राप्त होकर मोक्ष अर्थात् आत्म-साक्षात्कार होता है॥ ३०॥

**( २४२ ) वृत्तिनिरोधात् तत्सिद्धिः॥ ३१॥**

**सूत्रार्थ—** वृत्तिनिरोधात् = वृत्तियों के निरोध से, तत्सिद्धिः = ध्यान की सिद्धि हो सकती है।

**व्याख्या—** सभी विषयों से चित्त को हटाकर केवल हृदयस्थ आत्मा में स्थिर किये रखना ही ध्यान अवस्था की सिद्धि होती है; किन्तु चित्त को किसी एक स्थान पर स्थिर रखना भी कोई सामान्य कार्य नहीं है। बार-बार चित्त केन्द्रित स्थल से उचट कर पूर्व अनुभूत विषयों की ओर भागता रहता है। ऐसी स्थिति में परमावश्यक हो जाता है कि चित्त को विषयों से निरोध कर एकमात्र हृदयस्थ आत्मा में ही स्थिर करे। **इसी से शनैः शनैः दीर्घ कालीन नियमित दृढ़ संकल्प से ध्यान की स्थिति बनने लगती है। इसी को** वृत्तियों का निरोध (रोकना) कहते हैं॥३१॥

**( २४३ ) धारणासनस्वकर्मणा तत्सिद्धिः॥ ३२॥**

**सूत्रार्थ—** धारणासनस्वकर्मणा = धारणा, आसन और स्वकर्म द्वारा, तत्सिद्धिः = वृत्तियों के निरोध की सिद्धि प्राप्त की जा सकती है।

**व्याख्या—** धारणा, आसन एवं अपने कर्मों के अनुष्ठान द्वारा वृत्ति निरोध की सिद्धि प्राप्त हो सकती है। विषयों की तरफ से वृत्तियों का निरोध अत्यन्त दुरूह कार्य है; क्योंकि स्वभावतः चित्त-वृत्तियाँ बारम्बार ध्यान से अलग होकर विषयों की तरफ प्रवृत्त होती हैं। अतः वृत्तियों के निरोध के लिए ही इस प्रकार के नियमित अभ्यास करने का निर्देश किया गया है।

सूत्रकार ने जिन धारणादि उपायों को निर्दिष्ट किया है, उनके दीर्घकालीन नियमित अभ्यास की आवश्यकता होती है। अधिकांशतः शुरू या बीच में ही जिज्ञासाओं का धैर्य टूट जाता है और इन्द्रिय-वृत्तियाँ उसे पुनः विषयों में ला पटकती हैं। धैर्यवान् साधक ही इस संघर्ष में दीर्घकाल के अभ्यास द्वारा सफल हो पाते हैं॥ ३२॥

**( २४४ ) निरोधश्छर्दिविधारणाभ्याम्॥ ३३॥**

**सूत्रार्थ—** छर्दिविधारणाभ्याम् = छर्दि अर्थात् ( श्वास को बाहर निकालने) और विधारण ( श्वास को अन्दर धारण करने) से (प्राणों का), निरोधः = निरोध-सम होना (प्राणायाम कहलाता है)।

**व्याख्या—** 'छर्दि' वमन को कहते हैं; किन्तु यहाँ सूत्र में 'छर्दि' पद का भाव श्वास को बाहर छोड़ने से है और 'विधारण' का तात्पर्य श्वास को धारण करने से है। छर्दि एवं विधारण द्वारा प्राणों का वश में किया जाना ही प्राणायाम कहलाता है। स्वभाववश चलती हुई श्वास को अधिक मात्रा में खींचकर अन्दर यथासम्भव स्थिर रखने को 'विधारण' कहा गया है। योग की परिभाषा में इसे 'कुम्भक' कहा जाता है। जब प्राण का 'विधारण' असम्भव हो जाये, तब उसे शनैः-शनैः बाहर निकालना ही 'छर्दि' है, इसे 'रेचक' कहते हैं। जो श्वास 'विधारण' से पूर्व अन्दर को अधिक खींचा जाता है, उसे 'पूरक' कहते हैं। पूरक के अभाव में 'विधारण' असम्भव है, इसलिए वह पूरक का भी उपलक्षण कहा गया है। इस तरह प्राणायाम के बारम्बार नियमित अभ्यास से प्राण की गति सूक्ष्मातिसूक्ष्म होती जाती है। निरन्तर प्राणायाम से थका हुआ मन अनायास ही किसी एक क्षेत्र में रोककर स्थिर किये जाने की दशा में हो जाता है।

इस प्रकार प्राणायाम करने से थकित हुआ मन (चित्त) वश में हो जाता है। प्राणायाम के पश्चात् क्षेत्र विशेष में मन के निरोध (रोकने) का अभ्यास ही 'धारणा' कहलाता है। चित्तवृत्तियों का निरोध करने के लिए सबसे पहले धारणा का अभ्यास करना परमावश्यक है॥ ३३॥

**( २४५ ) स्थिरसुखमासनम्॥ ३४॥**

**सूत्रार्थ—** स्थिरसुखम् = सुखपूर्वक दीर्घकाल तक स्थिर होकर बैठ सकें (वह स्थिति), आसनम्= आसन कहलाती है।

**व्याख्या—** सुखपूर्वक लम्बे समय तक स्थिर होकर बैठने (शरीर की स्थिति) की किसी भी मुद्रा को 'आसन' कहा गया है; लेकिन अभ्यास क्रम के समय में अपने बैठने की स्थिति को बारम्बार परिवर्तित न किया जाये। इसीलिए दो-चार घण्टे तक एक आसन में स्थिरतापूर्वक बैठे रहने का अभ्यास पूर्व से जरूर होना चाहिए; ताकि अभ्यास के समय में कोई भी शारीरिक कष्टानुभूति न हो। उस स्थिति में यदि शारीरिक थकान या किसी अंग में कष्ट होने लगे, तो फिर वह वृत्तियों के रोकने में असमर्थ हो जायेगा।

बार-बार आसन परिवर्तन से वृत्तियों के निरोध में मुश्किलें आ खड़ी होती हैं, अतः योगाभ्यास में बैठने से पूर्व सप्ताह-दो सप्ताह तक किसी भी एक आसन से बैठने का अभ्यास कर लेना चाहिए। योगासनों के विभिन्न भेद शास्त्रकारों ने विवेचित किये हैं; किन्तु जो आसन अपने शारीरिक स्थिति के अनुकूल हो, उसी आसन पर स्थिर होकर अभ्यास करना चाहिए॥३४॥

**( २४६ ) स्वकर्म स्वाश्रमविहितकर्मानुष्ठानम्॥ ३५॥**

**सूत्रार्थ—** स्वाश्रम = अपने आश्रम के लिए, विहित = निश्चित किये गये, कर्मानुष्ठानम् = कर्म का अनुष्ठान करना ही, स्वकर्म = अपना कार्य कहा जाता है।

**व्याख्या—** अपने आश्रम हेतु निश्चित किये गये कर्मों का अनुष्ठान यहाँ सूत्र में 'स्वकर्म' पद से कहा गया है। इससे सूत्रकार का यह भाव ध्वनित होता है कि आश्रम में रहता हुआ भी व्यक्ति योग का अभ्यास कर सकता है। ब्रह्मचर्य,गृहस्थ,वानप्रस्थ एवं संन्यास-यही चार आश्रम कहे गये हैं। यह उचित है कि प्रत्येक आश्रम में रहते हुए योग का अभ्यास किया जा सकता है; किन्तु यदि कोई साधक उसे अभ्यास

में बाधक समझता है,तो नियमानुकुल उस स्थिति में परिवर्तन कर सकता है। आश्रम हेतु निश्चित किये गये कर्मों में सहज कर्मों को ही यहाँ स्वीकार करना चाहिए तथा योगाभ्यास के लिए स्वानुकूल कार्यों के प्रति विशेषतया जागरूक होकर चिन्तन करते रहना चाहिए।

ऐसी स्थिति में जीवन निर्वाह आदि के लिए किसी भी स्वानुकूल कार्य को करते हुए निरन्तर यथावत् नियमित रूप से योगाभ्यास करते रहना चाहिए॥ ३५॥

**( २४७ ) वैराग्यादभ्यासाच्च॥ ३६॥**

**सूत्रार्थ**— वैराग्यात् = वैराग्य से, च = और, अभ्यासात् = अभ्यास से (समाधि-लाभादि कर्म की सिद्धि प्राप्त होती है)।

**व्याख्या**— योग की सिद्धि हेतु वैराग्य एवं अभ्यास दोनों ही परमावश्यक हैं। वैराग्य अर्थात् विषयों में आसक्ति के न होने और अभ्यास अर्थात् प्राणायाम, ध्यान आदि के द्वारा सतत अभ्यास करते रहने से समाधि की स्थिति में पहुँचकर आत्मसाक्षात्कार कर लेना है। वैराग्य एवं अभ्यास प्रत्येक अध्यात्म मार्ग के अनुयायी के लिए सहज है, फिर भी जिन श्रेष्ठ सत्पात्रों को यम-नियमादि के अभ्यास की आवश्यकता नहीं होती, उनकी दृष्टि से इनका पृथक् उपाय के रूप में उल्लेख कर दिया गया है॥ ३६॥

**( २४८ ) विपर्ययभेदाः पञ्च॥ ३७॥**

**सूत्रार्थ**— विपर्ययभेदाः = विपर्यय के भेद, पञ्च = पाँच हैं।

**व्याख्या**— ज्ञान विपर्यय अर्थात् ज्ञान का विलोम 'अज्ञान' है। उसी के द्वारा बन्धन होना कहा गया है। सूत्रान्तर्गत विपर्यय के पाँच भेद इस प्रकार हैं-१. अविद्या २. अस्मिता ३. राग ४. द्वेष ५. अभिनिवेश। इनके अपर शास्त्रीय नाम क्रमशः इस प्रकार हैं- १. तमस् २. मोह ३. महामोह ४. तामिस्र एवं ५. अन्ध तामिस्र। इन विपर्ययों की विवेचना इस प्रकार की गई है - **१. अविद्या** (तमस्)- अनित्य, अपवित्रता, दुःख तथा अनात्मरूप तत्त्वों में नित्य, शुचि, सुख एवं आत्मरूप की भावना का भान होने को ही अविद्या (तमस्) कहा गया है। **२. अस्मिता** (मोह)- शरीर या बुद्धि आदि जो आत्मा की भोग-सामग्री है, उन्हें ही आत्मा मानना 'अस्मिता' (मोह) कहलाता है। **३-४ राग-द्वेष** (महामोह-तामिस्र) स्वानुकूल प्रतीत होने वाले तत्त्वों में 'राग' और प्रतिकूल में 'द्वेष' भावना हो जाती है। ऐसा स्वभाव हमेशा आध्यात्मिक पथ में बाधक होता है, इसे ही 'महामोह' एवं 'तामिस्र' के नाम से जाना जाता है। **५. अभिनिवेश** (अन्धतामिस्र)- मैं कभी नष्ट नहीं होऊँ, सदैव जीवित बना रहूँ, यही भावना 'अभिनिवेश' कहलाती है। प्रत्येक प्राणी को अपने सन्मुख मरता हुआ देखकर भी अपने सम्बन्ध में उसी रूप में अमरण धर्मा बने रहने का विचार घोर अन्धकार (अन्धतामिस्र) की अवस्था है।

वस्तुतः इस तरह की बुद्धिगत भावनाएँ प्रायः अलग-अलग होती रहती हैं; लेकिन इन सभी का प्रमुख आधार अविद्या (तमस्) ही है॥ ३७॥

**( २४९ ) अशक्तिरष्टाविंशतिधा तु॥ ३८॥**

**सूत्रार्थ**— अशक्तिः = अशक्ति, तु = तो, अष्टाविंशतिधा = अट्ठाईस प्रकार की है।

**व्याख्या**— अट्ठाईस प्रकार की 'अशक्ति' प्रसिद्ध है। आत्मा के भोग आदि के साधन रूप ग्यारह इन्द्रियाँ, नौ तुष्टियाँ एवं आठ सिद्धियाँ इस प्रकार से अट्ठाईस कही गई हैं, यहाँ इस सूत्र में एकादश इन्द्रियों का उल्लेख किया गया है, इन इन्द्रियों का विघात होने अर्थात् इनके विनष्ट होने से इन्द्रिय शक्ति का अभाव हो जाता है। यही इन्द्रिय अशक्ति है।

इसी प्रकार तुष्टियों एवं अष्ट सिद्धियों (सत्रह घटकों) में विघात उत्पन्न होने से 'बुद्धि का विघात' हो जाता है; क्योंकि ये सत्रहों बुद्धिवृत्ति रूप हैं। जिस प्रकार चक्षु नाश से दिखाई नहीं पड़ता, श्रोत्र के नष्ट होने से सुनाई नहीं पड़ता, पैरों के नष्ट होने से चल-फिर नहीं सकता, उसी प्रकार यह सब साधन हीनताएँ आत्मसाक्षात्कार में बाधक सिद्ध होती हैं; क्योंकि जब तक साधक स्वस्थ एवं नीरोग नहीं होगा, तब तक वह योग का अभ्यास करने में समर्थ नहीं हो सकता॥ ३८॥

**( २५० ) तुष्टिर्नवधा॥ ३९॥**

**सूत्रार्थ—** तुष्टिः = तुष्टि, नवधा = नौ प्रकार की है।

**व्याख्या—** यहाँ तुष्टि का भाव परितोष या संतोष से है। इसके नौ भेद कहे गये हैं। सूत्रकार ने इनके भेदों का तैतालीसवें सूत्र में विस्तार से वर्णन किया है। ये तुष्टियाँ भी आत्म साक्षात्कार में बाधक कही गई हैं; क्योंकि साधक यह संतोष कर ले कि मेरी अमुक साधना पूर्ण हो चुकी है, अब मुझे कुछ करना शेष नहीं रहा। इस तरह की भावना से परिश्रम एवं साधन में उपेक्षा होने लगती है तथा साधना का नियमित अभ्यास छूट जाने की आशंका हो सकती है॥ ३९॥

**( २५१ ) सिद्धिरष्टधा ॥ ४०॥**

**सूत्रार्थ—** सिद्धिः = सिद्धि, अष्टधा = आठ प्रकार की कही गई है।

**व्याख्या—** योगाभ्यासी साधक आत्म साक्षात्कार की प्राप्ति हेतु जब सतत प्रयत्नशील रहता है, तब वह कभी-कभी एक विस्मयकारी स्थिति का अनुभव करता है। अचानक वह कभी अपनी उपासना में प्रदीप्त प्रकाश देखता है, तो कभी स्वयं को महान् योगी आत्माओं के सान्निध्य में पाता है, जो उसका पथ-प्रशस्त करती दीखती हैं। कभी अचानक इतना अधिक हृदयोल्लास की अनुभूति करता है, कि वह उस आवेग को रोक नहीं पाता। कभी-कभी जटिलतम समस्याओं का समाधान अचानक थोड़े ही श्रम से कर लेता है। कभी वह विभिन्न तरह की सुमधुर स्वर लहरियों (ध्वनियों) का श्रवण करता है। वह इन अवस्थाओं को सिद्धि मानकर इन्हीं में उलझा रहता है, आत्मसाक्षात्कार का लक्ष्य तो दूर ही रह जाता है। अतः ये सिद्धियाँ आत्मज्ञान के लिए बाधक कही गई हैं; किन्तु अधिकांशतः साधक इनसे उत्साहित होकर तीव्र प्रयासपूर्वक अपने आत्मसाक्षात्कार के लक्ष्य को पा भी लेते हैं।

इस तरह से ये अष्ट सिद्धियाँ योग मार्ग में सहयोगी भी कही गई हैं। इनको आठ भागों में विभाजित किया गया है। इनके भेद को अलग-अलग विस्तार से इसी अध्याय के चौवालीसवें सूत्र में सूत्रकार ने निर्देशित किया है। यहाँ तो मात्र इसके महत्त्व को ही प्रतिपादित किया गया है॥ ४०॥

**( २५२ ) अवान्तरभेदाः पूर्ववत्॥ ४१॥**

**सूत्रार्थ—** अवान्तरभेदाः =अवान्तरभेद,पूर्ववत् = पूर्व में( ३३ वें सूत्र में)कहे गये के अनुसार हैं।

**व्याख्या—** विपर्यय के अवान्तर भेद पाँच होते हैं, जो कि पूर्व (तैतीसवें सूत्र) में बतलाये जा चुके हैं। यदि इनका विस्तृत वर्णन किया जाये, तो इनकी संख्या (इनके भेद) बासठ हो जाती है। जैसे अविद्या के तीन भेद- अव्यक्त, महत्, अहंकार और पाँच तन्मात्राएँ कुल मिलाकर आठ भेद हुए। इन आठ भेदों का अनात्म में आत्मा मानना, जैसे यह मैं हूँ, यह मेरा है 'अस्मिता' अर्थात् मोह है।

शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध ये पाँच विषय देवों एवं मानवों द्वारा ग्रहणीय होने से दस विषय हो जाते हैं, इन्हें ही राग कहते हैं। 'अविद्या' एवं 'अस्मिता' के आठ और राग के दस। इस प्रकार अठारह प्रकार हुए। अमृत्यु की इच्छा वाली वृत्तियाँ अठारह प्रकार की होने के कारण 'अभिनिवेश' के भी अठारह भेद

होते हैं। इस तरह से सामान्य रूप से पाँच विपर्ययों के बासठ भेद हुए। अविद्या के आठ, अस्मिता के आठ, राग के दस, द्वेष के अठारह तथा अभिनिवेश के अठारह कुल बासठ भेद हो जाते हैं॥ ४१ ॥

**( २५३ )  एवमितरस्याः ॥ ४२ ॥**

**सूत्रार्थ—** एवम् = इसी प्रकार, इतरस्याः = (विपर्यय से) क्रम प्राप्त दूसरे (अशक्ति के) भेदों को पूर्व की भाँति समझना चाहिए।

**व्याख्या—** इतर अर्थात् विपर्यय से दूसरी 'अशक्ति' के भेदों की भी इसी तरह से विवेचना करनी चाहिए। जिस प्रकार विपर्यय में आधारों की विशेषता द्वारा भेदों को विवेचित किया गया है, उसी प्रकार अशक्ति में भी किया जा सकता है। इसके अट्ठाईस भेद कहे गये हैं। एकादश भेद इन्द्रियों के नष्ट होने के आधार पर तथा सत्रह भेद बुद्धि के विघात (नष्ट) होने के आधार पर किये गये हैं।

इस प्रकार से अट्ठाईस प्रकार के भेदों की अशक्ति का विवेचन अड़तीसवें सूत्र में विस्तार से कर दिया गया है॥ ४२ ॥

**( २५४ )  आध्यात्मिकादिभेदान्नवधा तुष्टिः ॥ ४३ ॥**

**सूत्रार्थ—** आध्यात्मिकादिभेदात्=आध्यात्मिक आदि भेद से,तुष्टिः=तुष्टि,नवधा=नौ प्रकार की है।

**व्याख्या—** आध्यात्मिक भेद से एवं 'आदि' पद से 'बाह्यविषयक' भेद द्वारा तुष्टि के नौ प्रकार कहे गये हैं। आध्यात्मिक तुष्टि के चार भेद इस प्रकार हैं- १. प्रकृति २. उपादान ३. काल एवं ४. भाग्य और बाह्यविषयक तुष्टि के पाँच भेद इस प्रकार हैं- १. अर्जन २. रक्षण ३. क्षय ४. भोग और ५. हिंसा। इन नौ तुष्टियों का विवेचन यहाँ विस्तार से किया जा रहा है-

जब मनुष्य सभी कुछ प्रकृति का ही परिणाम मानने लगता है, वही सब कुछ करती है तथा स्वकर्त्तव्य कुछ भी नहीं मानता, तब ऐसी स्थिति का होना ही 'प्रकृति' नामक तुष्टि कहा गया है। इसे 'अम्भ' नाम से भी जाना जाता है। जटा-जूट बढ़ाकर संन्यासी का रूप धारण कर लेने मात्र से ही मोक्ष मिल जायेगा, इसी में संतुष्ट होना ही 'उपादान' नामक तुष्टि कहा गया है। इसका अपर नाम 'सलिल' है। संन्यास ग्रहण कर थोड़ा बहुत जप-तप करने मात्र से कष्ट से बचे रहने की भावना कर लेना और यह सोचना कि जब समय आयेगा, सिद्धि मिल जायेगी। हर कार्य नियत समय पर ही होता है, व्यर्थ आत्मज्ञान हेतु कष्ट क्यों किया जाय? इसे 'काल' नामक तुष्टि कहा गया है। इसे 'ओघ' के नाम से भी जाना जाता है। ऐसे ही जब भाग्य में होगा; तब स्वतः ही सिद्धि मिल जायेगी, उसके लिए यम-नियम आदि का पालन एवं धारणा-ध्यान का अभ्यास व्यर्थ है। भाग्य के बिना सब कुछ असम्भव है, ऐसा सोचकर बैठे रहना 'भाग्य' नामक तुष्टि कही गई है। इसका द्वितीय नाम 'तुष्टि' है।

ये चार आध्यात्मिक तुष्टि इसलिए कही गयी हैं कि यह भावना स्वयं अन्तस् में जागती है, इन पर बाह्य विषयों का तनिक भी प्रभाव नहीं होता। अब बाह्य विषयक पाँच तुष्टियों का वर्णन करते हैं। शब्दादि विषयों में अर्जन, रक्षण, क्षय, भोग एवं हिंसा आदि दोषों के कारण उत्पन्न हुई भावना द्वारा संतुष्ट होकर जिज्ञासु जन बैठे रहते हैं। कुछ साधकों द्वारा आत्मज्ञान के लिए प्रयास न करके विषयों के अर्जन हेतु खेती, पशुपालन, व्यवसाय, उद्योग आदि कष्ट साध्य कार्य करने होते हैं, ऐसा सोचकर विषयों से उपरत होने में स्वतः को कृतकृत्य मान लेने को पाँचवीं तुष्टि 'अर्जन' कहा गया है। इसे 'पार' नामक तुष्टि के नाम से भी जाना जाता है। विषयों का अर्जन करके राजा, बन्धु-बान्धव तथा चोर आदि से उनकी रक्षा करने में अत्यन्त कष्ट है, इस भावना से विषयों के परित्याग मात्र में सन्तुष्ट हो जाना छठी तुष्टि 'रक्षण' के नाम से जानी जाती

है। इसे ही 'सुपार' तुष्टि कहा गया है। रक्षा करने के उपरान्त भी यह पदार्थ विनष्ट ही हो जाते हैं, अतः रक्षा करने से क्या लाभ? इस भावना को सातवीं तुष्टि 'क्षय' कहा गया है। इसका दूसरा नाम 'पारावार' है। धन-संचय तथा उसकी रक्षा आदि होने पर भोग आदि से इन्द्रियों की तृप्ति नहीं होती, तृष्णा यथावत् बनी रहती है तथा भोगों में पीड़ा ही पीड़ा है। इस भावना से विषयों की उपरति मात्र से संतुष्ट हो जाना आठवीं तुष्टि 'भोग' कहलाती है। इसे ही 'अनुत्तमाम्भ' के नाम से जाना जाता है। अर्जन, रक्षण एवं क्षय का प्रतिकार तथा भोग आदि के रहने पर जब ये भाव आये कि सभी भोग अन्य भूतों को बिना कष्ट पहुँचाये नहीं हो सकते। अतः विषयों को भोगना, दूसरे प्राणियों की हिंसा करना है। इसलिए विषयों को दूसरों के अहित में जानकर कर्म से विमुख होना नवीं तुष्टि 'हिंसा' कही गई है। इसे 'उत्तमाम्भ' के नाम से भी जाना जाता है।

इस तरह से मनुष्य इन नौ तुष्टियों द्वारा आत्मज्ञान के लिए प्रयास नहीं करता है, इसी कारण इन तुष्टियों को मोक्षमार्ग में बाधा प्रदान करने वाली कहा गया है॥ ४३॥

**( २५५ ) ऊहादिभिः सिद्धिरष्टधा॥ ४४॥**

**सूत्रार्थ—** ऊहादिभिः=ऊह आदि भेदों के द्वारा,सिद्धिः=सिद्धि,अष्टधा=आठ प्रकार की कही है।

**व्याख्या—** ऊह आदि भेदों से सिद्धि के आठ भेद (प्रकार) कहे गये हैं। १. ऊह, २. शब्द, ३. अध्ययन ४. आत्मिक दुःखविघात ५. भौतिक दुःख विघात ६. दैविक दुःखविघात ७. सुहृत्प्राप्ति एवं ८. दान। इन सभी में तीनों प्रकार के दुःखों का विघात प्रमुख सिद्धि है; क्योंकि इसी स्थिति की प्राप्ति हेतु सभी तरह के प्रयास किये जाते हैं।

शास्त्र के आरम्भ का एवं मानव-जीवन का भी यही एकमात्र लक्ष्य है। शेष पाँच प्रकार की सिद्धि तो इन प्रमुख तीन सिद्धियों की प्राप्ति में साधन मात्र हैं। जब साधन भूत ये सिद्धियाँ साधक को अपने आप में ही उलझा लेती हैं, तब साधक उन्हीं को परम लक्ष्य मानकर आत्मज्ञान प्राप्ति के प्रयत्न का त्याग कर देता है। इसीलिए उन्हें मोक्ष के मार्ग में बाधक बताया गया है।

कोई साधक जब यह विचार करने लगता है कि -आत्मा क्या है? मोक्ष क्या है? किस तरह से उसे प्राप्त किया जा सकता है? आदि इस तरह की भावनाओं से प्रेरित होकर प्रयासपूर्वक वह (साधक) स्वयं अथवा शास्त्र के अध्ययन एवं गुरु के सहयोग से आत्मलाभ पा लेता है। इसे ही 'ऊह' नामक सिद्धि के रूप में जाना जाता है। इसी तरह स्वाध्याय करते हुए किसी दूसरे व्यक्ति के शब्द को सुनकर जब यह ज्ञान हो जाये कि मैं आत्मा चैतन्यमय हूँ, यह प्रकृति जड़ एवं मेरे से अलग है, इस वास्तविकता को जानकर आत्मबोध हेतु प्रयास करता हुआ आत्मलाभ पा लेता है। इसे दूसरी 'शब्द' नामक सिद्धि कहा गया है। गुरु के समीप में रहते हुए नियमित सेवा-शुश्रूषा कर आध्यात्मिक ग्रन्थों का अध्ययन करके आत्मा की यथार्थता जानना व उसकी प्राप्ति के लिए प्रयास करते हुए आत्मसाक्षात्कार कर लेना तीसरी 'अध्ययन' नामक सिद्धि कही गई है।

उपर्युक्त वर्णित तीनों सिद्धियों के द्वारा साधक प्रयास पूर्वक कालान्तर में नियमित अभ्यास से समाधि की उत्तम स्थिति को प्राप्त कर लेता है। तब वह आत्मज्ञानी होकर आध्यात्मिक, भौतिक एवं दैविक दुःखों से मुक्त हो जाता है। यही तीन मुख्य सिद्धियाँ हैं, जिनका विघात (त्याग) कर देने से आत्मज्ञान की प्राप्ति में पर्याप्त सहायता मिलती है। इन्हें ही चौथी सिद्धि आत्मिक दुःखविघात, पाँचवीं भौतिक दुःखविघात और छठी को दैविक दुःख विघात के नाम से जाना जाता है। किसी तरह के प्रत्युपकार की आशा न रखते

हुए मात्र अपने हितैषी को त्रिविध ताप से मुक्ति दिलाने की भावना से प्रेरित कोई ऐसा सुहृद् प्राप्त हो जाये, जो आत्मिक प्रगति में सहयोग देता हुआ उत्कृष्ट ज्ञान (लक्ष्य) तक पहुँचा दे। इस प्रकार से सम्पन्न सिद्धि को सातवीं सिद्धि 'सुहृत्प्राप्ति' के नाम से अभिहित किया गया है। द्रव्य या अन्य धन आदि सामग्री प्रदान कर गुरु की सेवा-शुश्रूषा करते हुए आत्म साक्षात्कार की सिद्धि प्राप्त करना आठवीं 'दान' सिद्धि कहा गया है। इस प्रकार से यह ऊह आदि आठ सिद्धियाँ हैं, जो आत्म साक्षात्कार की दृष्टि से उसी तरह बाधक हैं, जैसे पूर्ववर्णित तुष्टियाँ; परन्तु प्राथमिक साधक के लिए ये सिद्धियाँ उस ओर बढ़ने की प्रेरणा भी देती हैं, इस लिए इन्हें आध्यात्मिक प्रगति में उपयोगी कहा जा सकता है॥ ४४॥

**( २५७ ) नेतरादितरहानेन विना॥ ४५॥**

**सूत्रार्थ**— इतरात् = ऊह आदि से इतर (अन्य), इतरहानेन = दूसरी विपर्यय आदि के हान (विघात-विनष्ट) हुए, विना = बिना (बगैर), न = (इष्टसिद्धि की प्राप्ति) नहीं (होती)।

**व्याख्या**— ऊह आदि पाँच सिद्धियों से इतर (अन्य) जो प्रमुख तीन सिद्धियाँ हैं, उनसे अभीष्ट की प्राप्ति विपर्यय, अशक्ति एवं तुष्टि आदि की हानि हुए बिना कदापि सम्भव नहीं है; किन्तु ऊह आदि पाँच सिद्धियाँ भी उन प्रमुख सिद्धियों की प्राप्ति में सहयोगिनी हैं।

मुख्य सिद्धि त्रिविध तापों का विघात है। ऊह आदि पाँच सिद्धियाँ उसकी प्रयोजक सिद्धि हैं। अतः विपर्यय, अशक्ति एवं तुष्टि आत्मज्ञान में बाधक होने के कारण त्यागने योग्य हैं तथा ऊह आदि सिद्धियाँ इस कार्य में सहयोगिनी सिद्ध हो सकती हैं॥ ४५॥

**( २५७ ) दैवादिप्रभेदा॥ ४६॥**

**सूत्रार्थ**— दैवादि = (यह सृष्टि) दैव आदि के, प्रभेदा = प्रभेदों वाली है।

**व्याख्या**— सभी भोग-मोक्ष एवं उसके हेतु सभी प्रयास सृष्टि रचना काल में ही संभव हो सकते हैं। अतः मोक्ष प्राप्ति के उपाय का प्रतिपादन करने के पश्चात् सृष्टि का विस्तृत कथन करना उचित होगा। दैवादि रूप में सृष्टि के विभिन्न भेद हैं। यहाँ तो मात्र प्राणिजगत् का ही उल्लेख है। इसको संक्षेप में चौदह भागों में विभक्त किया गया है, जो अति संक्षिप्त रूप में तीन वर्गों में समाविष्ट हैं। इसके तीन वर्ग इस प्रकार हैं- प्रथम दैव, द्वितीय तिर्यक् एवं तृतीय मानुष। यहाँ सूत्र में 'आदि' पद से अन्तिम दोनों का ग्रहण हो जाता है।

आचार्य कपिल ने तत्त्व समास सूत्र (१८) के अन्तर्गत इसके भेदों का प्रतिपादन इस प्रकार किया है- दैव के आठ भेद-ब्राह्म, प्राजापत्य, ऐन्द्र, पैत्र, गान्धर्व, याक्ष, राक्षस एवं पैशाच हैं। तिर्यक् के पाँच प्रकार- पशु, मृग, पक्षी, सरीसृप तथा स्थावर हैं। ब्राह्मण से लेकर चाण्डाल तक सम्पूर्ण पृथ्वी का मानव एक ही प्रकार का सर्ग है। इस प्रकार सर्ग (सृष्टि) के चौदह प्रभेद किये गये हैं। इन प्रभेदों की विस्तृत विवेचना तत्त्वसमास सूत्रों की व्याख्या में की गई है॥ ४६॥

**( २५८ ) आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं तत्कृते सृष्टिराविवेकात्॥ ४७॥**

**सूत्रार्थ**— तत्कृते = उस आत्मा के लिए, आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तम् = ब्रह्मा से लेकर स्थावर पर्यन्त, सृष्टिः = सृष्टि, आविवेकात् = विवेक के होने तक बनी रहती है।

**व्याख्या**— ब्रह्मा से स्थावर पर्यन्त सम्पूर्ण सृष्टि आत्मा के भोग एवं मोक्ष को सम्पन्न करने के लिए प्रादुर्भूत होती है और विवेकज्ञान होने तक यथावत् बनी रहती है। इसका अर्थ यह हुआ कि जिस

आत्मा को विवेक ज्ञान हो जाता है, उसे सृष्टि से कोई प्रयोजन नहीं रहता। ऐसा नहीं समझना चाहिए कि एक पुरुष को विवेकज्ञान हो जाने पर समस्त सृष्टि का कार्य अवरुद्ध हो जायेगा।

यद्यपि प्रकृति की प्रवृत्ति तो कभी भी अवरुद्ध नहीं होती; किन्तु जिस पुरुष (आत्मा) को विवेक ज्ञान हो गया है, उसके लिए प्रकृति का कोई विशेष उद्देश्य नहीं रहता। इसी कारण उसकी दृष्टि से प्रकृति का प्रवृत्त रहना या न रहना कोई विशेषता नहीं रखता। जब सृष्टि से उसका कोई सम्पर्क न रहा, तब वह प्रकृति भले ही प्रवृत्त रहे, उसके लिए वह अप्रवृत्त ही है। इस प्रकार जब तक आत्मज्ञान की प्राप्ति नहीं हो जाती, तब तक आत्मा को अपवर्ग(मोक्ष)की प्राप्ति नहीं हो सकती॥ ४७॥

**( २५९ ) ऊर्ध्वं सत्त्वविशाला॥ ४८॥**

**सूत्रार्थ**— ऊर्ध्वम् = ऊर्ध्व में, सत्त्वविशाला = सत्त्वगुण प्रधान सृष्टि प्रादुर्भूत होती है।

**व्याख्या**— ऊर्ध्व के लोकों अथवा श्रेष्ठ योनियों में जो सृष्टि प्रादुर्भूत होती है, उसमें सत्त्वगुण की प्रधानता होती है। ऐसी सृष्टि को कुछ विद्वज्जन दैवी सृष्टि से भी संबोधित करते हैं; किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि देवों में इस गुण की विशेषता सूत्रकार ने बताई हो। यहाँ पर इसका अर्थ यह है कि श्रेष्ठ संस्कारवान् आध्यात्मिक दृष्टि से उच्च स्थिति को प्राप्त हुए माता-पिता के यहाँ प्रादुर्भूत होने वाले पुरुष आत्मिक ज्ञान को प्राप्त करने के लिए वंशानुगत सहजतापूर्वक प्रयास कर सकते हैं।

यहाँ सूत्र में 'ऊर्ध्वम्' पद का अभिप्राय उत्तम माता-पिता अथवा उच्चकुलीन उन्नतावस्था से है। ऐसी स्थिति में उत्पन्न हुई सृष्टि को सत्त्वगुण प्रधान समझना चाहिए॥ ४८॥

**( २६० ) तमोविशाला मूलतः॥ ४९॥**

**सूत्रार्थ**— तमोविशाला = तमस् गुण प्रधान सृष्टि, मूलतः = निम्न होती है।

**व्याख्या**— तमोगुण प्रधान सृष्टि निम्न योनियों, श्रेणियों अथवा लोकों में उत्पन्न होती है, जो अज्ञान रूपी अन्धकार से आवृत होती है। ऐसी स्थिति में यहाँ उत्पन्न सृष्टि में आत्मोन्नति से सम्बन्धित चर्चा का प्रश्न ही नहीं उठता। यहाँ तो मात्र उदरपूर्ति एवं सन्तति विस्तार ही प्रमुख उद्देश्य हो जाता है। अधिकांशतः मानव सहित अन्य प्राणि-समुदाय इसी प्रकार की सृष्टि हैं। चाण्डाल आदि के यहाँ प्रादुर्भूत होने वाले प्राणी जन्म-स्वभाववश उपयुक्त वातावरण न होने के कारण आत्मज्ञान में तत्पर नहीं हो पाते; क्योंकि वे सतत राग-द्वेषादि में आबद्ध रहते हैं तथा पारस्परिक कलह में अथवा अन्य निकृष्ट कार्यों में अपना सम्पूर्ण जीवन समाप्त कर देते हैं, ऐसी सृष्टि को सूत्रकार ने तमोगुण प्रधान सृष्टि कहा है॥ ४९॥

**( २६१ ) मध्ये रजोविशाला॥ ५०॥**

**सूत्रार्थ**— मध्ये = मध्य में, रजोविशाला = रजोगुण प्रधान सृष्टि प्रादुर्भूत होती है।

**व्याख्या**— रजोगुण प्रधान सृष्टि मध्यम श्रेणी की कही गई है। सम्पूर्ण मानव समुदाय इसी सृष्टि का अंग है; लेकिन इसमें कुछ सत्त्वगुण की बहुलता तथा कुछ तमोगुण की बहुलता वाली सृष्टि भी रहती है। कुछ विद्वान् इसे मध्य में अर्थात् भूलोक में रजोगुणी सृष्टि उत्पन्न हुई मानते हैं; किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि मध्यम श्रेणी की सृष्टि रजोगुण वाली है। फिर भी प्रायः यह देखा जाता है कि कुछ लोग सर्वाधिक शांतिप्रिय, शुद्धचित्त वाले, संतोषी होते हैं तथा कुछ लोग तमोगुणी प्रकृति से क्रोधी एवं द्वेष भाव से युक्त होते हैं और कुछ लोग मिश्रित स्वभाव के होते हैं। यह सभी कुछ अपने शुभाशुभ कर्मानुसार ही होता रहता है। इसका निश्चित मापदण्ड कहीं पर भी नहीं बनाया जा सकता।

शुभ के साथ कुछ अशुभ एवं अशुभ के साथ कुछ शुभ की स्थिति बनी रहती है। यहाँ पर

सूत्रकार ने सामान्यतया सभी के संदर्भ में ऐसा ही लिखा है। त्रिगुणात्मकता के अनुसार कर्म करता हुआ आत्मा (पुरुष) भिन्न-भिन्न प्रकार की सृष्टि का निमित्त कारण बना करता है॥ ५०॥

**( २६२ ) कर्मवैचित्र्यात् प्रधानचेष्टा गर्भदासवत् ॥ ५१ ॥**

**सूत्रार्थ**— कर्मवैचित्र्यात् = कर्म की विचित्रता से, प्रधानचेष्टा = प्रकृति की विविध प्रवृत्ति, गर्भदासवत् = गर्भदास के समान (हुआ करती है)।

**व्याख्या**— सत्त्व, रजस् एवं तमस् गुणों के आपस में विरोधी लक्षण होने के कारण त्रिगुणात्मक प्रकृति की चेष्टा विविध रूप वाली होती है; क्योंकि कहीं किसी गुण की कमी और कहीं किसी गुण की अधिकता, इस प्रकार कम-ज्यादा के आधार पर ही इसमें विचित्रता (भिन्नरूपता) दृष्टिगोचर होती है। यहाँ सूत्र में गर्भदास का दृष्टान्त कार्य में स्वाभाविक प्रवृत्ति का संकेत करने हेतु किया गया है। जिस प्रकार किसी दास के घर में उत्पन्न हुआ बालक स्वभाववश सेवा कार्य में अत्यधिक चतुर हो सकता है। वह अपने स्वामी के सहज संकेत पर तन्मय होकर विविध कार्यों में लगा रहता है अथवा उसके लिए विविध वस्तु पदार्थ आदि उपस्थित करता रहता है।

उसी प्रकार प्रकृति भी जीवात्माओं के भोग हेतु उनके कर्मानुसार प्रवृत्त हुआ करती है या विविध रूप वाले वस्तु-पदार्थ आदि प्रस्तुत करती रहती है॥ ५१ ॥

**( २६३ ) आवृत्तिस्तत्राप्युत्तरोत्तरयोनियोगाद्धेयः ॥ ५२ ॥**

**सूत्रार्थ**— उत्तरोत्तरयोनियोगात् = एक के पश्चात् एक योनि (जन्म संयोग) से, तत्रापि = वहाँ पर भी, आवृत्तिः = सतत आवागमन (बना रहता है, अतः), हेयः = (ऊर्ध्वलोक की प्राप्ति मोक्ष है, ऐसा विचार) त्यागने योग्य है।

**व्याख्या**—ऐसा विचार हेय है - त्यागने योग्य है कि श्रेष्ठ कर्मों द्वारा किसी उत्तम लोक में पहुँचना अथवा श्रेष्ठ (उत्तम) योनि में जन्म ग्रहण करना ही मोक्ष का स्वरूप है; क्योंकि ऐसी अवस्था में बारम्बार योनि (जन्म) के साथ सम्पर्क से आवागमन बना रहता है। यहाँ इसका यह तात्पर्य है कि उत्तम योनि में जन्म ग्रहण कर लेने के बाद भी आवागमन का क्रम बन्द नहीं हो जाता। अतः वहाँ पर भी यथावत् जन्म ग्रहण करना पड़ता है और यह अपवर्ग (मोक्ष) की अवस्था के सर्वथा विपरीत है। ऐसा कोई भी लोक या योनि नहीं है, जहाँ पर जन्म ग्रहण करने के पश्चात् आत्मज्ञान के अभाव में इस प्रकार का आवागमन बन्द हो जाये; लेकिन अपवर्ग की स्थिति प्राप्त हो जाने के बाद फिर यह निरन्तर आवागमन नहीं रहता, समाप्त हो जाता है। अतः किसी श्रेष्ठ लोक अथवा उत्तम योनि को प्राप्त कर लेना ही मोक्ष का रूप है, ऐसा विचार सर्वथा हेय है, त्यागने योग्य है॥ ५२॥

**( २६४ ) समानं जरामरणादिजं दुःखम्॥ ५३ ॥**

**सूत्रार्थ**— जरामरणादिजम् = वृद्धावस्था एवं मरण आदि से उत्पन्न, दुःखम् = दुःख (सभी लोकों व समस्त योनियों में), समानम् = समान है।

**व्याख्या**— जरा एवं मृत्यु आदि से उत्पन्न दुःख एक जैसे ही होते हैं। सामान्य अथवा निम्न योनियों में जन्म लेने वालों को जो दुःख होते हैं, वह चाहे वृद्धावस्था, जन्म-मृत्यु आदि से हों या फिर अन्य किन्हीं कारणों से । इसी प्रकार के समस्त दुःख श्रेष्ठ योनि अथवा उत्तम लोकों में भी यथावत् होते हैं। ऐसी स्थिति को मोक्ष (अपवर्ग) नहीं कहा जा सकता। श्रेष्ठ योनियों अथवा उत्तम लोकों में जाकर भोग रूपी सुख की प्राप्ति तो हो सकती है, लेकिन अपवर्ग (मोक्ष) की प्राप्ति कदापि संभव नहीं हो सकती॥ ५३ ॥

## ( २६५ ) न कारणलयात्कृतकृत्यता मग्नवदुत्थानात्॥ ५४॥

**सूत्रार्थ**— कारणलयात् = कारण में लय होने से, कृतकृत्यता = पूर्ण कृतार्थ होना, न = नहीं है, मग्नवत् = डूबे हुए के समान, उत्थानात् = उठ जाने से (यही सिद्ध होता है)।

**व्याख्या**— यहाँ सूत्र में 'कारण' पद का अर्थ मूलप्रकृति से है। यहाँ पर कारण में लय होना, आपस में कार्यकारण भाव के आधार पर प्रस्तुत नहीं किया गया है; क्योंकि आत्मा का कारण प्रकृति नहीं है। यद्यपि आत्मा का कोई कारण नहीं होता। आत्मा तो शाश्वत है, तो फिर कार्य-कारण भाव के आधार पर कारण प्रकृति में आत्मा के विलीन होने का प्रश्न ही नहीं होता। अत: 'कारणलय' का अभिप्राय है- मूल कारण प्रकृति का साक्षात्कार करने के लिए उसमें विलीन हो जाना। इस प्रकार के विलय का अर्थ यह हुआ कि प्रकृति का साक्षात्कार कर लेना। जिस प्रकार जल में डूबा हुआ शरीर प्राणरहित हो जाने पर जल के ऊपर उठ आता है, उसी प्रकार अपने कारणरूप प्रकृति में लय हुआ जीवात्मा सर्गकाल में पुन: उत्पन्न हो जाता है। जीवात्मा की यह अवस्था श्रेष्ठ होते हुए भी इसे पूर्ण सौभाग्य नहीं कहा जा सकता; क्योंकि पूर्ण सौभाग्य तो पूर्ण पुरुषार्थ-अपवर्ग ही है और इसकी प्राप्ति आत्मसाक्षात्कार के बिना संभव नहीं है॥ ५४॥

## ( २६६ ) अकार्यत्वेऽपि तद्योग: पारवश्यात्॥ ५५॥

**सूत्रार्थ**— अकार्यत्वे = प्रकृति कार्य नहीं है, अपि = फिर भी, तद्योग: = उसका संयोग (ईश्वर से), पारवश्यात् = (जगत् में) परवश होने के कारण है।

**व्याख्या**— यद्यपि प्रकृति कार्य नहीं, 'कारण' — प्रधान है। फिर भी वह (प्रकृति) ईश्वर के वश में होने से कार्य करने में स्वतन्त्र नहीं है। साथ ही वह अचेतन होने के कारण स्वयं दु:खमय है। अत: वह (प्रकृति) चेतन आत्मा को दु:ख से अलग करने की सामर्थ्य नहीं रख पाती। इसका निष्कर्ष यह हुआ कि मोक्ष (अपवर्ग) की प्राप्ति में सहायक आत्मज्ञान ही है। मोक्ष प्राप्ति कराने में प्रकृति असमर्थ है॥ ५५॥

## ( २६७ ) स हि सर्ववित् सर्वकर्ता ॥ ५६॥

**सूत्रार्थ** — हि = क्योंकि, स: = वह (ईश्वर), सर्ववित् = सर्वज्ञ-सर्वान्तर्यामी, सर्वकर्त्ता = सम्पूर्ण विश्व का रचयिता है।

**व्याख्या**— वह ईश्वर ही सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी तथा सम्पूर्ण विश्व का पालक-पोषक, रचयिता है। प्रकृति उसकी प्रेरणा से कार्य करती हुई सदा उसके अधीन रहती है। वह सर्वत्र सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप में स्थित होकर सम्पूर्ण विश्व की सर्जना में संलिप्त रहता है, इसीलिए उसे विश्वनियन्ता कहा गया है। यहाँ सूत्र में 'सर्ववित्' पद सर्वज्ञ, सर्वव्यापकता या सर्वान्तर्यामी के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। यह पद सत्तार्थक 'विद्' धातु से निष्पन्न हुआ है। जिसकी सर्वत्र सत्ता हो, उसे ही सर्ववित् कहा जाता है। यह शब्द ईश्वर के विशेषण के रूप में यहाँ प्रयुक्त किया गया है। इस प्रकार से ईश्वर ही अपवर्ग (मोक्ष) का कर्त्ता भी सिद्ध होता है, प्रकृति की प्रार्थना से मोक्ष की प्राप्ति असंभव है॥ ५६॥

## ( २६८ ) ईदृशेश्वरसिद्धि: सिद्धा॥ ५७॥

**सूत्रार्थ**— ईदृशेश्वरसिद्धि: = इस प्रकार से ईश्वर का अस्तित्व (सांख्य में), सिद्धा = दृढ़तापूर्वक सिद्ध किया गया है।

**व्याख्या**— सर्वज्ञ, सर्वान्तर्यामी तथा सबके रचयिता ईश्वर का अस्तित्व अवश्य ही है। यहाँ इस सूत्र में सांख्यशास्त्र के प्रणेता आचार्य कपिल ने ईश्वर को सर्ग की रचना अथवा जगत् का उपादान कारण न मानते हुए प्रकृति को प्रेरणा देने वाले, जगत् के नियन्ता एवं अधिष्ठाता के रूप में स्वीकार किया है। इस

तरह सांख्य का ईश्वर को मानने में विरोध नहीं है। सांख्य के प्रथम अध्याय (१/५७) में उपादान भूत ईश्वर का प्रतिषेध किया गया है। इसलिए 'कारणलय' पद का अर्थ-ब्रह्मा या ईश्वर में लय होना ही कहना चाहिए। ऐसा इसी अध्याय के ५४ वें सूत्र में कहा गया है॥ ५७॥

**तृतीय अध्याय के अन्तर्गत अभी तक स्थूलभूत एवं शरीर की उत्पत्ति, आत्मज्ञान के उपाय, बुद्धिसर्ग तथा व्यष्टि सर्ग आदि का तथा अन्य प्रासंगिक वर्णन किया गया। द्वितीय अध्याय के शुरू में संक्षेप में सृष्टि का उद्देश्य कहा गया था, उसका अब यहाँ से विस्तार दिया जा रहा है —**

**( २६९ ) प्रधानसृष्टिः परार्थं स्वतोऽप्यभोक्तृत्वादुष्ट्रकुङ्कुमवहनवत्॥ ५८॥**

**सूत्रार्थ—** उष्ट्रकुङ्कुमवहनवत् = ऊँट के द्वारा (कुंकुम) केशर ढोये जाने के समान, स्वतः = स्वयं (अपने आप), अभोक्तृत्वात् भोक्ता न होने के कारण, प्रधानसृष्टिः = प्रकृति द्वारा सृष्टि-रचना, परार्थम्= अन्य (आत्मा) के लिए, अपि = ही है।

**व्याख्या—** यहाँ सूत्र में 'अपि' पद का अर्थ समुच्चय नहीं, बल्कि अवधारण अर्थात् 'एव' है। अर्थ के अनुसार उसका सम्बन्ध 'परार्थ' पद के साथ है। प्रकृति के द्वारा सृष्टि-रचना परार्थ (अन्य) के लिए है; क्योंकि प्रकृति स्वतः भोक्ता नहीं है। प्रकृति अचेतन है, अतः उसका भोक्ता होना असम्भव है। चेतन आत्मा के लिए सृष्टि (जगत्) की रचना होती है।

जिस प्रकार ऊँट पर केशर लादी जाती है,उसे वह अपने किसी कार्य के लिए नहीं ढोता, बल्कि वह दूसरों के लिए ढोता है। उसी प्रकार ही प्रकृति जगत्-सृष्टि की रचना करती है, वह अपने लिए नहीं, वरन् अन्य (आत्माओं) के लिए करती है। इस प्रकार अचेतन प्रकृति चेतन आत्मा के लिए सृष्टि संरचना में प्रवृत्त होती है॥ ५८॥

**( २७० ) अचेतनत्वेऽपि क्षीरवच्चेष्टितं प्रधानस्य॥ ५९॥**

**सूत्रार्थ—** अचेतनत्वेपि = अचेतन होने पर भी, क्षीरवत् = क्षीर (दूध) की प्रवृत्ति के समान, प्रधानस्य = प्रकृति की, चेष्टितम् = प्रवृत्ति होती है।

**व्याख्या—** प्रकृति के अचेतन होने पर भी, क्षीर (दुग्ध) की प्रवृत्ति की भाँति ही प्रकृति की चेष्टा होती है। जिस प्रकार से माँ के स्तनों में से शिशु के लिए दुग्ध निःसृत होने लगता है, उसी प्रकार से चेतन आत्मा के लिए प्रकृति चेष्टित होने लगती है। यहाँ इस सूत्र में दुग्ध के संदर्भ में दो बातें अनिवार्य रूप से समझनी चाहिए। प्रथम तो यह कि अचेतन दुग्ध पीने वाले शिशुओं को पुष्ट करता है। द्वितीय यह कि अचेतन दुग्ध स्वयमेव दधि के रूप में परिणत हो जाता है। दुग्ध की यह चेष्टा (प्रवृत्ति) स्वयं के लिए नहीं होती, उसी तरह प्रकृति भी अचेतन होते हुए भी जीवात्मा के लिए भोग-सामग्री प्रस्तुत करते हुए कारण से कार्यरूप में परिणत होती रहती है॥ ५९॥

**( २७१ ) कर्मवद्दृष्टेर्वा कालादेः॥ ६०॥**

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, कालादेः = काल (समय)आदि को, कर्मवत् = क्रियाओं के समान, दृष्टेः = देखा जाता है।

**व्याख्या—** काल अर्थात् समय, ऋतु आदि क्रियायें स्वयमेव सहजतापूर्वक सम्पन्न होती रहती हैं। जिस प्रकार एक ऋतु के समाप्त हो जाने के पश्चात् दूसरी ऋतु का स्वयं ही आगमन हो जाता है। उसी प्रकार प्रकृति इस सृष्टि की संरचना का कार्य स्वयं ही संपादित करती रहती है, इस कार्य के सम्पादन में उसे किसी सहयोग अथवा प्रतीक्षा की आवश्यकता नहीं करनी पड़ती। वह तो केवल अपने प्रेरणा स्रोत ईश्वर की प्रेरणा द्वारा ही इस जगत् को प्रकट करती रहती है॥ ६०॥

**( २७२ ) स्वभावाच्चेष्टितमनभिसंधानाद् भृत्यवत्॥ ६१॥**

**सूत्रार्थ—** अनभिसन्धानात् = स्वार्थ से रहित, भृत्यवत् = भृत्य (सेवक) के समान, स्वभावात् = स्वभाववश (प्रकृति की), चेष्टितम् = प्रवृत्ति बनी रहती है।

**व्याख्या—** प्रकृति स्वभाववश नि:स्वार्थ रूप से प्रवृत्त हुआ करती है। वह परिणामिनी है, अत: उसके स्वयं के अस्तित्व का पर्यवसान इसी में है कि वह कार्यरूप में परिणत हो। उसके इस प्रकार के परिणाम में अपना कोई विशेष अभिप्राय नहीं। प्रकृति तो पूर्णरूपेण सब प्रकार से पुरुष (चेतन आत्मा) के लिए निरन्तर प्रवृत्त होती रहती है। जिस प्रकार से कोई भृत्य (सेवक) अपने मालिक के प्रत्येक कार्य में सतत संलग्न रहता है; जबकि उस कार्य में उसका अपना कोई निजी लाभ नहीं रहता। उसी प्रकार से प्रकृति आत्मा के लिए निरन्तर कार्य में संलग्न रहती है। वह स्वभाव से ही स्वयं अपने आप के लिए कोई भी कार्य नहीं करती, वरन् वह समस्त पदार्थ दूसरे (चेतन) के लिए उत्पन्न करती है॥ ६१॥

**( २७३ ) कर्माकृष्टेर्वाऽनादितः॥ ६२॥**

**सूत्रार्थ—** अनादित: = अनादिकाल से, कर्माकृष्टे: = कर्मों के आकर्षण प्रभाव से, वा = भी (प्रकृति प्रवृत्त हुआ करती है)।

**व्याख्या—** इस सूत्र में 'वा' पद समुच्चय के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। अनादिकाल से ही प्रकृति कर्मों-कार्यों के आकर्षण-प्रभाव में आबद्ध होकर प्रवृत्त हुआ करती है। आत्मा के लिए भोग की व्यवस्था प्रकृति के कर्म द्वारा होती है। अत: उसके कर्मानुसार फल का भोग प्रस्तुत कराने के लिए प्रकृति को उसके अनुसार ही भोग उपस्थित करने होते हैं। इस कारण अनादि कर्मों का आकर्षण-प्रभाव भी प्रकृति की प्रवृत्ति में निमित्त मात्र होता है॥ ६२॥

**( २७४ ) विविक्तबोधात्सृष्टिनिवृत्तिः प्रधानस्य सूदवत्पाके॥ ६३॥**

**सूत्रार्थ—** विविक्तबोधात् = आत्मज्ञान हो जाने से, प्रधानस्य = प्रकृति की, सृष्टिनिवृत्ति: = सृष्टि-संरचना की निवृत्ति हो जाती है, पाके = रसोई पकाने का कार्य हो जाने के बाद, सूदवत् = रसोइये की प्रवृति के समान।

**व्याख्या—** आत्मज्ञान की प्राप्ति हो जाने के पश्चात् आत्मा के लिए प्रधान (प्रकृति) द्वारा सृष्टि-संरचना की आवश्यकता नहीं रह जाती। जिस प्रकार अपने स्वामी के लिए रसोई पकाने वाला, रसोई पकाने के पश्चात् निवृत्त हो जाता है, उसी प्रकार से आत्मज्ञान की प्राप्ति हो जाने पर प्रकृति द्वारा सृष्टि रचना का कार्य छोड़ दिया जाता है। आत्मज्ञान सम्पन्न आत्मा के लिए प्रकृति का कोई उद्देश्य नहीं रह जाता है। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि प्रकृति सृष्टि संरचना से निवृत्त हो जाती है।

वस्तुत: जिस जीवात्मा को आत्मज्ञान हो जाता है, उसके लिए प्रकृति को कार्य से कोई प्रयोजन नहीं रह जाता। मुक्त आत्माओं का जन्म-मृत्यु न होने के कारण प्रकृति से उन आत्माओं का किसी भी तरह का सम्बन्ध नहीं रह जाता। ऐसी अवस्था को ही प्रधान-प्रकृति का कार्य से विरत होना कहा गया है॥ ६३॥

**( २७५ ) इतर इतरवत् तद्दोषात्॥ ६४॥**

**सूत्रार्थ—** इतर: = उससे भिन्न (बद्ध आत्मा), इतरवत् = दूसरे बद्ध आत्मा के समान, तद्दोषात् = उसके दोष (अज्ञान) से (प्रकृति के सम्पर्क में बना रहता है)।

**व्याख्या—** मुक्तात्मा से भिन्न जो बद्ध आत्मा है, वह अपने दूसरे सहयोगी आत्माओं के संसर्ग-दोष के कारण आत्मज्ञान की इच्छा रखते हुए भी, आत्मज्ञान की प्राप्ति नहीं कर पाता। वह आत्मज्ञान के अभाव में उन्हीं बद्ध आत्माओं के सदृश जीवन-मरण के चक्र में इस नश्वर जगत् में पड़ा रहता है।

वस्तुत: जब तक आत्मज्ञान प्राप्ति का लक्ष्य पूर्ण न होगा, तब तक भोक्ता आत्माओं का संपर्क प्रकृति के साथ बना रहेगा। अत: एक आत्मा को अपवर्ग की प्राप्ति हो जाने पर शेष अन्य आत्माओं के लिए उस रूप में कोई विशेष प्रभाव नहीं होता तथा यह जगत् यथावत् गतिशील बना रहता है॥ ६४॥

**( २७६ ) द्वयोरेकतरस्य वौदासीन्यमपवर्ग: ॥ ६५ ॥**

**सूत्रार्थ—** द्वयो: = दोनों (आत्माओं) का एक दूसरे से, वा = अथवा, एकतरस्य = दोनों में से किसी एक (आत्मा) का, औदासीन्यम् = उदासीन हो जाना ही, अपवर्ग: = मोक्ष है।

**व्याख्या—** प्रकृति एवं पुरुष दोनों का एक-दूसरे से उदासीन (विरत)होना ही अपवर्ग (मोक्ष) कहलाता है अथवा इन दोनों में से कोई एक-चेतन आत्मा आत्मज्ञान की प्राप्ति हो जाने पर प्रकृति के सान्निध्य का परित्याग कर दे, तो वही मोक्ष की स्थिति कही जाती है; लेकिन प्रकृति का नैकट्य तभी अलग हो सकता है, जब आत्मज्ञान की प्राप्ति हो जाये। आत्मज्ञान के अभाव में न तो प्रकृति से मुक्ति मिल सकती है और न ही अपवर्ग की प्राप्ति हो सकती है॥ ६५ ॥

**( २७७ ) अन्यसृष्ट्युपरागेऽपि न विरज्यते प्रबुद्धरज्जुतत्त्वस्येवोरग: ॥ ६६ ॥**

**सूत्रार्थ—** अन्यसृष्ट्युपरागे = अन्य (बद्ध आत्मा) के लिए सृष्टि संरचना करने में, अपि = तो (प्रकृति), विरज्यते = विरक्त (उदासीन), न = नहीं होती इव = जैसे, प्रबुद्धरज्जुतत्त्वस्य = रस्सी का वास्तविक ज्ञान होने पर, उरग: = सर्प का भ्रम अथवा सर्प का भय आदि नहीं होता (किन्तु अन्य अज्ञानियों के लिए भ्रम अथवा भय यथावत् बना ही रहता है)।

**व्याख्या—** मुक्तात्माओं से अन्य अर्थात् दूसरी बद्ध आत्माओं के लिए प्रकृति सृष्टि संरचना के कार्य से विरत नहीं होती। वह यथावत् सृष्टि संरचना में संलग्न रहती है। आत्मज्ञान द्वारा जिन आत्माओं को मोक्ष की प्राप्ति हो चुकी है, उनके लिए प्रकृति का कोई प्रयोजन नहीं रहता। अत: उनकी दृष्टि में यह कह दिया जाता है कि प्रकृति अपनी प्रवृत्ति से उदासीन हो गई है; परन्तु जिन्हें आत्मज्ञान की प्राप्ति नहीं हुई है, उनके लिए यह जगत् वैसा ही चलता रहता है। जैसा कि रात्रि के अन्धकार में रस्सी को सर्प मानकर व्यक्ति डर जाता है; लेकिन जैसे ही उसके भ्रम का निवारण हुआ कि यह सर्प नहीं रस्सी है, वह भय अथवा भ्रम से रहित हो जाता है।

ऐसे ही जब तक आत्मा विषय-भोगों को ही सुख समझता है, तभी तक उसका प्रकृति से सम्पर्क रहता है; किन्तु जैसे ही उसे आत्मज्ञान की प्राप्ति होती है, वह विषयों से उदासीन हो जाता है और उसका प्रकृति से संपर्क विशृंखलित हो जाता है॥ ६६ ॥

**( २७८ ) कर्मनिमित्तयोगाच्च ॥ ६७ ॥**

**सूत्रार्थ—** च = और, कर्मनिमित्तयोगात् = कर्म के निमित्तों के संयोग से।

**व्याख्या—** जो आत्माएँ बद्ध (अज्ञानी) हैं, उनके द्वारा किये गए कर्मों के फल भोग के लिए प्रकृति को सृष्टि संरचना के कार्य में संलग्न रहना पड़ता है; क्योंकि कर्मानुसार भोग प्रस्तुत करना प्रकृति का ही कार्य है। मुक्तात्माओं के लिए प्रकृति की प्रवृत्ति नहीं होती; क्योंकि अपवर्ग द्वारा उनके सञ्चित प्रारब्ध आदि समस्त कर्म बन्धनों का पूरी तरह से विनाश हो चुका होता है॥ ६७॥

**( २७९ ) नैरपेक्ष्येऽपि प्रकृत्युपकारेऽविवेको निमित्तम्॥ ६८॥**

**सूत्रार्थ—** नैरपेक्ष्ये = निरपेक्ष होने पर, अपि = भी, प्रकृत्युपकारे = प्रकृति के उपकार में, अविवेक: = अज्ञान ही, निमित्तम् = निमित्त कारण है।

**व्याख्या—** प्रकृति अचेतन होने के कारण निरपेक्ष है। अत: उसे किसी की अपेक्षा-आवश्यकता नहीं। उसका न कोई किसी से स्वार्थ है और न ही प्रयोजन। उसके लिए मुक्त एवं बद्ध समस्त आत्माएँ एक जैसी हैं।

प्रकृति परिणामिनी है,अत: परिणाम या प्रवृत्ति (संरचना) ही उसकी एकमात्र कृति है। वह बिना अपने किसी उद्देश्य के जगद्रूप में परिणत होकर सभी आत्माओं के लिए विविध-विध भोग-सामग्री प्रस्तुत करती चली आ रही है; किन्तु प्रकृति के इस कार्य का एकमात्र कारण चेतन का अविवेक है, अर्थात् अज्ञानता के कारण ही जीवात्माएँ प्रकृति के सम्पर्क में आकर के जन्म-मृत्यु के चक्र में निरन्तर पड़ी रहती हैं॥ ६८॥

**( २८० ) नर्त्तकीवत्प्रवृत्तस्यापि निवृत्तिश्चारितार्थ्यात्॥ ६९॥**

**सूत्रार्थ—** नर्त्तकीवत् = नर्त्तकी (नाचनेवाली) के समान, चारितार्थ्यात् = चरितार्थ होने से, प्रवृत्तस्य = प्रवृत्तिशील की, अपि = भी, निवृत्ति: = निवृत्ति हो जाती है।

**व्याख्या—** जिस प्रकार नर्तन करने वाली नर्तकी श्रमित हो जाने अथवा नर्तन का कार्यक्रम पूरा होने पर नर्तन करने से रुक जाती है, उसी प्रकार से प्रवृत्तिशील अर्थात् सृष्टि-संरचना के कार्य में निरन्तर संलग्न रहने वाली प्रकृति, मुक्तात्मा के लिए निवृत्त हो जाती है।

वह मुक्त हुई आत्माओं के लिए कार्य सम्पन्न नहीं करती; क्योंकि मुक्त आत्मा का इस जगत् में आने-जाने का क्रम समाप्त हो जाता है। उनके समस्त कर्मों का क्षय हो जाने के कारण उसके लिए भोग प्रस्तुत करने का प्रयोजन नहीं रह जाता॥ ६९॥

**( २८१ ) दोषबोधेऽपि नोपसर्पणं प्रधानस्य कुलवधूवत्॥ ७०॥**

**सूत्रार्थ—** दोषबोधे = दोष का बोध (ज्ञान) होने पर, अपि = भी, कुलवधूवत् = कुलवधू के समान, प्रधानस्य = प्रकृति का, उपसर्पणम् = प्रवृत्त होना, न = नहीं होता।

**व्याख्या—** जिस प्रकार किसी कुलवधू की अपने स्वयं के कोई दोष मालूम हो जाने पर, वह लज्जाशील बनी अपने स्वामी के समक्ष जाने का साहस नहीं करती, प्रत्युत डरती है। उसी प्रकार प्रकृति अपने परिणामिता, दु:खात्मकता आदि दुर्गुणों को जान लेने के कारण लज्जाशील बनी हुई ,(वह) उस ज्ञानी जीवात्मा के समक्ष जाने के लिए प्रवृत्त नहीं होती। यद्यपि प्रकृति की प्रवृत्ति निरन्तर बनी रहती है, तो भी वह मुक्तात्मा को प्रभावित नहीं कर पाती। आत्मज्ञान सम्पन्न जीवात्मा का प्रकृति के दु:खात्मक दोषादि स्वरूप का विवेक हो जाने पर उस (प्रकृति) से किसी भी तरह का संपर्क नहीं रह जाता, न सम्पर्क का कोई प्रयोजन ही रहता है॥ ७०॥

**( २८२ ) नैकान्ततो बन्धमोक्षौ पुरुषस्याविवेकादृते ॥ ७१॥**

**सूत्रार्थ—** पुरुषस्य = पुरुष (चेतन आत्मा) के, बन्धमोक्षौ = बन्धन एवं मोक्ष (मुक्ति), एकान्तत: = स्वभाव से, न नहीं होते, अविवेकात् = अविवेक से, ऋते = बिना।

**व्याख्या—** पुरुष अर्थात् चेतन आत्मा के बन्धन एवं मोक्ष एकान्तत: (स्वभाव से) नहीं होते। वह तो वस्तुत: शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, आनन्दमय है। जिसका बन्धन नहीं होता, उसकी मुक्ति का प्रश्न ही नहीं

होता। वह अज्ञानता (अविवेक) के अभाव में बन्धन में नहीं पड़ सकता और न ही विवेक के अभाव में मुक्त हो सकता है। यहाँ इस सूत्र में 'अविवेक' पद अपने विरोधी विवेक का भी उपलक्षण है। ये दोनों ही क्रमशः बन्ध एवं मोक्ष के प्रयोजक कहे गये हैं। इस कारण से जीवात्मा को हमेशा बन्धनयुक्त या मुक्त नहीं कहा जा सकता। आत्मा का यथार्थ रूप चेतन है, जो सदैव एक रूप रहता है अर्थात् आत्मा सदा चैतन्यमय है। बन्धन एवं मोक्ष तो उसकी दो अवस्थायें मात्र हैं। इन दोनों अवस्थाओं में से किसी एक की उपस्थिति सदैव बनी रहती है॥ ७१ ॥

**( २८३ ) प्रकृतेराञ्जस्यात् सङ्गत्वात्पशुवत्॥ ७२॥**

**सूत्रार्थ—** प्रकृतेः = प्रकृति के, ससङ्गत्वात् = साथ-सङ्ग होने से , पशुवत् = पशु के समान (बन्ध एवं मोक्ष), आञ्जस्यात् = आपाततः अर्थात् सरसरी निगाह से।

**व्याख्या—** प्रकृति के लक्षण दुःख-दारिद्र्य आदि भोग रूपी साधन-सामग्री में संलिप्त होने के कारण ही जीवात्मा को बन्धन एवं मोक्ष की प्राप्ति होती है। जिस प्रकार से किसी पशु को रस्सी से बाँधकर उसके स्वामी के कार्य में संलग्न किया जाता है, तब उस दशा में उसे रस्सी द्वारा आबद्ध हुआ (बँधा हुआ) कहा जाता है तथा जब कार्य पूर्ण हो जाता है, तब उसे मुक्त किये (खोल दिये) जाने पर वह बन्धन से मुक्त हो जाता है।

ऐसे ही जीवात्मा के बन्धन एवं मोक्ष (अपवर्ग) को प्रकृति का बन्ध एवं मोक्ष सरसरी दृष्टि से कह दिया जाता है; लेकिन जड़ प्रकृति का बन्ध-मोक्ष नहीं होता, केवल जीवात्मा का ही होता है॥ ७२॥

**( २८४ ) रूपैःसप्तभिरात्मानं बध्नाति प्रधानं कोशकारवद्विमोचयत्येकेन रूपेण॥ ७३॥**

**सूत्रार्थ—** कोशकारवत् = रेशम के कीड़े के समान, प्रधानम् = प्रकृति, सप्तभिः = सात, रूपैः = रूपों से, आत्मानम् = आत्मा को, बध्नाति = बाँधता है (और) एकेन = एक, रूपेण = रूप से, विमोचयति = मुक्त करता है।

**व्याख्या—** जिस प्रकार कोशकार (रेशम का कीड़ा) रेशम के खोल द्वारा सभी तरफ से आवृत रहता है और केवल एक छिद्र (द्वार) से ही बाहर निकलता है। उसी प्रकार से आत्मा भी सूक्ष्मशरीर द्वारा चारों ओर से आवृत रहता है। आत्मा की यह गति तब तक बनी रहती है, जब तक कि उस जीवात्मा को आत्मज्ञान की प्राप्ति नहीं होती। धर्म-अधर्म, ज्ञान-अज्ञान, वैराग्य-अवैराग्य तथा ऐश्वर्य-अनैश्वर्य- ये ही आठ भाव प्रकृति जन्य कहे गये हैं। इनमें से एकमात्र ज्ञान ही ऐसा है, जिसके द्वारा मोक्ष की प्राप्ति होती है। शेष अन्य सातों रूप तो आत्मा को बन्धन में डालने वाले होते हैं। यहाँ सूक्ष्म शरीर को ही जीवात्मा को चारों तरफ से आवृत करने वाला कहा गया है। आत्मा इस सूक्ष्म शरीर से घिरा हुआ होता है और यह अवस्था आत्मज्ञान की प्राप्ति तक यथावत् बनी रहती है॥ ७३॥

**( २८५ ) निमित्तत्वमविवेकस्य न दृष्टहानिः॥ ७४॥**

**सूत्रार्थ—** अविवेकस्य = अविवेक के, निमित्तत्वम् = निमित्त होने से, दृष्टहानिः = देखे हुए की हानि, न = नहीं है।

**व्याख्या—** यहाँ पर बन्धन एवं मोक्ष को अविवेक का होना या न होना बताया गया है। उसमें यह शंका होती है कि अविवेक तो कोई वस्तु या पदार्थ नहीं है, जो बन्धन में फँसाता हो या मोक्ष प्रदान करता हो। इस सन्दर्भ में सूत्र में यह कहा गया है कि अविवेक बन्धन एवं मोक्ष की प्राप्ति में निमित्त मात्र है; परन्तु उसके होने पर धार्मिक अनुष्ठान आदि कर्म करने में किसी भी तरह का विरोध नहीं है; क्योंकि विवेक न

हो, तब धर्मादि कार्य भी निरर्थक हो जाते हैं और यदि विवेक है, तो धार्मिक अनुष्ठानादि भी मोक्ष प्राप्ति में सहयोगी होते हैं॥ ७४॥

**( २८६ ) तत्त्वाभ्यासान्नेतिनेतीतित्यागाद्विवेकसिद्धिः॥ ७५॥**

**सूत्रार्थ—** तत्त्वाभ्यासात् = आत्मतत्त्व का अभ्यास करने से, न इति = न तो विकार आत्मा है, न इति = और न मूल प्रकृति आत्मा है, इस प्रकार, त्यागात् = त्याग से, विवेकसिद्धिः = विवेक की सिद्धि होती है।

**व्याख्या—** अभ्यास द्वारा आत्म साक्षात्कार करने तथा यह समस्त विकार आत्मा नहीं है, और इन सभी का मूल कारण 'प्रकृति भी आत्मा नहीं है' ऐसी भावना के सहित त्याग से ही विवेक की सिद्धि होती है। आत्मा के स्वतन्त्र अस्तित्व का बोध होना ही विवेक है, विवेक की प्राप्ति हेतु अभ्यास करना, योग आदि की साधना करना उसकी सिद्धि का उद्देश्य है; परन्तु यदि वह साधना देह, इन्द्रिय एवं बुद्धि आदि विकारों को आत्मा समझकर की जाये, तो वह सदैव फलरहित ही होगी; क्योंकि वह आत्मा का यथार्थ स्वरूप नहीं है।

इसी तरह इनका कारण मूलप्रकृति भी आत्मा का स्वरूप नहीं है, अतः उसको आत्मा मानकर साधना करना भी फलरहित होगा। इसीलिए सूत्रकार ने सूत्र में 'नेति-नेति' पदों के द्वारा विकार एवं मूलकारण की आत्मरूपता का निवारण कर उनके त्याग को ज्ञान का प्रयोजक कहा है। यहाँ इसका यह भाव है कि विवेक के लिए आत्मा के स्वरूप में अचेतन-भावना का पूर्ण रूपेण त्याग एवं चेतन भावना का अभ्यास परमावश्यक है। इसी के द्वारा विवेक (ज्ञान) का प्रस्फुरण होता है॥ ७५॥

**( २८७ ) अधिकारिप्रभेदान्न नियमः॥ ७६॥**

**सूत्रार्थ—** अधिकारिप्रभेदात् = अधिकरियों में भेद होने से, नियमः = नियम, न = नहीं है।

**व्याख्या—** ज्ञान प्राप्ति के लिए प्रवृत्त साधकों में अधिकारी भेद से यह नियम निश्चित नहीं हो सकता कि सभी को समान रूप से एक साथ मोक्ष प्राप्त हो जाये। सामान्यतया तीन तरह के अधिकारियों का उल्लेख (सां० १/१५ एवं ६/२२) में मिलता है-जो उत्तम, मध्यम एवं अधम के रूप में कहा गया है। इनमें से कोई शास्त्रादि का अध्ययन करते हुए तीव्र प्रयासपूर्वक ज्ञान प्राप्त कर लेता है, कोई धीरे-धीरे मध्यम गति से और कोई बहुत ही विलम्ब से प्रयास करता है। इसलिए सभी जिज्ञासुओं के लिए समान रूप से मोक्ष प्राप्ति का कोई एक नियम निश्चित नहीं किया जा सकता है॥ ७६॥

**( २८८ ) बाधितानुवृत्त्या मध्यविवेकतोऽप्युपभोगः॥ ७७॥**

**सूत्रार्थ—** मध्यविवेकतः = विवेक प्राप्ति के मध्य (बीच) की अवस्था में, अपि = भी, बाधितानुवृत्त्या = बाधाओं की अनुवृत्ति से, उपभोगः = उपभोग बना रहता है।

**व्याख्या—** प्रयासपूर्वक विवेक-ज्ञान की प्राप्ति में अनेकों बाधाएँ आती रहती हैं तथा शरीर से सम्बन्धित विभिन्न कर्मों को करते रहने के कारण उन (कर्मों) के फल का भोग बना रहता है। पूर्व संचित जिन कर्मों का फल भोगना शेष रहता है, उनका भोग विवेक-ज्ञान की प्राप्ति होने के पश्चात् भी नष्ट नहीं होता; वरन् क्षुधा, पिपासा, आसन, समाधि के रूप में जो कष्ट मिलता है, वह भोगमय ही होता है। परन्तु जब पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है, तब उन संचित कर्मों का विनाश हो जाता है तथा आत्मज्ञानी समस्त बाधाओं से रहित हो अपवर्ग को पा लेता है। मुक्तावस्था को प्राप्त कर लेने पर कर्म एवं भोग का अस्तित्व पूर्ण रूपेण समाप्त हो जाता है॥ ७७॥

**( २८९ ) जीवन्मुक्तश्च ॥ ७८ ॥**

**सूत्रार्थ**— च = अतएव, जीवन्मुक्तः = (वह) जीवन से ही मुक्त हो जाता है।

**व्याख्या**— मनुष्य अपने जीवनकाल में आत्मज्ञान की प्राप्ति हो जाने पर ही मुक्तावस्था को प्राप्त हुआ माना जाता है। देह बने रहने से उसे जीवित कहा जाता है और आत्मज्ञान की प्राप्ति हो जाने से वह मुक्त कहलाता है। ऐसे आत्मज्ञान सम्पन्न तथा मुक्त पुरुष लोककल्याण के कार्य में संलग्न रहते हैं। वे प्राणिमात्र का उपकार करना ही अपना जीवन लक्ष्य मानते हैं॥ ७८॥

**( २९० ) उपदेश्योपदेष्टृत्वात्तत्सिद्धिः ॥ ७९ ॥**

**सूत्रार्थ**— उपदेश्योपदेष्टृत्वात् = उपदेश्य के योग्य (अनुकूल) एवं उपदेश देने वाला होने के कारण ही, तत्सिद्धिः = उस (जीवन्मुक्त) का होना सिद्ध होता है।

**व्याख्या**— जब मनुष्य को अपने जीवनकाल में ही मुक्तअवस्था की प्राप्ति हो जाती है,तब उसका चित्त पूर्णरूपेण परोपकार के कार्यों में तत्पर हो जाता है साथ ही वह उपदेश देने योग्य होकर परमार्थ का उपदेश देने वाला बन जाता है।

ऐसा जीवन्मुक्त पुरुष ही आत्मतत्त्व को सम्यक् रूप से समझा सकने में समर्थ होता है। इसीलिए आर्षग्रन्थादि,अध्यात्मसम्बन्धी विविध शास्त्रों के रचयिता ऋषि-मनीषीगण आत्मज्ञानी- तत्त्वदर्शी जीवन्मुक्त ही थे। आचार्य कपिल जी ने सांख्य शास्त्र को इसी रूप में उपदिष्ट किया है॥ ७९॥

**( २९१ ) श्रुतिश्च ॥ ८० ॥**

**सूत्रार्थ**— श्रुतिः =श्रुति(वैदिक साहित्य),च = भी जीवन्मुक्त होने की उपदेश करती है।

**व्याख्या**— श्रुति 'वैदिक साहित्य' के प्रणेता जीवन्मुक्त आत्मा ही रहे हैं। यजुर्वेद (अ० ३१ के मं० १८) के अनुसार पुरुष अपने आत्मज्ञान के द्वारा ब्रह्म को जानकरके प्रारब्ध कर्मों का भोग करते हुए भी जीवन्मुक्त अवस्था में रहता है। ऐसे अनेकों प्रमाण श्रुति (वैदिक साहित्य) में मिलते हैं। वैदिक वाङ्मय के अन्तर्गत सभी शाखा संहिताएँ, उपवेद व ब्राह्मण ग्रन्थों को भी समाहित हुआ जानना चाहिए॥ ८० ॥

**( २९२ ) इतरथाऽन्धपरम्परा ॥ ८१ ॥**

**सूत्रार्थ**— इतरथा = अन्यथा (यदि इस तरह न माना जाये तो), अन्धपरम्परा = अन्धपरम्परा संसार में प्रचलित हो जायेगी।

**व्याख्या**— आत्मज्ञान सम्पन्न ऋषि-मनीषियों के उपदेश और उनके शास्त्र ही समाज को सुव्यवस्थित रखने में समर्थ होते हैं। आत्मज्ञान सम्पन्न व्यक्तियों के अभाव में अज्ञानी जनों के द्वारा उपदेश किये जाने से संसार में अन्धपरम्परा, मूढ़मान्यताएँ, मनगढ़न्त धर्म प्रारम्भ हो जाएगा तथा मोक्ष मार्ग की व्यवस्था ही समाप्त हो जाएगी ॥ ८१ ॥

**( २९३ ) चक्रभ्रमणवद्धृतशरीरः ॥ ८२ ॥**

**सूत्रार्थ**— चक्रभ्रमणवत् = पहिया अथवा चाक के घूमने के समान, धृतशरीरः = जीवन्मुक्त पुरुष शरीर को धारण किये रहता है।

**व्याख्या**— कुम्भकार द्वारा चाक को घुमाकर छोड़ देने के बाद भी चाक काफी देर तक घूमता रहता है। उसी प्रकार आत्मज्ञान उत्पन्न हो जाने पर तथा कर्मों का क्षय हो जाने पर भी, यह देह कुछ समय तक सक्रिय बना रहता है अर्थात् पुरुष जीवन्मुक्त होकर भी लोकमंगल हेतु कुछ समय तक के लिए शरीर धारण किये रहता है। इस कारण जीवन्मुक्त का अस्तित्व आधार रहित नहीं होता॥ ८२ ॥

**( २९४ ) संस्कारलेशतस्तत्सिद्धिः ॥ ८३ ॥**

**सूत्रार्थ—** संस्कारलेशतः = संस्कार के अंश से, तत्सिद्धिः = जीवन्मुक्त का शरीर धारण करना सिद्ध होता है।

**व्याख्या—** कर्म संस्कारों का लेश अर्थात् अंशमात्र भी रह जाने से शरीर धारण करना पड़ता है अर्थात् पुनः जन्म ग्रहण करना पड़ता है। जब कर्मरूप संस्कारों का पूर्णतया शमन (विनाश) हो जाता है, तभी इस स्थूल शरीर से छुटकारा मिलता है। इससे यह सिद्ध होता है कि आत्मिक ज्ञान की प्राप्ति होने पर जन्म-जन्मान्तरों के संचित कर्मों का पूर्णरूपेण समापन तो हो जाता है; किन्तु प्रारब्ध कर्मों का पूरी तरह से शमन नहीं होता। उन (प्रारब्ध कर्मों) से छुटकारा मिलते ही यह स्थूल शरीर भी छूट जाता है और विदेह मुक्त की स्थिति प्राप्त हो जाती है। तब जन्म-मरण की स्थिति पूर्णतया समाप्त हो जाती है॥ ८३ ॥

**( २९५ ) विवेकान्निः शेषदुःखनिवृत्तौकृतकृत्यता नेतरान्नेतरात्॥ ८४॥**

**सूत्रार्थ—** विवेकात् = विवेक से, निःशेषदुःख निवृत्तौ = सभी प्रकार के दुःखों की निवृत्ति हो जाने पर, कृतकृत्यता पूर्ण सिद्धि होती है, इतरात् = अन्य (किसी दूसरे उपाय) से, न = नहीं।

**व्याख्या—** विवेक-ज्ञान द्वारा ही समस्त दुःखों-कर्मों का क्षय हो जाता है तथा अत्यन्त पुरुषार्थ रूप पूर्ण सिद्धि की प्राप्ति संभव होती है। मोक्ष रूप सिद्धि को पाकर मनुष्य कृतार्थ हो जाता है। पूर्ण कृतार्थता जीवन्मुक्ति से भी नहीं होती, वह तो विदेह मुक्ति से ही सम्भव है; क्योंकि उसमें प्रारब्ध कर्मों का भोग शेष रह जाता है। विवेकज्ञान के अतिरिक्त अन्य किसी दूसरे उपाय से इस अवस्था को प्राप्त करना संभव नहीं है। मोक्ष प्राप्ति में ही पूर्ण सुख है। 'नेतरात्' पद का दो बार पाठ-अध्याय-समाप्ति का सूचक है॥ ८४॥

## ॥ इति तृतीयोऽध्यायः समाप्तः ॥



# ॥ अथ चतुर्थोऽध्यायः ॥

**चतुर्थ अध्याय में भी उपरोक्त तीनों अध्यायों के अनुसार ही शास्त्र एवं लोक प्रसिद्ध आख्यायिकाओं द्वारा विवेक ( ज्ञान ) — साधनों को बतलाया गया है, यथा—**

**( २९६ ) राजपुत्रवत्तत्त्वोपदेशात्॥ १ ॥**

**सूत्रार्थ—** राजपुत्रवत् = राजपुत्र के सदृश, तत्त्वोपदेशात् = तत्त्व के उपदेश से।

**व्याख्या—** प्रस्तुत सूत्र में राजपुत्र के एक कथानक का संकेत इस प्रकार किया गया है- प्राचीन काल में राजा ने अपने राजपुत्र को किसी कारणवश राजभवन से बाहर निकाल दिया। एक चाण्डाल उस राजकुमार को प्राप्तकर प्रसन्न हुआ और उसका पालन- पोषण करने का निश्चय किया। वह राजपुत्र दीर्घकाल तक चाण्डाल के घर में रहते हुए स्वयं को चाण्डाल का ही पुत्र समझने लगा। जब वह कुछ समझदार हुआ, तो उसको किसी जानने वाले ने कहा कि तुम चाण्डाल के पुत्र नहीं, वरन् तुम तो राजपुत्र हो। ऐसा श्रवण कर उसने चाण्डाल भाव को त्यागकर अपना यथार्थ स्वरूप जाना तथा स्वयं को राजपुत्र मानने लगा। ऐसे ही तत्त्व का उपदेश श्रवण करने से उसे सद्ज्ञान की प्राप्ति होती है और तभी उसे बोध होता है कि मेरा आगमन संसार में हो गया है; किन्तु स्वभाववश मैं संसारी नहीं हूँ या यह देह (शरीर) मैं नहीं हूँ, मैं तो स्वयं शुद्ध चैतन्यमय आत्मा हूँ। ऐसा भाव आने पर वह मुक्तावस्था को प्राप्त हो जाता है॥१ ॥

**( २९७ ) पिशाचवदन्यार्थोपदेशेऽपि॥ २ ॥**

**सूत्रार्थ—** पिशाचवत् = पिशाच के सदृश, अन्यार्थोपदेशे = किसी अन्य के लिए अर्थ का (वस्तुतत्त्व का) उपदेश होने पर, अपि = भी (दूसरे को विवेक ज्ञान हो जाता है)।

**व्याख्या—** किसी अन्य व्यक्ति को उपदेश देते समय यदि कोई दूसरा व्यक्ति उसे श्रवण कर ले, तो वह भी पिशाच की भाँति उस उपदेश का लाभ प्राप्तकर यथार्थ तत्त्व का बोध प्राप्त कर लेता है। एक आत्मज्ञानी गुरु अपने शिष्य को तत्त्वज्ञान देने हेतु सुविधानुसार एकान्त की दृष्टि से वीरान जंगल में अपने साथ ले गये। वहीं निवास करते हुए वे दीर्घकाल तक आत्मज्ञान का उपदेश देते रहे। उनके उस उपदेश को प्रतिदिन एक पिशाच भी लुक-छिपकर श्रवण करता था। तदनुसार आचरण करता हुआ वह पिशाच भी शिष्य की तरह आत्मज्ञान सम्पन्न हो गया। इस प्रकार श्रेष्ठ लक्ष्य का सद्ज्ञान कहीं से किसी भी तरह मिल जाय और तदनुसार अपने जीवन में उतार लिया जाय, तो तत्त्वज्ञान की प्राप्ति निस्संदेह हो जाती है॥२ ॥

**( २९८ ) आवृत्तिरसकृदुपदेशात्॥ ३ ॥**

**सूत्रार्थ—** असकृत् = बार-बार, आवृत्तिः = दुहराते हुए, उपदेशात् = उपदेश से ।

**व्याख्या—** उपदेश को बराबर दुहराते रहना चाहिए। निरन्तर आवृत्ति से ही तत्त्वज्ञान की प्राप्ति सम्भव है। किसी वस्तु के सतत स्मरण करते रहने का निश्चय ही एक मनोवैज्ञानिक प्रभाव होता है। यदि कोई मनुष्य शाब्दिक रूप में प्रथम आत्म-स्वरूप को जानकर सदैव उसका चिन्तन करता रहता है, तो कुछ समय के पश्चात् एक ऐसी स्थिति की अवश्य ही सम्भावना की जा सकती है, जब उस मनुष्य को आत्म-स्वरूप का बोध हो जाए। योग में अभ्यास द्वारा ही तत्त्वज्ञान को प्राप्त करने का यही स्वरूप बतलाया गया है। श्रीमद्भगवद्गीता में भी 'नित्ययुक्ता उपासते' कहकर निरन्तर उपासना की बात कही गई है। इससे यही सिद्ध होता है कि ज्ञान का उपदेश ग्रहण कर उसका बारम्बार मनन-चिन्तन करता रहे। इसी से तत्त्वज्ञान की प्राप्ति संभव है॥३ ॥

## ( २९९ ) पितापुत्रवदुभयोर्दृष्टत्वात्॥ ४॥

**सूत्रार्थ—** पितापुत्रवत् = पिता एवं पुत्र के सदृश, उभयो: = दोनों के, दृष्टत्वात् = देखे जाने से ।

**व्याख्या—** यहाँ पर पिता एवं पुत्र के उदाहरण द्वारा यह बताने का प्रयास किया गया है कि वास्तविक जानकारी होने के पश्चात् जब भ्रम नष्ट हो जाता है, तब उस स्थिति को विवेक कहते हैं। वर्णन इस प्रकार है-एक बार कोई गरीब ब्राह्मण अपनी गर्भवती स्त्री को अकेले ही छोड़कर धन संग्रह हेतु परदेश चला गया। कई वर्षों के पश्चात् जब वह घर वापस आया, तो पिता को न जानने वाले बालक ने उससे कहा कि 'इस घर में प्रवेश मत करना , यहाँ कोई अन्य व्यक्ति नहीं आ सकता।' इस पर पिता को क्रोध आ गया कि यह अज्ञानी बालक मुझ गृहस्वामी को ही रोक रहा है और वह ऐसा न जानकर कि यह मेरा ही पुत्र है, उसे डाँटकर घर में प्रवेश किया। उसके इस कृत्य पर बालक को क्रोध आ गया और चिल्लाने लगा कि 'हे माँ! देखो, यह कौन आदमी घर में प्रवेश कर रहा है?' जब पत्नी ने अपने पति को देखा और पहचान कर अपने बच्चे से कहा— बेटा, यह तुम्हारे पिता हैं। इन्हें प्रणाम करो और पति से कहा कि यह आपका पुत्र है। तदनन्तर पुत्र ने प्रणाम किया और पिता ने उसे गोद में उठा लिया। इस प्रकार (पिता एवं पुत्र) दोनों को अपने सम्बन्ध का विवेक हो गया। उनके एक दूसरे के प्रति पहले के अन्यथा भाव समाप्त हो गये तथा यथार्थ अनुकूल भाव जाग्रत् हो गये।

इसे यों भी कह सकते हैं कि पिता-पुत्र को अपने समक्ष जन्मते हुए देखता है और पुत्र पिता को अपने ही समक्षे मरते हुए देखता है। पिता एवं पुत्र के सदृश जन्म एवं मृत्यु दोनों के द्वारा देखे जाने से द्रष्टा को नश्वर जगत् के प्रति वैराग्य हो जाता है और इसी वैराग्य से विवेक (तत्त्वज्ञान) की प्राप्ति हो जाती है। इसी तरह विषयाबद्ध व्यक्ति सद्गुरु से उपदेश प्राप्त कर आत्मा का वास्तविक ज्ञान पा लेता है॥४॥

## ( ३०० ) श्येनवत् सुखदु:खी त्यागवियोगाभ्याम्॥ ५॥

**सूत्रार्थ—** श्येनवत् = बाज (पक्षी) के सदृश, त्यागवियोगाभ्याम् = त्याग एवं वियोग से, सुखदु:खी = सुखी एवं दु:खी होता है।

**व्याख्या—** आवश्यकता से अधिक वस्तु-पदार्थों का संग्रह सदैव दु:खदायी ही होता है। अत: आध्यात्मिक मनुष्य को अनावश्यक संग्रह से सतत बचते रहना चाहिए। वस्तु-पदार्थों का त्याग सुख की स्थिति प्रकट करता है। यदि किसी व्यक्ति से बलपूर्वक उसकी प्रिय वस्तु का वियोग करा दिया जाय, तो वह उसके लिए असहनीय हो जाता है। आध्यात्मिक व्यक्ति को अपनी स्थिति स्वानुकूल बनाये रखने के लिए यह जरूरी है कि वह सदैव अपने त्याग भाव को जाग्रत् रखे। यहाँ पर इस सूत्र में 'श्येन' पक्षी के दृष्टान्त द्वारा 'त्याग से सुख और वियोग से दु:ख' की स्थिति को समझाया गया है। दृष्टान्त इस प्रकार है-एक बाज (पक्षी) किसी अन्य पक्षी के मांस को लेकर जा रहा था। किसी शिकारी ने उसे पकड़ लिया तथा उससे वह मांस भी छीन लिया। मांस के छिन जाने (वियोग होने) से उसे बहुत ही दु:ख हुआ। वह सोचने लगा कि यदि मैं इस मांस का स्वयं ही परित्याग कर देता अर्थात् उसे ग्रहण न करता, तो क्यों इस तरह पकड़ा जाता? मांस खण्ड का श्येन की चोंच में पकड़ा जाना यह उजागर करता है, कि उसे अब उस मांस के उपभोग की आवश्यकता नहीं है। यह स्थिति वस्तु के परिग्रह की ओर संकेत करती है।

इससे यह ज्ञात होता है कि लोक में परिग्रह (संग्रह करना) दु:ख और अशान्ति का मूल है और इसके विपरीत त्याग, सुख एवं शान्ति का। अत: दु:ख रूप इन समस्त सांसारिक पदार्थों एवं विषयों का त्याग ही कर देना सर्वदा उचित है॥ ५॥

**( ३०१ ) अहिनिर्ल्वयिनीवत्॥ ६॥**

**सूत्रार्थ—** अहिनिर्ल्वयिनीवत् = साँप की केंचुली के सदृश ही।

**व्याख्या—** जिस प्रकार से साँप अपनी केंचुली हेय समझकर त्याग देता है, पुन: उसमें आसक्ति नहीं रखता, उसी प्रकार मुक्ति की कामना वाला मनुष्य दीर्घकाल से भोगी हुई प्रकृति को त्याग देने का दृढ़संकल्प करके ज्ञानमार्ग की ओर निरन्तर अग्रसर रहे।

इस दृष्टान्त को अन्य व्याख्याकारों ने अन्य दूसरे रूपों में कहा है, यथा- साँप अपनी केंचुली को बिल के द्वार पर अथवा निवास स्थल के निकट ही त्याग देता है, लेकिन फिर भी उसमें उसका मोह यथावत् बना रहता है। वह उस केंचुली को मिट्टी-धूल आदि में पड़े हुए देखकर अत्यन्त दु:खित होता है। उसकी निकटता को छोड़ना नहीं चाहता, केंचुली को देखकर कोई सपेरा साँप की तलाश में रहता है। सुअवसर मिलने पर उसे पकड़ लेता है और साँप बन्धन में फँस जाता है। ऐसे ही जो मनुष्य मोहवश विषय-भोगों में लिप्त रहता है, वह बन्धनों में पड़कर दु:खित होता रहता है। अत: विषयों में वैराग्य एवं त्याग की भावना को सतत दृढ़ संकल्पित बनाते रहना चाहिये॥६॥

**( ३०२ ) छिन्नहस्तवद्वा॥ ७॥**

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, छिन्नहस्तवत् = कटे हाथ वाले व्यक्ति के सदृश (वासना का त्याग कर देने पर त्यागी के साथ उसका सम्बन्ध नहीं रह जाता)।

**व्याख्या—** जब किसी व्यक्ति का हाथ कट जाता है, तब पुन: उसका सम्बन्ध उस व्यक्ति से नहीं रह जाता। ठीक ऐसे ही वासना का परित्याग कर देने पर उस त्यागी व्यक्ति के साथ विषयों का भी कोई सम्बन्ध नहीं रहता। इसका अभिप्राय यह है कि वासनाओं का त्याग करने पर उनसे कोई सम्बन्ध न रखे, अन्यथा वे विषय-भोग उसे बन्धन में डालेंगे। ऐसी स्थिति में मोक्ष प्राप्ति की संभादना बिल्कुल नहीं रह जाती। यहाँ पर इस सूत्र में कटे हुए हाथ का दृष्टान्त दिया गया है, इसके सम्बन्ध में महाभारत (शांतिपर्व) के २३/१८-३५ में वर्णन इस प्रकार मिलता है- प्राचीनकाल में शंख एवं लिखित नामक दो भाई तप करते हुए अपने-अपने आश्रमों में रहते थे। एक बार छोटे भाई लिखित अपने बड़े भाई शंख के आश्रम में गये; किन्तु आश्रम सुनसान था। किसी कार्यवश शंख बाहर गये हुए थे। लिखित ने आश्रम के वृक्षों पर लगे हुए पके फलों को देखा और लालचवश उन्हें तोड़कर खा लिया। शंख ने वापस आकर वृक्षों में फलों को जब नहीं देखा, तो अपने भाई से पूछा कि फलों को किसने तोड़ा? उन्होंने बताया- मैंने तोड़कर खा लिया है। शंख ने कहा- यह तुम्हारा कार्य चोरी के अंतर्गत है, अत: इसका प्रायश्चित्त करो, नहीं तो तुम्हारी तपस्या में पतन की सम्भावना हो सकती है। लिखित अपने भाई की बात मानकर राजा के पास गया और अपना अपराध बताकर अपने लिए दण्ड व्यवस्था हेतु प्रार्थना की। राजा ने उस समय की प्रथानुसार चोरी के जुर्म में हाथ काटने की सजा दी। इसका अभिप्राय यह हुआ कि साधक कटे हाथ की तरह वासना को त्याग दे और कोई ऐसा कार्य न करे, जिससे कि वह सन्मार्ग से पतित हो जाये। कुमार्ग पर चलने वाला कोई भी व्यक्ति आत्मज्ञानी नहीं हो सकता, इस कारण आध्यात्मिक पथ पर आरूढ़ पथिक को अकार्य के त्याग हेतु सतत प्रयत्नशील रहना चाहिए, तभी मोक्ष-प्राप्ति संभव हो सकती है॥ ७॥

**( ३०३ ) असाधनानुचिन्तनं बन्धाय भरतवत्॥ ८॥**

**सूत्रार्थ—** भरतवत् = भरत के समान, असाधन = जो मोक्ष के साधन नहीं है, उनका, अनुचिन्तनम् = बारम्बार चिन्तन करना, बन्धाय = बन्धन के लिए होता है।

**व्याख्या**— जो साधन आत्मज्ञान की प्राप्ति में बाधक है, उसका प्रतिक्षण चिन्तन करते रहने से विषय-भोगों से छुटकारा नहीं मिलता। उस से आत्मज्ञान की प्राप्ति बाधित हो जाती है, जब कि वह कार्य, भरत के समान अकार्य नहीं होता। जैसे कि भरत को दीन, अनाथ हरिण के बच्चे का पालन-पोषण एवं प्रतिक्षण उस विषय में बारम्बार चिन्तन करना ही पुन: बन्धन का कारण बन गया।

विष्णु पुराण- अंश २, अध्याय १३-१४ के अन्तर्गत यह कथा-प्रसंग आता है- सतयुग में भरत नामक एक राजर्षि आत्मज्ञान से सम्पन्न एवं जीवन्मुक्त थे। एक बार उन्होंने जंगल में एक हरिणी के बच्चे को देखा, जो अनाथ था। उसकी माँ प्रसव के पश्चात् मृत्यु को प्राप्त हो गई थी। उन्होंने सोचा कि माँ के अभाव में यह अनाथ बच्चा भी मर जायेगा। ऐसा सोचते हुए उनके मन में तीव्र करुण भाव जाग्रत् हो गया। तदनन्तर उन्होंने उस बच्चे को पाल लिया और उसकी सेवा-शुश्रूषा करने लगे। शनै:-शनै: वे उसमें इतने आसक्त हो गये कि उसी के आगे-पीछे निरन्तर विचरण करने लगे। उसे खिलाते-पिलाते तथा उसकी इच्छाओं एवं क्रियानुसार स्वयं व्यवहार करने लगे। उन्होंने अपनी मृत्यु के समय में भी उसी का चिन्तन करते हुए प्राणों को छोड़ दिया। मुक्ति न मिलने के कारण तीव्र वासनाओं के वशीभूत हो जाने के कारण उन्होंने हरिण की योनि में जन्म लिया। इस तरह से पुन: उन्हें बन्धन में आना पड़ा। श्रेष्ठ कार्य भी यदि वे योग समाधि अथवा आत्मज्ञान के साधनभूत नहीं हैं, तो योग मार्ग के साधक को उनका चिन्तन कदापि नहीं करना चाहिए; क्योंकि वे श्रेष्ठ कार्य होते हुए भी भरत के समान बन्धन में डालने वाले हो जाते हैं॥८॥

**( ३०४ ) बहुभिर्योगे विरोधो रागादिभिः कुमारीशङ्खवत्॥ ९॥**

**सूत्रार्थ**— बहुभि: = बहुतों (व्यक्तियों) के साथ, योगे = सम्पर्क में, रागादिभि: = राग-द्वेषादि के द्वारा, कुमारीशङ्खवत् = कुमारी (कन्या) के शङ्ख धारण करने की भाँति, विरोध: = विरोध हो जाता है।

**व्याख्या**— बहुत लोगों की संगति में रहने के कारण रागद्वेषादि उत्पन्न हो जाने पर आपस में विरोध की स्थिति बन जाती है। योगपथ पर निरन्तर गतिशील बने रहने के लिए राग-दोषों से रहित परम वैराग्यपूर्ण जिस श्रेष्ठ स्थिति की आवश्यकता है, वह संगति में नहीं रह पाती। अनेकों सद्विचार एवं प्रवृत्तियों के मध्य में रागादि दोषों की भावना जाग्रत् हो उठती है, फिर सामान्य संसारी और उस (योगी) की स्थिति में किसी भी तरह का अन्तर नहीं रहता। एकान्तवास की स्थिति में इस तरह की स्थिति प्रकट होने के बहुत ही कम अवसर प्राप्त होते हैं। यहाँ इस सूत्र में इसीलिए 'कुमारी-शंख' का दृष्टान्त सूत्रकार ने दिया है। शंख से अभिप्राय है, शंख द्वारा निर्मित चूड़ियाँ। जिस तरह कुमारी (कन्या) के हाथ में धारण की हुई शंख की चूड़ियाँ आपस में टकराकर शब्द करती रहती हैं, उसी तरह आत्मज्ञानी का भी बहुत से व्यक्तियों के साथ सम्बन्ध रहने से परस्पर संघर्ष, द्वेषादि होना स्वाभाविक है और यह अवस्था आत्मिक प्रगति में बाधक होती है। अत: इसमें मोक्ष तो क्या? विवेक की भी उपलब्धि नहीं होती। अत: आत्मिक प्रगति वाले साधक को सदैव बहुत व्यक्तियों की संगति से सदा बचते रहना चाहिए॥ ९॥

**( ३०५ ) द्वाभ्यामपि तथैव॥ १०॥**

**सूत्रार्थ**— द्वाभ्याम् = दो (व्यक्तियों) के साथ (संपर्क में), अपि = भी, तथैव = उसी तरह (विरोध की स्थिति बनी रह सकती है)।

**व्याख्या**— बहुत व्यक्तियों की तरह दो लोगों के एक साथ रहने पर भी योग विरोधी भाव प्रकट होने की स्थिति बनी रहती है। दो लोगों के एक साथ रहने में अत्यधिक राग-द्वेषादि के प्रकट होने की सम्भावना यदि न भी रहे, तब भी परस्पर बातचीत आदि में समय व्यर्थ नष्ट होने का भय तो बना ही रहता

है। अत: आत्म जिज्ञासु के लिए एकान्तवास अति आवश्यक है। जिस प्रकार कुमारी (कन्या) के हाथ में बहुत अथवा दो कंकण आपस में टकराने से शब्द करते रहते हैं; किन्तु यदि एक हाथ में एक ही कंकण धारण किया गया हो, तो वह सदैव शब्द रहित होकर शान्त रहता है। इसी प्रकार योगी आत्मज्ञानी साधक को भी एकान्त में निवास करते हुए शान्तचित्त पूर्वक रहने का निरन्तर प्रयास करना चाहिए॥१०॥

**( ३०६ ) निराशः सुखी पिङ्गलावत्॥ ११॥**

**सूत्रार्थ**— पिङ्गलावत् = पिङ्गला के समान, निराशः = आशा रहित, सुखी =सुखी होता है।

**व्याख्या**— मिथ्या आशाओं को त्यागकर संतोष एवं धैर्य के साथ रहने वाला व्यक्ति सुखी रहता है। योग मार्ग पर आरूढ़ व्यक्तियों के लिए तीव्र वैराग्य का होना अति आवश्यक है। आशाओं का सर्वथा त्याग ही श्रेष्ठ वैराग्य है। जब सामान्य जन भी आशा के कड़ुवे घूँट का परित्याग कर देता है, तब वह शांति एवं संतोष का आनन्द प्राप्त करता है। स्थिर आशारूपी पिशाचिनी का पूरी तरह से शमन कर देने वाले योगी के लिए तो कहना ही क्या है? सूत्रकार ने इसे और भी अधिक स्पष्ट करने के लिए यहाँ पर महाभारत शांतिपर्व (१७६.६१-६२) से पिङ्गला का दृष्टान्त दिया है 'प्राचीन काल में एक पिङ्गला नामक वेश्या रहती थी। अपने प्रेमी के आने में पिङ्गला की रात्रि आँखों में कट जाती। प्रेमी के न आने पर वह अत्यन्त दु:खी रहती। जब ऐसा उसके साथ कई बार हुआ, तो उसके मन में पश्चात्ताप की एक भावना प्रस्फुटित हुई, वह विचार करने लगी कि मैं जो भी कुछ करती हूँ, वह ठीक नहीं। मुझे इस आशा का त्याग कर देना चाहिए। उसका यह भाव दृढ़ होता गया और धीरे-धीरे उस आशा की जड़ समाप्त हो गई। अब वह शान्तचित्त होकर पूरी रात निश्चिन्त होकर शयन करती। उसे किसी भी प्रकार का कोई संताप नहीं रहा। इसी तरह योगी को भी आशा का त्याग और दृढ़ वैराग्य के साथ योगपथ का अनुसरण करना चाहिए; क्योंकि आशा का फन्दा साधना को सफल नहीं होने देता। आत्मज्ञान तो विरक्त योगियों को ही हो सकता है॥११॥

**( ३०७ ) अनारम्भेऽपि परगृहे सुखी सर्पवत्॥ १२॥**

**सूत्रार्थ**— सर्पवत् = सर्प के समान, अनारम्भे = आरम्भ अर्थात् अपने घर का निर्माण किये बिना, अपि = भी, परगृहे = दूसरे के घर में, सुखी = सुख पूर्वक निवास करता है।

**व्याख्या**— इस नाशवान् संसार का त्याग कर देने वाले आत्म-जिज्ञासु को अपने मकान या मठ का निर्माण कदापि नहीं करना चाहिए; क्योंकि मकान आदि निर्मित करने से गृहस्थ की भाँति ही उसमें आसक्ति आ सकती है और जहाँ पर आसक्ति का आगमन हुआ, वहाँ पर विषय भोगों का प्रादुर्भाव भी होना सम्भव है। इस तरह एक ही स्थल पर ममता बुद्धि को प्रकट न होने दे। जिस तरह साँप अपने रहने के लिए कोई स्थल निर्मित नहीं करता, यत्र-तत्र भ्रमण करता रहता है। जहाँ मौका मिला, परनिर्मित आवास में अपना समय व्यतीत कर लेता है। उसी तरह साधक भी मकान या मठ आदि निर्माण के चक्कर में न पड़कर जहाँ जगह मिल जाये, वहीं पर रहने लगे। उसे ही अपना निवास स्थान माने॥१२॥

**( ३०८ ) बहुशास्त्रगुरूपासनेऽपि सारादानं षट्पदवत्॥ १३॥**

**सूत्रार्थ**— षट्पदवत् = भौंरे के समान, बहुशास्त्र = अनेक शास्त्र (एवं), गुरूपासने = गुरुओं की उपासना में, अपि = भी, सारादानम् = सार तत्त्व का ग्रहण (ठीक) है।

**व्याख्या**— शास्त्रादि के अध्ययन एवं गुरुजनों की निरन्तर सेवा-शुश्रूषा में रहते हुए अपने अनुकूल सारभूत तत्त्वार्थों को ग्रहण कर लेना चाहिए। गुरुजनों के समीप शम, दम आदि समाधि हेतु जो सम्पति है, उसे शीघ्र ही ग्रहण कर लेना चाहिए तथा जो राग-द्वेषादि विकार कभी उनमें परिलक्षित होते हों,

तो आत्मज्ञानी को उन विकारों को उपेक्षित कर देना चाहिए। गुरु का आचरण जानकर उन विकारों का कभी अनुकरण नहीं करना चाहिए।

जिस प्रकार भौंरा पुष्पों से सारभूत तत्त्व ग्रहण कर लेता है और अनुपयोगी पदार्थ को त्याग देता है, वैसे ही आत्म जिज्ञासु को सार तत्त्व ही शास्त्रों एवं गुरुजनों से ग्रहण करना चाहिए। जो मनुष्य अपना सारा समय अनुपयोगी तत्त्व के जानने में लगाता रहता है तथा अव्यवस्थित चित्त से प्रत्येक वस्तु को पाने के लिए प्रयासरत रहता है, वह दीर्घकाल तक भी आत्मज्ञान का लाभ प्राप्त नहीं कर सकता; अत: शास्त्र एवं गुरुजनों से सारभूत उपयोगी तत्त्व को ग्रहण करने में ही अधिकाधिक समय लगाना चाहिए॥१३॥

**( ३०९ ) इषुकारवन्नैकचित्तस्य समाधिहानि:॥ १४॥**

**सूत्रार्थ—** इषुकारवत् = बाण का निर्माण अथवा संधान करने वाले के समान, एकचित्तस्य = एकाग्रचित्त वाले साधक की, समाधिहानि: = समाधि की हानि, न = नहीं होती।

**व्याख्या—** एकाग्र किये हुए चित्त से तल्लीन साधक की समाधि में किसी भी तरह की हानि या बाधा ठीक वैसे ही नहीं होती, जैसे किसी शिल्पी या निर्माता को ध्यान पूर्वक अपने निर्माण या शिल्पकारिता के कार्य में तल्लीन होने के कारण समीप में होने वाली घटनाओं अथवा क्रियाओं की जानकारी नहीं होती। इस सन्दर्भ में सूत्रकार ने यह दृष्टान्त दिया है-'एक बार एक बाण निर्माता अपने निर्माण कार्य में इतना एकाग्रचित्त था कि उसके सामने के रास्ते से होकर राजा की फौज निकल गई, लेकिन उसे कुछ भी पता न लगा। कुछ देर के पश्चात् किसी व्यक्ति ने आकर उससे पूछा कि अभी थोड़ी देर पहले यहाँ से राजा की फौज गई है, क्या आपको जानकारी है कि वह किधर गई है? उसने कहा — मैं अपने कार्य में इतना तल्लीन था कि मुझे कुछ भी ध्यान नहीं रहा कि इधर से कोई गया या नहीं।' इसका अभिप्राय यह है कि साधक को एकाग्रचित्तता से समाधि भंग होने की आशंका नहीं रह जाती। यदि चित्त एकाग्र न हुआ, तो वह विषय वासनाओं की तरफ दौड़ेगा और विवेक की प्राप्ति किसी भी तरह से संभव नहीं होगी॥१४॥

**( ३१० ) कृतनियमोल्लंघनादानर्थक्यं लोकवत्॥ १५॥**

**सूत्रार्थ—** कृतनियम = निश्चित 'स्वीकार्य' नियमों के, उल्लङ्घनात् = उल्लङ्घन से, आनर्थक्यम् = अनर्थ होता है (अथवा असफलता मिलती है), लोकवत् = जैसा कि प्राय: लोक में देखा जाता है।

**व्याख्या—** अपने द्वारा स्वीकार्य नियम या निश्चित किये हुए व्रत आदि का उल्लङ्घन कर देने से साधक द्वारा ज्ञान लाभ हेतु किये गये सभी प्रयास व्यर्थ हो जाते हैं। निरन्तरता,दृढ़ संकल्प एवं नियमित अभ्यास ही ज्ञानलाभ में सहयोगी होता है। कभी कम,कभी ज्यादा अभ्यास कर लिया और कभी बिल्कुल ही छोड़ दिया। ऐसा करने से किया हुआ प्रयास भी फलरहित हो जाता है। जैसा कि संसार में प्राय: ही देखा जाता है कि कोई रोगी रोग की समाप्ति हेतु औषधि तो लेता है; किन्तु पथ्य या औषधि सम्बन्धी नियमों का नियमित पालन नहीं करता, इससे तो रोग दूर होने की अपेक्षा बढ़ जाता है और सारा प्रयास व्यर्थ हो जाता है। इस प्रकार निश्चित नियम का उल्लङ्घन करने से साधक विषयों में आबद्ध होकर अपने लक्ष्य से पतित हो जाता है। इसी कारण साधक को विवेक की प्राप्ति में सफलता नहीं मिलती है॥१५॥

**( ३११ ) तद्विस्मरणेऽपि भेकीवत्॥ १६॥**

**सूत्रार्थ—** तत् = उस (नियम)के, विस्मरणे = विस्मृत हो जाने पर, अपि = भी, भेकीवत् = भेकी (मेढकी) के समान (असफलता) मिलती है।

**व्याख्या—** आत्मज्ञान की प्राप्ति में आवश्यक व्रत-नियमादि के विस्मृत हो जाने पर तथा इसी से

उनका यथेष्ट संकल्प पूर्ण न होने पर आत्मिक लाभ हेतु किए जाने वाले समस्त प्रयास मेढकी से सम्बन्धित घटनाक्रम के समान निष्फल हो जाते हैं। मेढकी की घटना का वर्णन इस प्रकार मिलता है — एक बार एक राजा शिकार खेलने हेतु जंगल में गया। वहाँ उसने एक अत्यन्त सुन्दर कन्या को देखा। पूछने पर उसने कहा- मैं राजकन्या हूँ। राजा ने उससे परिणय हेतु अपनी इच्छा व्यक्त की। उसने एक शर्त के सहित दाम्पत्य में बँधना स्वीकार किया। शर्त यह थी कि तुम मुझे जल मत दिखाना। जिस दिन जल दिखा दोगे, उसी दिन मैं तुम्हारे पास से चली जाऊँगी। शर्त मानने के बाद दोनों ने विवाह कर लिया। कुछ दिनों के पश्चात् क्रीड़ा से थकी हुई रानी ने राजा से अचानक पूछा कि जल कहाँ है? शर्त विस्मृत हो जाने के कारण राजा ने उसे जलाशय में जाकर जल दिखा दिया। जल देखते ही वह कामरूपिणी (इच्छारूप धारी) राजपुत्री मेढकी बनकर जलाशय में प्रविष्ट हो गयी। राजा ने जाल आदि डलवाकर बहुत ढुँढ़वाया; परन्तु वह नहीं मिली। इससे राजा बहुत ही दु:खी रहने लगा। इसी प्रकार आत्मिक प्रगति के जो नियम हैं, उनकी विस्मृति होने पर अध्यात्ममार्ग में सफलता नहीं मिल पाती। यह घटनाक्रम चाहे काल्पनिक ही क्यों न हो? सूत्रकार ने यहाँ भूल का परिणाम प्रदर्शित करने के लिए इसका उपयोग किया है ॥१६॥

**( ३१२ ) नोपदेशश्रवणेऽपि कृतकृत्यता परामर्शादृते विरोचनवत्॥ १७॥**

**सूत्रार्थ—** उपदेशश्रवणे = उपदेश श्रवण करने के पश्चात्, अपि = भी, परामर्शादृते = चिन्तन-मनन किये बिना, विरोचनवत् = विरोचन के समान (ही), कृतकृत्यता = कृतकृत्यता, न = नहीं मिलती।

**व्याख्या—** उपदेश श्रवण के पश्चात् जब तक उसका मनन-चिन्तन न किया जाये, तब तक विरोचन के सदृश ही पूर्ण सफलता नहीं मिलती। इस सन्दर्भ में छान्दोग्य उपनिषद् (८.७-८) की कथा का वर्णन द्रष्टव्य है- 'पूर्वकाल में देव और दैत्य साथ-साथ जीवनयापन करते थे। उन सभी के समक्ष प्रजापति ने कहा- आत्मा सत्य-संकल्प, नष्ट न होने वाला अर्थात् अजर-अमर है, जो ऐसा जान लेता है, वह समस्त लोकों व कामनाओं को प्राप्त कर लेता है। यह सुनकर देवों ने इन्द्र को और असुरों ने विरोचन को अपना-अपना प्रतिनिधि बनाकर आत्म-विषयक ज्ञान पाने के लिए प्रजापति के पास भेजा। प्रजापति ने दोनों को जल से परिपूर्ण कटोरे को लाने का आदेश दिया। उन दोनों के वैसा करने पर प्रजापति ने उनसे कटोरे में स्थित जल में अपने को देखने को कहा और पूछा कि जल में क्या देखते हो? उन दोनों ने कहा- लोम एवं नख पर्यन्त हम स्वयं को देख रहे हैं। प्रजापति ने पुन: कहा कि अब सुन्दर वस्त्र-अलंकारादि धारण कर पुन: जल में देखो। उन दोनों ने वैसा ही किया और पूछने पर बतलाया कि अब हम अपने को पूर्णरूपेण सजा हुआ, अलंकारादि से सम्पन्न, परिष्कृत देख रहे हैं।' प्रजापति ने कहा 'बस, यही आत्मा है, यही अमृत है, यही महान् है।'विरोचन ने प्रजापति द्वारा जो भी कुछ सुना, उस पर कुछ मनन नहीं किया तथा अपने मित्रों असुरों को बताया कि 'यह शरीर ही आत्मा है।' इसी की पूजा करनी चाहिए। इसी से इहलोक व परलोक दोनों प्राप्त हो जाते हैं। असुरों ने आधिभौतिक इस नश्वर देह को ही आत्मा समझा। उसी के आधार पर जगत् में भौतिक स्थूल(पदार्थ)पूजन का प्रचलन हुआ। इसका अभिप्राय यह हुआ कि उपदेश श्रवण के बाद जब तक उस विषय में पूर्ण रूपेण विचार न किया जाये, तब तक उसका यथार्थ ज्ञान होना असंभव है ॥१७॥

**( ३१३ ) दृष्टस्तयोरिन्द्रस्य॥ १८॥**

**सूत्रार्थ—** तयो: = उन दोनों में, इन्द्रस्य = इन्द्र का, दृष्ट: - देखा गया है)।

**व्याख्या—** उन दोनों (विरोचन एवं इन्द्र) में विरोचन तो असफल रहा; किन्तु इन्द्र आत्मबोध

अथवा आत्म साक्षात्कार में सफल हो गये। उन्होंने प्रजापति के उपदेश को सुना, तदनन्तर उस पर विचार किया कि यह उपदेश आत्मा का अविनाशी होना प्रतिपादित करता है या शरीर का? इन्द्र अपनी उक्त आशंका लेकर पुनः प्रजापति के समक्ष उपस्थित हुए, तो प्रजापति ने उनको उपयुक्त अधिकारी मानते हुए यथार्थ अध्यात्म का उपदेश प्रदान किया। इन्द्र को प्रजापति के समक्ष पुनः आने की प्रेरणा एवं आत्म विषयक आशंकाओं का प्राकट्य चिन्तन-मनन से ही हुआ। अतः आध्यात्मिक विषय से सम्बन्धित उपदेश श्रवण के पश्चात् आत्म-साक्षात्कार में संलग्न साधक को आत्मिक उत्थान हेतु निरन्तर चिन्तन-मनन का अवसर निकालते रहना चाहिए। इसी से आत्मज्ञान की प्राप्ति संभव है॥१८॥

**( ३१४ ) प्रणतिब्रह्मचर्योपसर्पणानि कृत्वा सिद्धिर्बहुकालात्तद्वत्॥ १९॥**

**सूत्रार्थ**— तद्वत् = उस (इन्द्र) के समान, प्रणति = गुरुजनों को प्रणाम करके, ब्रह्मचर्य = इन्द्रिय संयम (ब्रह्मचर्य) पूर्वक, उपसर्पणानि = गुरु के समीप में रहते हुए अनुष्ठान आदि, कृत्वा = (सम्पन्न) करके, बहुकालात् = दीर्घकाल से, सिद्धिः = सफलता मिल पाती है।

**व्याख्या**— जिस प्रकार देवराज इन्द्र ने इन्द्रिय संयम (ब्रह्मचर्य) पूर्वक गुरु के समीप निवास करते हुए प्रणाम आदि शिष्टाचार की परम्पराओं का निर्वहन करके अनुष्ठान आदि विधियों को सम्पन्न करते हुए अपने आत्मस्वरूप की जानकारी प्राप्त की अर्थात् आत्म साक्षात्कार किया। उसी प्रकार साधक को इन्द्रिय संयम, गुरुजनों को प्रणाम व उनकी सेवाशुश्रूषा आदि के द्वारा उन्हें संतुष्ट कर, उनसे अपने लक्ष्य प्राप्ति कराने वाले उपदेशों को श्रवण कर मनन-चिन्तन करता हुआ, उनके द्वारा कही हुई क्रियाओं को लम्बे समय तक सीखता रहे, उन्हीं से आत्मज्ञान की प्राप्ति संभव है॥१९॥

**( ३१५ ) न कालनियमो वामदेववत्॥ २०॥**

**सूत्रार्थ**— वामदेववत् = वामदेव के समान, कालनियमः = काल का नियम, न = नहीं है।

**व्याख्या**— इस जन्म में ही की हुई संकल्पित एवं अनुष्ठित साधना विधियों द्वारा आत्म साक्षात्कार होता है, ऐसी कोई निश्चित अवधि नहीं है। इस जन्म या अन्य जन्म में भी आत्मज्ञान का प्राकट्य ऋषि वामदेव के समान हो सकता है। आर्ष ग्रन्थों में यह वर्णन मिलता है कि ऋषि वामदेव को उनके स्वयं के द्वारा जन्म-जन्मान्तरों से की हुई साधना विधियों के फलस्वरूप उन्हें गर्भावस्था में ही आत्म-साक्षात्कार का लाभ हो गया था। इसी तरह कोई साधक दीर्घकाल से की हुई साधना विधि द्वारा, जब उपयुक्त समय आ जाता है,आत्मज्ञान को प्राप्त कर लेता है। इसके लिए कोई निश्चित समय सीमा नहीं है॥२०॥

**( ३१६ ) अध्यस्तरूपोपासनात्पारम्पर्येण यज्ञोपासकानामिव॥ २१॥**

**सूत्रार्थ**— अध्यस्त = उपदेश किये गये ,रूपोपासनात् = रूप की उपासना से, यज्ञोपासकानामिव = यज्ञ एवं उपासना करने वालों की भाँति, पारम्पर्येण = परम्परानुसार (आत्मज्ञान की प्राप्ति हो जाती है।)

**व्याख्या**— इस सूत्र में आत्मा के स्वरूप में जो शंका होती है, उसके समाधान का प्रयास किया गया है। सूत्रकार ने कहा कि जब आत्मा को जानते ही नहीं, तो फिर उसके स्वरूप को कैसे समझ सकते हैं? जब रूप ही नहीं जानेंगे, तो फिर ध्यान किसका करेंगे? इसका समाधान करते हुए सूत्रकार ने कहा कि जिस प्रकार यज्ञ एवं उपासना में तल्लीन साधकगण अपने साध्य का स्वरूप जाने बिना ही शास्त्रादि में वर्णित रूप के आधार पर ही अनुष्ठान या उपासना-संकल्प आदि करते हैं। उसी प्रकार आत्मवेत्ता द्वारा उपदेश किये गये आत्मा के स्वरूप का चिन्तन करना चाहिए। इस तरह निरन्तर शनैः-शनैः क्रमानुसार आत्म-साक्षात्कार करने का प्रयास नियमित रूप से करते रहना चाहिए। अनियमितता अर्थात् प्रारम्भ में रुचि होने

के कारण अधिक ध्यान किया, फिर कुछ दिनों के पश्चात् कम कर दिया और कभी किया ही नहीं, इससे असफलता ही हाथ लगती है। अतः यज्ञ, ध्यान एवं गुरुजनों के द्वारा उपदिष्ट किये हुए स्वरूप का परम्परानुसार क्रमिक गति से उत्तरोत्तर अभ्यास द्वारा ही आत्मज्ञान या आत्म साक्षात्कार हो जाता है॥२१॥

**( ३१७ ) इतरलाभेऽप्यावृत्तिः पञ्चाग्नियोगतो जन्मश्रुतेः॥ २२॥**

**सूत्रार्थ—** इतरलाभे = अन्य उन्नत लोकों एवं अवस्थाओं के लाभ होने पर, अपि = भी, जन्मश्रुतेः = जन्म सुने जाने से, पञ्चाग्नियोगतः = पञ्चाग्नि आदि योग विद्याओं के सम्बन्ध से, आवृत्तिः = (पुनः इस मानव संसार में आत्मा की) वापसी होती है।

**व्याख्या—** इतरलाभ का भाव यहाँ पर स्वर्ग में स्थित उन्नत लोकों अथवा योग की उच्चावस्था की प्राप्ति से है। पञ्चाग्नि योग विद्या एक उपासना है। इस विद्या का छान्दोग्य (५.३-९)एवं बृहदारण्यक (६.२) उपनिषदों में विस्तार से विवेचन किया गया है। पञ्चाग्नि का भाव यह भी है कि चारों ओर लकड़ी जला ली जाये और ऊपर से सूरज का ताप पड़ता रहे। इस सन्दर्भ में 'पञ्चाग्नि' के साथ विद्या एवं उपासना दोनों पदों का पर्यायरूप में प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार से पञ्चाग्नि योग वाली उपासना के द्वारा मोक्ष से इतर अभ्युदय (स्वर्गादि) की प्राप्ति क्यों न हो जाये? किन्तु उस अवस्था में भी पुनः इसी मानव आवर्त्त अर्थात् संसार में लौटकर आना होता है; किन्तु जिन्हें मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है, उनका इस संसार में पुनः जन्म नहीं सुना जाता। स्पष्ट है कि 'पञ्चाग्नि' आदि विद्याओं द्वारा भी 'मोक्ष' की प्राप्ति नहीं हो सकती॥२२॥

**( ३१८ ) विरक्तस्य हेयहानमुपादेयोपादानं हंसक्षीरवत्॥ २३॥**

**सूत्रार्थ—** हेयहानम् = हेय (त्यागने योग्य वस्तु)का त्याग और, उपादेयोपादानम् = उपादेय अर्थात् ग्रहण करने योग्य वस्तु को ग्रहण करना, विरक्तस्य = वैराग्यमय योगी को, हंसक्षीरवत् = हंस के द्वारा ग्रहण किये हुए दुग्ध के सदृश होता है।

**व्याख्या—** इस नश्वर जगत् में त्यागने योग्य एवं स्वीकारने योग्य सभी तरह के पदार्थ सामने विद्यमान रहते हैं। अध्यात्म पथ पर अग्रसर रहने वाले व्यक्ति में जब श्रेष्ठ वैराग्य की भावना उत्पन्न होती है, तब वह इतना अधिक शक्ति-सम्पन्न हो जाता है कि जो भी वस्तु उसके लिए त्याज्य होती है, उसे त्याग देता है और जो स्वीकारने योग्य है, उसे उसी प्रकार स्वीकार कर लेता है; जिस प्रकार जल में मिले हुए दुग्ध में से हंस केवल दूध को ही ग्रहण करता है, जल का त्याग कर देता है। जो व्यक्ति दृढ़ वैराग्य से सम्पन्न नहीं होता, वह अपने लिए विषय-वासनाओं में अनुकूल एवं प्रतिकूल स्थिति को न जान सकने से उन्हीं में तल्लीन हो जाता है और अध्यात्म पथ से पतित हो जाता है। अतः आत्मज्ञान के लिए उत्कट वैराग्य का होना अत्यन्त आवश्यक है। संसार हेय एवं मोक्ष उपादेय है। इसके लिए वैराग्य ही एक मात्र सत्यमार्ग है॥२३॥

**( ३१९ ) लब्धातिशययोगाद्वा तद्वत्॥ २४॥**

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, तद्वत् = नीर-क्षीर विवेकी हंस के उपर्युक्त उदाहरण के समान, लब्धातिशययोगात् = पाये गये समाधिजन्य शक्त्यतिशय के संयोग से (भी विवेक की प्राप्ति होती है)।

**व्याख्या—** जिस प्रकार सांसारिक प्राणियों में एक मात्र हंस को ही यह शक्ति मिली हुई है कि वह जल मिश्रित दुग्ध में से केवल दुग्ध को ही ग्रहण करता है, जल को त्याग देता है। यह सामर्थ्य अन्य किसी पक्षी अथवा प्राणी में नहीं होती। उसी प्रकार जिस व्यक्ति को इस जगत् से दृढ़ वैराग्य हो जाता है, वही आत्मज्ञान सम्पन्न होकर मोक्ष का वास्तविक अधिकारी बनता है। उसमें विवेचन की शक्ति चरम रूप में प्रकट होती है। ऐसी स्थिति में पहुँचकर समाधिनिष्ठ व्यक्ति प्रकृतिपर्यन्त सूक्ष्म से भी अति सूक्ष्म तत्त्वों की जानकारी प्राप्त कर सकता है॥२४॥

**( ३२० ) न कामचारित्वं रागोपहते शुकवत्॥ २५॥**

**सूत्रार्थ—** शुकवत् = तोते के समान, रागोपहते = रागादि से ग्रस्त व्यक्तियों में, कामचारित्वम् = इच्छानुसार आना-जाना, न = नहीं चाहिए।

**व्याख्या—** जिस स्थान पर निरन्तर आने-जाने से रागादि विषय-वासनाओं के बन्धन में पड़ जाने की आशङ्का बनी रहती हो, ऐसे उस स्थल को आत्म जिज्ञासु को त्याग देना चाहिए। जिस प्रकार तोता अपने दाना-पानी की खोज में यत्र-तत्र स्वतन्त्रतापूर्वक भ्रमण करता रहता है और लोभवश जाल में फँस जाता है, उसी प्रकार इच्छानुसार चाहे जहाँ आने-जाने वाला साधक भी चञ्चल चित्त होने के कारण विषयों में आबद्ध हो सकता है। आत्म लाभ के लिए एकान्तवास करना अत्यन्त जरूरी होता है। एकान्तवास करके भी यदि कोई आत्म जिज्ञासु सामान्य संसारी समाज में इच्छानुसार आता-जाता रहता है, तो फिर उसका एक प्रकार से एकान्तवास निष्फल ही हो जाता है। सूत्रकार ने इस सूत्र में आत्मलाभार्थी को सामान्य समाज में सदैव गमनागमन वर्जित कहा है। अत्यधिक आवश्यकता पड़ने पर यदि कभी आना-जाना पड़ जाय, तो उसमें विशेष हानि की संभावना नहीं रहती है। जहाँ तक संभव हो सके आत्मलाभार्थी को संसारी समाज के सम्पर्क से बचते रहने का प्रयास करते रहना चाहिए॥२५॥

**( ३२१ ) गुणयोगाद्बन्धः शुकवत्॥ २६॥**

**सूत्रार्थ—** शुकवत् = तोते के समान, गुणयोगात् = गुणों के योग से, बन्धः = बँध जाता है।

**व्याख्या—** जैसे तोता अपने रूप-सौन्दर्य एवं वाणी आदि गुणों के कारण बाँध लिया जाता है वैसे ही आत्म-जिज्ञासु मनुष्य सांसारिक पुरुषों के साथ अधिक सम्पर्क रखने से उनके गुण (राग - द्वेष)आदि में पड़कर बन्धन की ओर बढ़ जाता है अर्थात् वासनामय पदार्थों एवं रागद्वेषादि से ग्रसित हो योगी साधक भी बन्धन में बँध जाता है। संसारी मनुष्य प्रकृति के तीनों गुणों (सत्त्व,रज,तम) से संयुक्त रहते हैं, उनके सम्पर्क में जिज्ञासुजन भी ज्ञानमार्ग से हटकर अज्ञान पथ की तरफ बढ़ सकते हैं॥२६॥

**( ३२२ ) न भोगाद्रागशान्तिर्मुनिवत्॥ २७॥**

**सूत्रार्थ—** मुनिवत् = मुनि के समान, भोगात् = भोगों के भोगने से, रागशान्तिः = रागादि विषयों का शमन, न = नहीं होता।

**व्याख्या—** रागादि भोगों के निरन्तर उपभोग से इच्छाओं की शान्ति नहीं हो जाती, वरन् उनके प्रति आसक्ति और भी अधिक बढ़ जाती है। यह कहना कि भोगों के भोगने से विषयों में आसक्ति समाप्त हो जायेगी और तदनन्तर उनसे वैराग्य हो जायेगा, सर्वथा असंगत है। विषयों का भोग, वासनाओं में और भी अधिक आसक्ति प्रवर्द्धित करता है। इस सूत्र को सूत्रकार ने मुनि के दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करने का प्रयास किया है- 'सौभरि नामक एक मुनि अपने आश्रम में तपस्यारत थे। एक दिन उन्होंने नदी में स्नान करते समय एक मगर को अपने सहवासी के साथ काम-क्रीड़ा करते देखा। यह दृश्य देखकर उनकी वासना जाग्रत् हो उठी। तत्पश्चात् वे अपनी साधना छोड़कर नगर में राजा के दरबार में पहुँचे और भिक्षा के स्थान पर उनकी कन्या को माँग लिया। सर्वशक्तिशाली सौभरि ने वर्षों तक विषयों का निर्बाधरूप से भोग किया, लेकिन उनकी इन्द्रियाँ शान्त न हुईं। इसी तरह राजा ययाति ने वृद्ध एवं कृशकाय होते हुए भी अपने एक पुत्र से नव यौवन की शक्ति प्राप्त की। सैकड़ों वर्षों तक विषयों का भोग करने के बाद भी वे अतृप्त रहे, इच्छाएँ पूर्ण न हुईं। तब ऐसा जानकर कि मृत्यु के सन्मुख आ जाने पर भी वासनाओं का अन्त नहीं है, वासनाओं में आसक्त व्यक्ति कभी परमार्थ का वरण नहीं कर सकता; मुनि को राग में दोषदर्शन का आभास हुआ और उनके अन्तःकरण में वैराग्य की भावना पुनः जाग्रत् हुई'॥२७॥

**( ३२३ ) दोषदर्शनादुभयोः ॥ २८ ॥**

**सूत्रार्थ—** उभयोः = दोनों के, दोषदर्शनात् = दोष देखने से (वैराग्य प्रादुर्भूत होता है)।

**व्याख्या—** आत्मा एवं विषय इन दोनों से सम्बन्धित दोषों को देखकर वैराग्य की भावना उत्पन्न होती है। आत्मा जब विषयों में पड़कर दुःख पाता है, तब 'मैं तो नित्य, शुद्ध, चैतन्यमय हूँ। मैं भी वही आत्मा हूँ।' तो फिर यह दुःख क्यों होता है? यह निश्चय है कि आत्मा की यह स्थिति प्रकृति के संग में ही उत्पन्न होती है, तब प्रकृति-संग को दृढ़ता पूर्वक त्यागने का भाव आता है। यही वैराग्य का मूल उपाय है। आत्मा स्थायी शान्ति का आकांक्षी है। उसे जब यह आभास होने लगता है कि स्थायित्व केवल आत्मा में है, तो वह अनात्मा से हटकर आत्मा पर अवलम्बित होता है। इसी दृढ़ भावना के प्रकट होने पर वैराग्य की प्राप्ति से संसार का वियोग होता है ॥२८॥

**( ३२४ ) न मलिनचेतस्युपदेशबीजप्ररोहोऽजवत् ॥ २९ ॥**

**सूत्रार्थ—** अजवत् = अज के समान, मलिनचेतसि = मलिन चित्त में, उपदेशबीज = उपदेशरूपी बीज का, प्ररोहः = अंकुर, न = प्रादुर्भूत नहीं होता।

**व्याख्या—** विषय आदि भोगों से मलिनचित्त में ज्ञान-वैराग्यादि के उपदेश रूपी बीज का अंकुरण नहीं होता। आत्म लाभ की प्राप्ति हेतु यम-नियमादि के क्रियान्वयन से अन्तःकरण को परिष्कृत कर लेना होता है। जिस प्रकार बंजर (कृष्ट रहित) भूमि में बोये हुए बींज का अंकुरण नहीं होता, उसी प्रकार विषयादि से मलिन चित्त, ज्ञान-वैराग्यादि के प्राकट्य हेतु अनुकूल नहीं होता।

सूत्रकार ने इसे स्पष्ट करने के लिए 'राजा अज' के दृष्टान्त का उल्लेख इस प्रकार से किया है- 'प्राचीन काल में 'अज' नाम के एक राजा थे। वे अपनी भार्या के प्रति बहुत आसक्त रहते थे। अकस्मात् भार्या की मृत्यु हो गई। भार्या के वियोग में वे अत्यधिक विह्वल हो गये। राजगुरु व अन्य विद्वज्जनों ने उन्हें बहुत ही समझाने का प्रयास किया; किन्तु सब व्यर्थ हुआ। राजा को कष्ट से कोई भी नहीं बचा सका। विषयों के प्रति तीव्र आसक्ति ज्ञान-वैराग्य को प्रतिष्ठित नहीं होने देती। अतः राग आदि विषय भोगों में चित्त का न लगाना ही ज्ञान-लाभ व वैराग्य प्राप्ति का सरल मार्ग है ॥२९॥

**( २२५ ) नाभासमात्रमपि मलिनदर्पणवत् ॥ ३० ॥**

**सूत्रार्थ—** मलिनदर्पणवत् = धूल-धूसरित गंदे दर्पण के समान, आभासमात्रम् = आभास मात्र, अपि = भी, न = नहीं होता है।

**व्याख्या—** जिस प्रकार धूल-धूसरित गंदे दर्पण में किसी भी तरह के प्रतिबिम्ब का आभास नहीं होता, वैसे ही राग-द्वेष आदि से युक्त होने से अन्य अनेकों विषय-भोगों के संचरण से गंदे आवरण युक्त चित्त में आत्मज्ञान का प्राकट्य नहीं होता। इसका भाव यह हुआ कि आत्म-जिज्ञासु को अन्य सभी विषय भोगों की तरफ से अपने चित्त को अलग करके मात्र आत्मिक प्रगति हेतु चिन्तन में लगाना अत्यधिक उपयुक्त होगा। विषयों में अन्तःकरण को न लगाना ही वास्तविक वैराग्य है। इसका योग द्वारा निरन्तर अभ्यास करते रहना चाहिए।

इस प्रकार वैराग्य एवं अभ्यास से ही आत्मलाभ का प्राकट्य होता है। अन्तःकरण में जब किसी व्यक्ति के प्रति रागद्वेषादि की भावना ही नहीं रहेगी और न उसकी विषयान्तरों के प्रति भटकन रहेगी, ऐसे पवित्र अन्तस् में आत्मज्ञान के प्रकट होने में विलम्ब कैसे हो सकता है? ॥३०॥

**( ३२६ ) न तज्जस्यापि तद्रूपता पङ्कजवत्॥ ३१॥**

**सूत्रार्थ—** तज्जस्य = उससे प्रादुर्भूत हुए का, अपि = भी, पङ्कजवत् = कीचड़ से प्रादुर्भूत हुए कमल के समान, तद्रूपता = उसके अनुरूप होना, न = नहीं सिद्ध होता।

**व्याख्या—** जिस प्रकार पङ्क से कमल प्रादुर्भूत होता है, फिर भी कमल एवं पङ्क का रंग-रूप एक जैसा नहीं होता है। उसी प्रकार आत्मज्ञान भी प्रकृति द्वारा प्रादुर्भूत होता है, लेकिन आत्मज्ञान एवं प्रकृति का स्वरूप एक दूसरे के अनुरूप नहीं होता। इसका भाव यह है कि एक दूसरे के रूप-रंग (तद्रूपता) की जो अनुभूतियाँ आत्मा को रहती हैं, मोक्ष या आत्मज्ञान की अवस्था में उनका अस्तित्व नहीं रहता, इस कारण आत्मा की तद्रूपता से मोक्ष की स्थिति अलग है। इन दोनों को एक जैसा नहीं माना जा सकता है।

कुछ विद्वज्जनों ने इस सूत्र का अर्थ इस प्रकार किया है- मलिन अन्त:करण के होते हुए भी कभी-कभी उपदेश देने वाले गुरु के प्रचण्ड शक्ति सम्पन्न होने से एवं बारम्बार उपदेशित करने से कुछ न कुछ ज्ञान रेखा प्रकाशित हो ही जाती है; किन्तु वह उपदेश के सदृश नहीं हो पाती। वह ज्ञान इतना विकसित नहीं हो पाता, जिससे कि मोक्ष प्राप्त हो जाये॥३१॥

**( ३२७ ) न भूतियोगेऽपि कृतकृत्यतोपास्यसिद्धिवदुपास्यसिद्धिवत्॥ ३२॥**

**सूत्रार्थ—** उपास्यसिद्धिवत् = उपास्य के द्वारा प्राप्त की गई सिद्धि के सदृश, भूतियोगे = कल्याणकारी मिल जाने पर, अपि = भी, कृतकृत्यता = पूर्ण सफलता, न = नहीं मिल पाती है।

**व्याख्या—** विभिन्न देवी देवताओं की उपासनाएँ-अनुष्ठान आदि करने के फलस्वरूप जो भी सिद्धियाँ मिलती हैं, उनसे सांसारिक भोग तो प्राप्त हो सकते हैं; किन्तु कृतकृत्यता अर्थात् पूर्ण पुरुषार्थ (मोक्ष)की प्राप्ति नही होती; क्योंकि ये सभी अवस्थाएँ नाशवान् हैं। उपासना अथवा अनुष्ठानों के अनुकूल फल भोगे जाने के पश्चात् इसी सर्गकाल में उन प्राणियों को जन्म-मृत्यु के चक्कर में पुन: वापस होना पड़ता है। उन अनुकूल भोगों के नश्वर होने का यही भाव है। उसका जगत् के सामान्य जीवन से कुछ दीर्घजीवन है तथा सुख के भोग में कुछ विशिष्टता है। यद्यपि वह इस जगत् का ही एक अंश है; क्योंकि वहाँ सुख-भोगों का अस्तित्व है। भोग अपवर्ग नहीं है। भोग चाहे पृथ्वीलोक में हो या स्वर्गलोक अथवा अन्य किसी लोक में, वह तो भोग ही कहा जायेगा। वह अपवर्ग की श्रेणी में नहीं आता। अपवर्ग को प्राप्त आत्मा इस सर्ग में (जगत् में) आवृत्त (बार-बार जन्म) नहीं होता। यही अपवर्ग की विशिष्टता है। इसके अलावा यह भी विशिष्टता है कि वहाँ सुखों का भोग नहीं है, वहाँ तो आत्मा के रूप में ही अवस्थिति है, वह कैवल्य का साक्षात्कार करता है, जिसके लिए दूसरे अन्य किसी साधन की आवश्यकता नहीं रह जाती है। आत्मज्ञान अमिट है, इसी से मोक्ष (कृतकृत्यता) की प्राप्ति हो सकती है। यहाँ इस सूत्र में अन्तिमपद 'उपास्यसिद्धिवत्' का दो बार प्रयुक्त होना अध्याय समाप्ति का सूचक है॥३२॥

## ॥ इति चतुर्थोऽध्याय: समाप्त: ॥



# ॥ अथ पञ्चमाऽध्याय: ॥

**अब तक के चार अध्यायों में सांख्यकार ने सांख्य के प्रधान सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। अब विभिन्न शंकाओं, आक्षेपों का निराकरण किया जा रहा है। जैसे-प्रकृति पुरुष के भेद ज्ञान से मुक्ति मिल जाती है, तो फिर-शुभ कर्म करने, शिष्ट आचरण की क्या आवश्यकता है? इसी का उत्तर इस प्रथम सूत्र में दिया जा रहा है-**

**( ३२८ ) मंगलाचरणं शिष्टाचारात्फलदर्शनात् श्रुतितश्चेति ॥ १ ॥**

**सूत्रार्थ—** शिष्टाचारात् = शिष्ट पुरुषों के आचरण से, फलदर्शनात् = फल का दर्शन करने से, च = और, श्रुतित: = श्रुति के प्रमाणों से, मंगलाचरणम् = मंगल आचरण-शुभ कर्म करना ही उचित है।

**व्याख्या—** श्रेष्ठ पुरुष को-साधक को शुभ कर्म का आचरण करना ही उचित है। अपने शरीर के द्वारा दूसरों का उपकार हो और वह न्यायोचित तथा धर्मोचित हो। इस प्रकार के लोकमंगलपरक कार्य ही करना चाहिए। यह बात सत्य है कि विवेक से मुक्ति मिलती है; किन्तु यदि हमारे समक्ष ही कोई पापाचारी किसी को सताए या हत्या करे और हम उसकी रक्षा की सामर्थ्य रखते हैं, तो उसकी रक्षा करना हमारे लिए न्यायोचित ही है। इसका एक अभिप्राय यह भी है कि विवेक प्राप्त करने के लिए शुभ कर्मों का अनुष्ठान करना चाहिए।

शिष्ट-शालीन पुरुषों, महापुरुषों, ऋषियों, सन्त पुरुषों सभी के आचरण से यह प्रेरणा मिलती है कि शुभ कर्म करना ही श्रेयस्कर है। उपर्युक्त महापुरुषों ने जो भी श्रेष्ठ कर्म किये उनका प्रतिफल भी शुभ ही रहा। संसार में यह तथ्य भी देखने को मिलता है कि कुकृत्य करने वाले प्रारम्भ में सुखी-सम्पन्न दिखते हैं; किन्तु अन्त में उन्हें अप्रिय फल भोगना पड़ता है। श्रुतियों में भी इसी तथ्य को प्रमाणित करते हुए श्रेष्ठ कर्म करने की प्रेरणा दी गई है। **देवो व: सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मणे ( यजु०१.१ )।** इसके अतिरिक्त ऋ० ४.३३.११; ९.९९.६, ऐत०ब्राह्मण (तैंतीसवें अध्याय) के **'नानाश्रान्ताय'** आदि मंत्रों में भी मानव को श्रेष्ठ कर्म करने की प्रेरणा दी गई है॥१ ॥

**( ३२९ ) नेश्वराधिष्ठिते फलनिष्पत्ति: कर्मणा तत्सिद्धे: ॥ २ ॥**

**सूत्रार्थ—** कर्मणा = कर्म के द्वारा, तत्सिद्धे: = उस फल की सिद्धि होने के कारण, ईश्वराधिष्ठिते = ईश्वर को अधिष्ठाता स्वीकार करने पर, फलनिष्पत्ति: = फल की निष्पत्ति (सिद्धि), न = नहीं होती।

**व्याख्या—** कई लोग संसार का अधिष्ठाता ईश्वर को मानकर उन्हें ही कर्म का फल देने वाला मानते हैं, किन्तु उनका (लोगों का) यह विचार उचित नहीं है, क्योंकि कृत-कर्मों का फल मिलना आवश्यक है। यदि ईश्वर को फल देने वाला मान भी लें, तो वह कर्मों की उपेक्षा करके अपनी सामर्थ्य से इच्छित फल नहीं दे सकता, अत: यह तथ्य भी तर्क संगत नहीं लगता। अस्तु, स्पष्ट है कि ईश्वर को कर्म फल दाता नहीं, वरन् कर्म को ही फलदाता अथवा फल को कर्म से उत्पन्न मानना पड़ेगा॥२ ॥

**( ३३० ) स्वोपकारादधिष्ठानं लोकवत्॥ ३ ॥**

**सूत्रार्थ—** स्वोपकारात् = अपने( अथवा आत्मीय जनों के प्रति)उपकार की भावना से, अधिष्ठानम् = अधिष्ठाता होना ईश्वर को, लोकवत् = संसार में होने वाले साधारण मनुष्य के समान बना देता है।

**व्याख्या—** यदि ईश्वर को जगत् का अधिष्ठाता मानकर कर्मफल प्रदाता माना भी जाये, तो वह स्वोपकार की भावना से जिनसे राग होगा, ऐसे अपने कहलाने वाले भक्तों को उनके कर्मों की उपेक्षा करके उन्हें उनके बुरे कर्मों का भी अच्छा फल दे देगा तथा जिनके प्रति द्वेष होगा; उन्हें उनके अच्छे कर्मों का भी

बुरा फल दे देगा। ऐसी स्थिति में उस निर्विकार निर्लिप्त, पूर्ण काम, पूर्ण संकल्प, आनंदघन आदि कहलाने वाले जगत् के अधिष्ठाता ईश्वर की स्थिति संसार के सामान्य प्राणियों जैसी होगी; किन्तु ऐसा है नहीं। अतः स्पष्ट है कि फल उत्पन्न करने वाला 'कर्म' ही है, ईश्वर नहीं॥३॥

**( ३३१ ) लौकिकेश्वरवदितरथा॥ ४॥**

**सूत्रार्थ—** इतरथा = अन्यथा, लौकिकेश्वर = किसी सांसारिक राजा के, वत् = समान हो जायेगा।

**व्याख्या—** यदि ईश्वर को आप्तकाम सत्य संकल्प वाला न मानकर स्वप्रयोजनार्थ दयावश फल देने की प्रवृत्ति वाला मानें, तो उसे किसी राजा की तरह मानना पड़ेगा; क्योंकि राजा प्रशासक होता है। वह सम्बन्धित मनुष्यों के निन्दित कर्मों का फल दण्ड रूप में और श्रेष्ठ कर्मों का फल पुरस्कार के रूप में देता है। मानव होने के कारण कभी-कभी निज- पर का विचार होने से और ठीक प्रमाण न मिलने से कर्मफल के सन्दर्भ में अनुचित निर्णय भी हो जाता है। इसी प्रकार के कार्य वाला ईश्वर भी सिद्ध होगा, तब उसे सामान्य मानस वाले मनुष्य की तरह माना जायेगा। अस्तु, ईश्वर ऐसा नहीं हो सकता॥४॥

**( ३३२ ) पारिभाषिको वा॥ ५॥**

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, पारिभाषिकः = कहने मात्र (संज्ञा मात्र) का ईश्वर होगा।

**व्याख्या—** यदि ईश्वर को कर्मफल प्रदाता माना जाये, तो फिर ईश्वर ही नहीं रहेगा; परन्तु नाम मात्र के लिए ही ईश्वर रहेगा। कारण यह है कि ईश्वर के जो लक्षण वेद शास्त्रों में वर्णित हैं, उनसे इस ईश्वर (कर्मफल देने वाले )के लक्षण भिन्न होंगे। ऐसी स्थिति में ईश्वर को जगत् का नियामक किस तरह माना जा सकेगा? फिर तो यही कहना होगा कि ईश्वर का कोई अस्तित्व नहीं है और कुछ सनकी-स्वार्थपरायण लोगों ने ईश्वर की कल्पना भर कर ली है॥ ५॥

**( ३३३ ) न रागादृते तत्सिद्धिः प्रतिनियतकारणत्वात्॥ ६॥**

**सूत्रार्थ—** प्रतिनियतकारणत्वात् = प्रत्येक कार्य का नियत (एक निश्चित)कारण होने से, रागादृते = राग रहित होने से, तत्सिद्धिः = उस ईश्वर के अधिष्ठातृत्व की सिद्धि, न = नहीं हो सकती।

**व्याख्या—** उक्त सूत्रों (३-४) से सिद्ध होता है कि रागयुक्त होने अथवा बिना राग के उस (ईश्वर)के अधिष्ठातृत्व की सिद्धि नहीं हो सकती। जबकि दोनों स्थितियाँ ईश्वर की प्रतिष्ठा के अनुरूप नहीं हैं। साथ ही इनको (रागयुक्तता-रागरहितता) मानने की आवश्यकता भी नहीं है। कारण यह है कि प्रत्येक कार्य का एक नियत (निश्चित) कारण होता है। हर कार्य अपने कारण से उत्पन्न होता है और अन्ततः उसी में समा जाता है। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि ईश्वर के अधिष्ठातृत्व की सिद्धि उसके रागयुक्त हुए बिना भी हो जाती है ॥६॥

**( ३३४ ) तद्योगेऽपि न नित्यमुक्तः॥ ७॥**

**सूत्रार्थ—** तद्योगेऽपि = प्रकृति के साथ (नियन्तारूप में) संयोग होने पर भी, नित्यमुक्तः = ईश्वर नित्य मुक्तस्वरूप, न = नहीं रहता।

**व्याख्या—** सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण इन तीनों की साम्यावस्था ही प्रकृति कहलाती है, यह पूर्ववर्णित ही है। यह प्रकृति नित्य और मुक्त नहीं हो सकती। तब प्रकृति (राग) के निरन्तर सम्पर्क में रहने के कारण ईश्वर नित्य मुक्त नहीं रह सकता (ऐसी शंका की जा सकती है), परन्तु यह शंका आधारहीन है, क्योंकि अचेतन तत्त्व के लक्षण चेतन से भिन्न हैं। चूँकि ईश्वर चेतन सत्ता है और प्रकृति अचेतन है। प्रकृति अचेतन होने से भले ही नित्य-मुक्त न हो, पर ईश्वर तो चेतन होने के कारण नित्य-मुक्त ही है॥ ७॥

**( ३३५ ) प्रधानशक्तियोगाच्चेत् सङ्गापत्तिः ॥ ८ ॥**

**सूत्रार्थ**— प्रधानशक्तियोगात् = प्रकृति रूपी उपादान कारण (शक्ति)के सहयोग से, चेत् = यदि ईश्वर को उपादान मानें तो, संगापत्तिः = उसमें सङ्ग दोष उत्पन्न होता है।

**व्याख्या**— प्रकृति रूपी शक्ति या उपादान कारण से ईश्वर का संयोग होने से सृष्टि का होना स्वीकार किया जाये, तो संगदोष उत्पन्न होता है। अभिप्राय यह है कि प्रकृति के कार्य में ईश्वर का सहयोग मानें, तो ईश्वर के असङ्ग होने की मान्यता खण्डित होगी और सङ्ग दोष उत्पन्न हो जायेगा, जबकि ऐसा है नहीं। वह अपने रूप में किसी के संग की अपेक्षा नहीं रखता। बृहदारण्यक उपनिषद् ४/३/१६ में उसके असङ्ग होने के तथ्य को इन शब्दों में स्वीकार किया गया है- **स यत् तत्र किञ्चित् पश्यत्यनन्वागतस्तेन भवत्यसङ्गो ह्ययं पुरुषः।** अर्थात् वह वहाँ जो कुछ दर्शन करता है, उससे असंसक्त रहता है; क्योंकि वह पुरुष 'असङ्ग' है। इस प्रकार स्पष्ट है कि पुरुष (ईश्वर) और प्रकृति के संयोग की सिद्धि नहीं होती ॥८ ॥

**( ३३६ ) सत्तामात्राच्चेत् सर्वैश्वर्यम् ॥ ९ ॥**

**सूत्रार्थ**— चेत् = यदि, सत्तामात्रात् = केवल अपनी सत्ता से, ईश्वर को जगत् का उत्पन्न कर्त्ता मानें तो, सर्वैश्वर्यम् = सम्पूर्ण विश्व ही ईश्वर कहलायेगा।

**व्याख्या**— यदि ऐसा माना जाये कि ईश्वर मात्र अपनी ही शक्ति से संसार की सृष्टि करता है तथा वह प्रकृति आदि अन्य किसी का सहयोग प्राप्त नहीं करता, तो ऐसा मानना भी ठीक नहीं है, कारण यह है कि मूल उपादान अर्थात् जिस कारणतत्त्व से किसी वस्तु की उत्पत्ति होती है। वह अपनी जैसी ही वस्तु उत्पन्न करता है, जिस प्रकार मनुष्य से मनुष्य, पशु से पशु की उत्पत्ति होती है। मनुष्य से पशु और पशु से मनुष्य उत्पन्न नहीं हो सकता। इस प्रकार ईश्वर से उत्पन्न होने वाले सभी ईश्वर होने चाहिए। इस प्रकार सम्पूर्ण जगत् ईश्वर ही हो जायेगा, किन्तु ऐसा है नहीं। इस प्रकार यह सिद्धान्त भी ठीक नहीं है ॥९ ॥

**( ३३७ ) प्रमाणाभावान्न तत्सिद्धिः ॥ १० ॥**

**सूत्रार्थ**— प्रमाणाभावात् = प्रमाण न होने से, तत्सिद्धिः = ईश्वर की सत्ता से जगत् की उत्पत्ति की सिद्धि, न = नहीं होती।

**व्याख्या**— ईश्वर अपनी ही शक्ति से जगत् का उत्पादन करता है या उसका (जगत् का) कारण है, यह तथ्य प्रमाण से सिद्ध नहीं होता। प्रमाण तीन प्रकार के होते हैं- प्रत्यक्ष प्रमाण, अनुमान प्रमाण और शास्त्र प्रमाण। इन तीनों प्रमाणों में से कोई भी ईश्वर के जगत् के मूल उपादान कारण होने की पुष्टि नहीं करता ॥१० ॥

**( ३३८ ) सम्बन्धाभावान्नानुमानम् ॥ ११ ॥**

**सूत्रार्थ**— सम्बन्धाभावात् = सम्बन्ध का अभाव होने से, न = नहीं होती, अनुमानम् = अनुमान प्रमाण की सिद्धि ।

**व्याख्या**— संसार के उपादान कारण होने सम्बन्धी ईश्वर का जगत् से सम्बन्ध (व्यापक-व्याप्य भाव) ही नहीं है; क्योंकि समस्त वस्तुओं का आविर्भाव अपने सजातीय पदार्थ से होता हुआ देखा जाता है। जैसे-मिट्टी से घड़ा (कुम्भ) ही बन सकता है, वस्त्र नहीं। कपास से वस्त्र बन सकता है, कुम्भ नहीं। उसी प्रकार मनुष्य से मनुष्य, पशु से पशु जन्म होता है। इस प्रकार सभी वस्तुएँ अपने सजातीय पदार्थ से उद्भूत होती हैं। यह प्रत्यक्ष है, तब चेतन (ईश्वर) से अचेतन जगत् की उत्पत्ति वाली मान्यता भी अनुमान द्वारा सिद्ध नहीं हो सकती; प्रत्यक्ष तो सिद्ध है ही नहीं ॥११ ॥

**( ३३९ ) श्रुतिरपि प्रधानकार्यत्वस्य॥ १२॥**

**सूत्रार्थ—** श्रुतिरपि = श्रुति (वेदों-शास्त्रों) में भी, प्रधानकार्यत्वस्य = जगत् को प्रकृति का कार्य ही निरूपित किया गया है।

**व्याख्या—** सांख्य दर्शन में ईश्वर को जगत् का मूल उपादान कारण न मानकर उसे केवल जगत् का नियन्ता-अधिष्ठाता स्वीकार किया गया है तथा प्रकृति को ही संसार का मूल उपादान कारण माना गया है। इस प्रकार ईश्वर केवल निमित्त कारण हुआ। श्रुति (वेदों-शास्त्रों) में शब्द-प्रमाण द्वारा भी इसी तथ्य को मान्यता दी गई है। श्वेताश्वतर उपनिषद् ६.११ में ईश्वर को साक्षी, चैतन्य केवल (एकमात्र अकेला) एवं निर्गुण कहा गया है- **एको देवः सर्वभूतेषु गूढः ..........साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च।** ऋग्वेद में भी जीवात्मा और परमात्मा को दो पक्षी बताते हुए एक को (जीवात्मा को) भोक्ता (भोग करने वाला) और दूसरे को (परमात्मा को) द्रष्टा बताकर उसे सङ्गरहित निरूपित किया गया है- **द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया.........अभिचाकशीति** (ऋ० १.१६४.२०)। इससे स्पष्ट है कि सम्पूर्ण जगत् प्रकृति का ही कार्य है, ईश्वर का कार्य नहीं है, वह तो साक्षी मात्र है॥१२॥

**( ३४० ) नाविद्याशक्तियोगो निःसङ्गस्य॥ १३॥**

**सूत्रार्थ —** निःसङ्गस्य = संगरहित का, अविद्या-शक्तियोगः = अविद्यारूपी शक्ति के साथ सम्बन्ध, न = नहीं हो सकता।

**व्याख्या—** उपर्युक्त सूत्र से भी स्पष्ट हो चुका है कि ईश्वर असङ्ग है। अतः उसका संग या संयोग किसी के साथ भी नहीं हो सकता है। जो असङ्ग है,वही चेतन भी है;किन्तु प्रकृति(अविद्या) अचेतन है और ससङ्ग (अर्थात् उसका सम्बन्ध किसी से भी हो सकता) है। असङ्ग और चेतन स्वरूप ईश्वर का अचेतन और अविद्या स्वरूप प्रकृति से कभी सम्बन्ध नहीं हो सकता। इस सम्बन्ध में वेद प्रमाण- **द्वा सुपर्णा सयुजा........**(ऋ०१.१६४.२०) आदि के द्वारा उपर्युक्त सूत्र की व्याख्या में दिया जा चुका है॥१३॥

**( ३४१ ) तद्योगे तत्सिद्धावन्योन्याश्रयत्वम्॥ १४॥**

**सूत्रार्थ—** तद्योगे = अविद्या (प्रकृति) से संयोग की स्थिति मानने पर, तत्सिद्धौ = अविद्या की सिद्धि होने से, अन्योन्याश्रयत्वम् = परस्पर एक-दूसरे पर निर्भर होने का दोष सिद्ध होता है।

**व्याख्या—** जो वस्तु जैसी है, उसका अन्य रूप में दिखाई देना अविद्या कहलाता है। जैसे वह वस्तु घड़ा है और दिखाई यह पड़े कि वह कपड़ा (वस्त्र) है, तो इस प्रकार का जो भ्रम उत्पन्न होता है, वही अविद्या है। इस प्रकार विकार युक्त अविद्या के साथ यदि ईश्वर का सम्बन्ध हो, तो उस सम्बन्ध के कारण वह ईश्वर भी विकारयुक्त हो जायेगा। एक के दूसरे से संयोग के कारण दोनों के विकारयुक्त होने के फलस्वरूप दोनों का अन्योन्याश्रयत्व सिद्ध होता है। जबकि ईश्वर और अविद्या को परस्पर एक दूसरे पर निर्भर होना एक प्रकार का दोष है।(अतः इस सूत्र से भी ईश्वर जगत् का उपादानत्व सिद्ध नहीं होता)॥१४॥

**( ३४२ ) न बीजांकुरवत्सादिसंसारश्रुतेः॥ १५॥**

**सूत्रार्थ—** बीजांकुरवत् = बीज के अंकुर के समान, सादि = उत्पन्न होने वाला, संसारश्रुतेः = श्रुति के अनुसार इस मान्यता में अन्योन्याश्रयत्व दोष, न = नहीं है।

**व्याख्या—** यदि उपर्युक्त सूत्र के समर्थन में यह दृष्टान्त दें कि बीज और अंकुर का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है (अर्थात् अंकुर से बीज की उत्पत्ति और बीज से अङ्कुर की उत्पत्ति होती है), इनमें अन्योन्याश्रय दोष नहीं होता है, तो अविद्या और ईश्वर में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध का दोष कैसे होगा? वस्तुतः यह

(बीजांकुर का )दृष्टान्त यहाँ उपयुक्त नहीं बैठता; क्योंकि बीज और अंकुर का क्रम तो अनादि काल से चल रहा है और अनन्तकाल तक चलता रहेगा। यह उत्पन्न होने वाला संसार सादि (स+आदि=आदि सहित)है,अत: इसे अनादि नहीं कह सकते। श्रुति भी इसी तथ्य की पुष्टि करती है। ऋग्वेद १०.८१.३ में उल्लेख है- **सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन्देव एक:**। इसके अनुसार सब ओर आँखों,मुख, भुजाओं और सब ओर चरण वाले परमात्मा ने गतिशील पृथिवी और भूलोक को बिना आश्रय के निर्मित किया। इससे स्पष्ट है कि परमात्मा किसी पर आश्रित नहीं है और संसार उत्पन्न होने वाला है ॥१५॥

**( ३४३ )  विद्यातोऽन्यत्वे ब्रह्मबाधप्रसङ्ग: ॥ १६ ॥**

**सूत्रार्थ—** विद्यात: = विद्या से, अन्यत्वे = अन्य या भिन्न होने पर, ब्रह्मबाधप्रसङ्ग: = ब्रह्म की बाधा का प्रसङ्ग उपस्थित होता है।

**व्याख्या—** यदि यह माना जाये कि विद्या से अलग जो अविद्या है, वह अनादि है और उसका अस्तित्व भी पृथक् है तथा उसी की सहायता से ब्रह्म अर्थात् चेतन तत्त्व संसार का उपादान कारण है, तो उसी चेतन तत्त्व को प्रत्यक्ष रूप से जगत् का उपादान कारण मानना होगा। ऐसी स्थिति में ईश्वर ही जगत् का उपादान कारण सिद्ध होगा। इस स्थिति में ईश्वर को जगत् का उपादान कारण मानने में बाधा उपस्थित होगी। यदि यह मानें कि विद्या से भिन्न सभी वस्तुएँ अविद्या हैं अथवा यह मानें कि अविद्या विद्या का विनाश करने वाली है, तो ईश्वर का नष्ट होना भी स्वीकार करना पड़ेगा; क्योंकि वह भी अविद्या से पृथक् और विद्या रूप है। इस प्रकार ब्रह्म (ईश्वर) को उपादान कारण मानने में बाधा उपस्थित होती है ॥६॥

**( ३४४ )  अबाधे नैष्फल्यम् ॥ १७ ॥**

**सूत्रार्थ—** अबाधे = यदि बाधा का न होना मानें तो, नैष्फल्यम् =अविद्या निष्फल अर्थात् फल रहित सिद्ध होती है।

**व्याख्या—** यदि विद्या से भिन्न अविद्या को अनादि तत्त्व मान लें और उसके साथ ईश्वर का संयोग मानकर ब्रह्म को ही संसार का उपादान कारण मानें, तो अविद्या के इस स्वरूप को मानना ही निरर्थक होगा। कारण यह है कि यदि ईश्वर ही प्रमुख उपादान कारण है, तो फिर अविद्या अर्थात् अचेतन प्रकृति की कोई आवश्यकता ही नहां रहेगी ॥१७॥

**( ३४५ )  विद्याबाध्यत्वे जगतोऽप्येवम् ॥ १८ ॥**

**सूत्रार्थ—** विद्याबाध्यत्वे = यदि विद्या से अविद्या की बाधा होना मानें तो, जगत: = जगत् की, अपि = भी, एवम् = इसी प्रकार की स्थिति हो जाती है।

**व्याख्या—** यदि यह मान लिया जाय कि विद्या से अविद्या की प्रतीति में बाधा उपस्थित होती है, तब किसी एक व्यक्ति को विद्या रूप ज्ञान प्राप्त होने पर अविद्या के कार्य रूप जगत् की प्रतीति न होगी। इसका अभिप्राय यह हुआ कि ज्ञान होने मात्र से ही अज्ञान रूप प्रकृति का विनाश हो जायेगा और तब उसके द्वारा उत्पन्न जगत् का भी विनाश हो जायेगा; जबकि ऐसा होता नहीं। एक व्यक्ति को ज्ञान हो जाने पर भी जगत् का अस्तित्व और प्रतीति वैसी ही बनी रहती है। इससे सिद्ध होता है कि विद्या से बाध्य अविद्या का स्वरूप या कार्य यह जगत् नहीं है (वह तो प्रकृति का कार्य है।) ॥१८॥

**( ३४६ )  तद्रूपत्वे सादित्वम् ॥ १९ ॥**

**सूत्रार्थ—** तद्रूपत्वे = अविद्या रूप (जगत्) होने से, सादित्वम् = उसका सादि रूप अर्थात् आदि सहित (उत्पन्न होने वाला) होना माना जायेगा।

**व्याख्या**— यदि अविद्या को जगत् रूप मानें, तो उसे भी जगत् के समान सादि (आदि सहित-उत्पन्न होने वाला) और नश्वर मानना होगा; किन्तु इस प्रकार मान लेने पर अविद्या को अनादि अर्थात् आद्यन्तहीन कैसे माना जा सकेगा? इस प्रकार अविद्या का अनादि होना सिद्ध नहीं होता॥१९॥

**(३४७) न धर्मापलापः प्रकृतिकार्यवैचित्र्यात्॥ २०॥**

**सूत्रार्थ**— प्रकृतिकार्यवैचित्र्यात् = प्रकृति के विचित्र रूप वाले होने से, धर्मापलापः = धर्म-अधर्म की उपेक्षा, न = सिद्ध नहीं होती।

**व्याख्या**— प्रकृति के कार्य विभिन्न रूपों से युक्त हैं। अभिप्राय यह है कि सत्त्व, रज और तम इन तीनों गुणों की विभिन्नता के फलस्वरूप प्रकृति की रचना विभिन्न रूपों वाली होती है। इसी कारण आत्मा जो धर्म (शुभ-अशुभ कर्म) करता है, उसका उसे अच्छा या बुरा प्रतिफल मिलता है। उन्हीं कर्मों के अनुसार उसे अनुकूल-प्रतिकूल साधन और परिस्थितियाँ उपलब्ध होती रहती हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि इस प्रक्रिया में धर्म की उपेक्षा नहीं है। इसे इस प्रकार भी मान सकते हैं कि कर्म ही धर्म है। अस्तु, प्रकृति की रचना में धर्म भी निमित्त कारणरूप है॥२०॥

**(३४८) श्रुतिलिंगादिभिस्तत्सिद्धिः॥ २१॥**

**सूत्रार्थ**— श्रुतिलिङ्गादिभिः = श्रुति प्रमाण और लिङ्ग (लक्षण) आदि के द्वारा, तत्सिद्धिः = धर्म की सिद्धि होती है।

**व्याख्या**— धर्म की सिद्धि तीनों प्रमाणों, प्रत्यक्ष प्रमाण, अनुमान प्रमाण और श्रुति प्रमाण द्वारा होती है। यह श्रुति वाक्य है कि **पुण्यो वै पुण्येन भवति पापः पापेन** अर्थात् पुण्य से शुभ (उत्कृष्ट) और **पाप से** निकृष्ट फल की प्राप्ति होतीहै।

संसार में उत्कृष्ट और निकृष्ट विभिन्न योनियाँ हैं, उन्हें देखकर विदित होता है कि इन्हें श्रेष्ठ कर्मों के फलस्वरूप उत्कृष्ट और निम्नकोटि के कर्मों के फलस्वरूप निकृष्ट योनि प्राप्त हुई होगी। इसके अतिरिक्त जगत् में प्राणियों को सुख और दु:ख प्राप्त करते प्रत्यक्ष ही देखा जाता है। इससे स्पष्ट है कि धर्म (कर्म और उसके प्रतिफल प्राप्त होने की प्रक्रिया) का अस्तित्व विद्यमान है॥२१॥

**(३४९) न नियमः प्रमाणान्तरावकाशात्॥ २२॥**

**सूत्रार्थ**— प्रमाणान्तरावकाशात् = प्रमाणों में अन्तर और उनके अवकाश से, नियमः = (धर्म का निमित्त कारण होना) नियम, न = नहीं है।

**व्याख्या**— श्रुति आदि प्रमाणों के अन्तर और उनके अवकाश से (अर्थात् किसी विषय के सन्दर्भ में यदि प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है तो अनुमान प्रमाण से और यदि अनुमान प्रमाण भी नहीं है, तो श्रुति प्रमाण से) सिद्ध हुए तथ्य को स्वीकार करना उचित नहीं है। यहाँ इसका अभिप्राय यह है कि धर्म आदि के सृष्टि में निमित्त कारण होने की बात (कर्मफल से विभिन्न योनियों के प्राप्त होने की उक्ति) अनुमान से कही जा रही है, अत: उसे उचित मानना ठीक नहीं है॥२२॥

**(३५०) उभयत्राप्येवम्॥ २३॥**

**सूत्रार्थ**— उभयत्र = दोनों में, अपि = भी, एवम् = इसी प्रकार होता है।

**व्याख्या**— जिस प्रकार प्रमाणों आदि की बात धर्म के सम्बन्ध में कही गई है, अधर्म के सम्बन्ध में भी वैसा ही मानना चाहिए। इसीलिए उभयत्र से अभिप्राय धर्म-अधर्म दोनों के सम्बन्ध में प्रमाणों सम्बन्धी नियम से है॥२३॥

**सूत्रार्थ**— अर्थात् = अर्थ से अथवा प्रयोजन से, चेत् = यदि, सिद्धिः = सिद्धि होना स्वीकार करें, उभयोः = दोनों में, समानम् = प्रमाण की समानता माननी पड़ेगी।

**व्याख्या**— श्रुति (वेदादि) में जिन कर्मों का वर्णन है, उनके विरुद्ध या विपरीत कर्म ही अधर्म हैं (क्योंकि सत्कर्म को ही धर्म कहा गया है, अतः दुष्कर्म या वेद विरुद्ध कर्म ही अधर्म हैं)। इस प्रकार धर्म के विरुद्ध वर्णित कर्म ही अधर्म हैं। यदि इस तथ्य में शंका हो, तो श्रुति में धर्म और अधर्म से सम्बन्धित पर्याप्त प्रमाण समान रूप से उपलब्ध हैं। जैसे- '**पुण्यो वै पुण्येन भवति पापः पापेन**' अर्थात् पुण्य (श्रेष्ठ कर्म) से पुण्य (श्रेष्ठ फल) और पाप (अधर्म) से पाप (निकृष्ट फल) प्राप्त होता है। इस सूत्र में दोनों धर्म और अधर्म का वर्णन एक साथ हुआ है॥२४॥

**( ३५२ ) अंतःकरणधर्मत्वं धर्मादीनाम्॥ २५ ॥**

**सूत्रार्थ**— धर्मादीनाम् = धर्म आदि भाव, अन्तःकरणधर्मत्वम् = अन्तःकरण में धर्म है।

**व्याख्या**— इस सूत्र में यह स्वीकार करते हुए कि धर्म-अधर्म दोनों का अस्तित्व है, यह भी स्पष्ट किया गया है कि धर्म आदि पुरुष (आत्मा) के नहीं, अन्तःकरण के गुण हैं। चूँकि धर्म-अधर्म के विचार अन्तःकरण द्वारा ही प्रकट होते हैं और बुद्धि अन्तःकरण का ही एक अङ्ग है, अतः इन्हें बुद्धि का विषय (धर्म) माना गया है। कारण यह है कि समस्त विचारों का केन्द्र बुद्धि ही है। अस्तु, धर्म-अधर्म को अन्तःकरण (बुद्धि आदि) का धर्म (अर्थात् अन्तःकरण से प्रकट होना) माना गया है॥२५॥

**( ३५३ ) गुणादीनां च नात्यन्तबाधः ॥ २६ ॥**

**सूत्रार्थ**— च = और, गुणादीनाम् = गुणत्रय (सत्त्व,रज,तम) आदि का, अत्यन्तबाधः = अत्यन्त बाध अर्थात् सर्वथा विनाश, न = नहीं होता।

**व्याख्या**— गुण आदि (अर्थात् सत्त्व, रज और तमोगुण तथा उनके महत्तत्त्व आदि कार्य) का सर्वथा विनाश नहीं होता अर्थात् वे बिल्कुल समाप्त नहीं हो जाते। जिस प्रकार लोहा अपने वास्तविक रूप में न गरम है, न शीतल; पर उसमें गर्मी भर जाने पर गरम और शीतल हो जाने पर शीतल कहा जाता है। उसी प्रकार पुरुष (आत्मा) के मूल स्वरूप में धर्म-अधर्मादि गुण आदि नहीं होते, पर अन्तःकरण से संयुक्त होने के कारण वे आत्मा के गुण कहे जाते हैं। इसी प्रकार विवेक बुद्धि द्वारा अज्ञान निवृत्ति हो जाने से गुणों व उनके कार्यों का पूरी तरह अभाव (विनाश) नहीं हो जाता; वरन् अन्तःकरण में उनका उद्‌भाव रहता है, इसी कारण शरीर से चेतन का सम्बन्ध न रहने पर भी आत्मा के साथ इन गुणों का सम्बन्ध (अन्तःकरण से सम्बद्ध होने के कारण) बना रहता है॥२६॥

**( ३५४ ) पंचावयवयोगात् सुखादिसंवित्तिः॥ २७॥**

**सूत्रार्थ**— पञ्चावयव = पाँचों अंगों (अवयवों)के, योगात् = योग से, सुखादिसंवित्तिः = सुख का अनुभव होता है।

**व्याख्या**— पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ शरीर के अंग (अवयव) स्वरूप हैं। इन्हीं के सहयोग से आत्मा सुख-दुःख का अनुभव करता है। कुछ व्याख्याकार न्याय दर्शन में वर्णित अनुमान के पाँच अवयवों प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन के संयोग से सुख प्राप्ति का तथ्य प्रतिपादित करते हैं। चूँकि इनसे पाँच इन्द्रियों द्वारा अग्राह्य पदार्थों का बोध होता है, इसी कारण उपर्युक्त पाँच अवयवों को सुखादि की अनुभूति में सहायक मान सकते हैं॥२७॥

**( ३५५ ) न सकृद्‌ग्रहणात्सम्बंधसिद्धिः॥ २८॥**

**( ३५५ ) न सकृद्ग्रहणात्सम्बंधसिद्धिः ॥ २८ ॥**

**सूत्रार्थ**— सकृद्ग्रहणात् = एक बार सभी के ग्रहण से, सम्बन्धसिद्धिः = व्याप्ति की निश्चितता या सम्बन्ध की सिद्धि, न = नहीं होती।

**व्याख्या**— एक बार ही एक साथ सभी के अथवा दो के ग्रहण से सम्बन्ध की सिद्धि नहीं मानी जा सकती। जिस प्रकार कहीं अग्नि दिखाई पड़े, तो उसके साथ धुआँ की भी उपस्थिति हो ही, यह कोई आवश्यक नहीं है; क्योंकि कई बार ऐसा भी होता है कि अग्नि ठीक तरह प्रज्वलित होती है और धूम्र होता ही नहीं; तब उसका अनुमान कर लेना अनुपयुक्त ठहरता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि एक की उपस्थिति से दूसरे का अनुमान करके उसकी उपस्थिति (व्याप्ति) का सुनिश्चित कर देना ठीक नहीं है॥२८॥

**( ३५६ ) नियतधर्मसाहित्यमुभयोरेकतरस्य वा व्याप्तिः ॥ २९ ॥**

**सूत्रार्थ**— नियतधर्मसाहित्यम् = निश्चित रूप से (व्यवस्था पूर्वक) धर्मों का एक साथ रहना, उभयोः = दोनों का, (अथवा) एकतरस्य = एक का, व्याप्तिः = सम्बन्ध (व्याप्ति) है।

**व्याख्या**— व्याप्ति का अभिप्राय बताते हुए इस सूत्र में कहा जा रहा है कि साध्य और साधन अर्थात् धर्म और जिनके द्वारा धर्म पालन किया जाये, ऐसे साधन; इन दोनों का नियमतः साथ रहना 'व्याप्ति' कहा जाता है। यथा-कहीं धुआँ दिख पड़े, तो यह निश्चित रूप से मान लिया जायेगा कि वहाँ पर अग्नि है ही। अस्तु, धुआँ की व्याप्ति या सम्बन्ध अग्नि के साथ माना जायेगा, किन्तु यदि कहीं अग्नि दिखाई दे, तो यह आवश्यक नहीं कि वहाँ धुआँ हो ही, अतः यहाँ धूम्र के साथ अग्नि की व्याप्ति मानना उचित नहीं ॥२९॥

**( ३५७ ) न तत्त्वान्तरं वस्तुकल्पनाप्रसक्तेः ॥ ३० ॥**

**सूत्रार्थ**— वस्तुकल्पनाप्रसक्तेः = अन्य वस्तु की कल्पना के प्रसङ्ग में, तत्त्वान्तरम् = व्याप्ति भिन्न तत्त्व, न = सिद्ध नहीं हो सकती।

**व्याख्या**— यदि व्याप्ति को भिन्न तत्त्व या पृथक् मानें, तो अतिरिक्त अर्थात् अन्य वस्तु की कल्पना उचित नहीं है। अभिप्राय यह है कि जो वस्तु प्रत्यक्ष है अथवा सिद्ध है, उसी की व्याप्ति सम्भव है, जो अप्रत्यक्ष अथवा असिद्ध है, उसकी व्याप्ति सम्भव नहीं है॥३०॥

**( ३५८ ) निजशक्त्युद्भवमित्याचार्याः ॥ ३१ ॥**

**सूत्रार्थ**— आचार्याः = आचार्य, इति = ऐसा मानते हैं कि, निजशक्त्युद्भवम् = निज शक्ति का उद्भव (प्राकट्य)ही व्याप्ति है।

**व्याख्या**— इस सूत्र में आचार्यों का ऐसा मानना है कि तत्त्व की स्वशक्ति (निज की शक्ति) का प्राकट्य ही व्याप्ति है; किन्तु जब तक तत्त्व से शक्ति का प्राकट्य नहीं होता, तब तक व्याप्ति नहीं बन सकती अथवा यह भी हो सकता है कि शक्ति उत्पन्न तो हुई; किन्तु दूर देश में चली गई या विनष्ट हो गई, तो भी व्याप्ति का होना सम्भव नहीं। जिस प्रकार अग्नि से धूम्र निकलकर दिखता है, तो धूम्र की व्याप्ति अग्नि के साथ मानी जायेगी। यदि अग्नि में धुआँ नहीं निकला अथवा निकलकर दूर चला गया, तो यह व्याप्ति नहीं हुई; क्योंकि धुआँ न निकलने से व्याप्ति का प्रश्न ही नहीं उठता और निकलकर बहुत दूर चले जाने से वहाँ अग्नि की उपस्थिति कैसे सम्भव होगी? अतः वहाँ व्याप्ति नहीं हो सकती॥३१॥

**( ३५९ ) आधेयशक्तियोग इति पंचशिखः ॥ ३२ ॥**

**सूत्रार्थ**— आधेयशक्तियोगः = व्याप्त होने के धर्म का योग होने को ही व्याप्ति कहते हैं, इति = ऐसा, पंचशिखः = पंच शिख आचार्य का मानना है।

**व्याख्या**— आधेय का अभिप्राय है किसी वस्तु के आधार पर रखी हुई वस्तु अथवा आश्रित। इस प्रकार अग्नि आधार और धुआँ उसका आधेय अथवा आश्रित हुआ। इस प्रकार अग्नि में आश्रित धूम्र की शक्ति का जो सहयोग है, वही व्याप्ति है, ऐसा आचार्य पंचशिख का अभिमत है॥३२॥

**( ३६० ) न स्वरूपशक्तिर्नियमः पुनर्वादप्रसक्तेः॥ ३३॥**

**सूत्रार्थ**— पुनर्वादप्रसक्तेः = पुनरुक्ति प्रसङ्ग होने के कारण, स्वरूपशक्तिः = स्वरूप शक्ति, नियमः = व्याप्ति, न = नहीं है।

**व्याख्या**— इस सूत्र में नियम का अभिप्राय-व्याप्ति से है। स्वरूप शक्ति का यहाँ अर्थ है- अग्नि में धुएँ की व्याप्ति; किन्तु यह कहना यहाँ पुनरुक्ति दोष अर्थात् एक ही बात को बार-बार कहने का दोष है; क्योंकि जो धुआँ है , वही तो व्याप्ति है। फिर इससे फल भी क्या सिद्ध होगा? दोनों के एक होने से धुआँ का धुआँ है। अस्तु, एक ही बात को पुनः-पुनः कहना पुनरुक्ति दोष होने से व्यर्थ है। यदि वस्तु के स्वरूपगत शक्ति को ही व्याप्ति माना जाये, तो भी उचित नहीं; जैसे- घट को कलश कहा जाये, तो पुनरुक्ति ही होगी; क्योंकि घट और कलश का एक ही अर्थ है। कलश का अलग से कोई लक्षण नहीं। इस प्रकार वस्तु की स्वरूप शक्ति को व्याप्ति कहना ठीक नहीं है॥३३॥

**( ३६१ ) विशेषणानर्थक्यप्रसक्तेः॥ ३४॥**

**सूत्रार्थ**— विशेषणानर्थक्य = विशेषण के अनर्थक होने के, प्रसक्तेः = प्रसङ्ग से भी यह कहना उचित नहीं है।

**व्याख्या**— जब धूम्र ही व्याप्ति स्वरूप है, तब विशेषण सहित उसका वर्णन करना अर्थात् विशेषता पूर्वक वर्णन करना कोई अर्थ नहीं रखता। जैसे घट का विशेषण कलश कहना व्यर्थ ही है; क्योंकि जो अर्थ घट का है, वही अर्थ कलश का है। इस प्रकार स्पष्ट ही है कि विशेषण के प्रयोग सहित इसे कहना निरर्थक है॥३४॥

**( ३६२ ) पल्लवादिष्वनुपपत्तेश्च॥ ३५॥**

**सूत्रार्थ**— च = और, पल्लवादिषु = पत्तों आदि में, अनुपपत्तेः = सिद्ध न होने से, (स्वरूप शक्ति को व्याप्ति कहना उचित नहीं)।

**व्याख्या**— यदि स्वरूप शक्ति को व्याप्ति कहा जाये, तो वृक्ष व्यापक और उस पर लगे पत्ते आदि व्याप्त हुए। पत्ते आदि के व्याप्त होने से स्वरूप शक्ति व्याप्ति हुई; क्योंकि पत्तों आदि (पत्ते, फल, फूल आदि)से वृक्ष होने का अनुमान होता है; किन्तु यदि पत्ते, फल आदि टूट कर कहीं दूर चले जाएँ , तब उनसे वहाँ पेड़ (वृक्ष) होने की सिद्धि नहीं होगी। ऐसी स्थिति में पत्तों आदि (वृक्ष की स्वरूप शक्ति)को व्याप्ति कहना उचित नहीं माना जा सकता॥३५॥

**( ३६३ ) आधेयशक्तिसिद्धौ निजशक्तियोगः समानन्यायात्॥ ३६॥**

**सूत्रार्थ**— आधेयशक्तिसिद्धौ = आधेय शक्ति के सिद्ध होने पर, समानन्यायात् = समान युक्ति से, निजशक्तियोगः = निजशक्ति का संयोग ही व्याप्ति है।

**व्याख्या**— जिस प्रकार आधेय शक्ति व्याप्ति के रूप में स्वयं सिद्ध है, उसी प्रकार निज की स्वाभाविक शक्ति भी व्याप्ति ही है। 'आधेय' शब्द का विवेचन बत्तीसवें सूत्र में किया जा चुका है। अग्नि धूम्र का कारण है, ऐसे कारण (हेतु) में व्याप्ति का ज्ञान प्राप्त कर लेना ही आधेय शक्ति है और आधेय शक्ति विदित हो जाने पर यह बात विदित हो जाती है कि हेतु की अपनी शक्ति ही व्याप्ति है। जिस प्रकार अग्नि की निज शक्ति (धूम्र) ही व्याप्ति है॥३६॥

**( ३६४ ) वाच्यवाचकभावः सम्बन्धः शब्दार्थयोः ॥ ३७॥**

**सूत्रार्थ—** शब्दार्थयोः = शब्द और अर्थ का, सम्बन्धः = सम्बन्ध, वाच्यवाचकभावः = वाच्य-वाचक भाव है।

**व्याख्या—** हृदय की भावाभिव्यक्ति के लिए शब्द का उच्चारण किया जाता है; क्योंकि शब्द ही अर्थ का बोधक है। इसलिए शब्द में वाचक भाव (अर्थात् जिसके द्वारा व्यक्त किया जाये) और अर्थ में वाच्य भाव होता है; क्योंकि वह (अर्थ) व्यक्त करने योग्य है। जैसे-घट शब्द घड़े (जल रखने का पात्र) तथा गौ शब्द एक विशेष पशु का बोध कराता है, तो गौ और घट शब्द वाचक और उससे निकलने वाला अर्थ वाच्य हुआ। इस प्रकार शब्द-अर्थ का वाच्य-वाचक सम्बन्ध होना सिद्ध होता है ॥३७॥

**( ३६५ ) त्रिभिस्सम्बन्धसिद्धिः ॥ ३८ ॥**

**सूत्रार्थ—** त्रिभिः = तीन से, सम्बन्धसिद्धिः = सम्बन्ध की सिद्धि है।

**व्याख्या —** शब्द और अर्थ के बीच जो वाचक-वाच्य भाव (सम्बन्ध) है, इसका निर्णय आप्तवचन, वृद्ध व्यवहार और प्रसिद्ध पद इन तीनों के द्वारा किया जाता है। इनमें 'आप्त' वह है, जिसे वस्तुस्थिति का यथार्थ ज्ञान है। उस व्यक्ति के द्वारा किसी विषय में कहा जाना मान्य होता है। वृद्ध व्यवहार उसे कहेंगे, जो किसी वृद्ध (अनुभवशील) पुरुष के द्वारा जाना जा सकता है और उसी के कहने पर विश्वास कर लिया जाये। जैसे- किसी वृद्ध द्वारा किसी अज्ञ बालक को कहा जाये कि यह 'मकान' है और बालक उसे केवल इस आधार पर 'मकान' मान ले कि वृद्ध व्यक्ति ने उसे मकान कहा है, तो मकान ही होगा। यह वृत्ति वृद्ध व्यवहार कहलायेगी। तृतीय तथ्य प्रसिद्ध पद समानाधिकरण से तात्पर्य यह है कि जिस बात या तथ्य की प्रसिद्धि है, उसी की समानता से किसी विषय या वस्तु का निर्णय कर लिया जाये। जैसे कोई कहे कि नल से जल ले जाओ। इसमें नल तो प्रसिद्ध ही है और नल से पानी निकलता है। नल से जल लाने की बात से स्पष्ट है कि जल का अर्थ पानी ही होगा। इस प्रकार उपर्युक्त तीनों साधनों से शब्द और अर्थ का वाचक-वाच्य भाव (सम्बन्ध)ज्ञात होता है ॥३८॥

**( ३६६ ) न कार्ये नियम उभयथा दर्शनात् ॥ ३९ ॥**

**सूत्रार्थ—** उभयथा = दोनों प्रकार से, दर्शनात् = देखने से, कार्ये = कार्य में, नियमः = नियम, न = नहीं है।

**व्याख्या—** केवल कार्य वाचक वाक्यों में ही वाचक-वाच्य सम्बन्ध नहीं होता (क्योंकि दोनों प्रकार के वाक्यों में अर्थ बोधक शक्ति पायी जाती है); वरन् विधि और सिद्ध वाक्यों में भी यह सम्बन्ध पाया जाता है। जैसे- '**अहरहः सन्ध्यामुपासीत्**'तथा '**अग्निहोत्रं जुहुयात्**'आदि विधि वाक्यों से सन्ध्योपासना और अग्निहोत्र (होम) का ज्ञान होता है, उसी प्रकार 'पुत्रस्ते जातः' इत्यादि वाक्यों में विधि न होने पर भी अर्थ का बोध, 'तेरे पुत्र उत्पन्न हुआ है' होता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि चाहे विधि वाक्य हो या सिद्ध वाक्य दोनों में शक्तिग्रहण होनी चाहिए ॥३९॥

**( ३६७ ) लोके व्युत्पन्नस्य वेदार्थप्रतीतिः ॥ ४० ॥**

**सूत्रार्थ—** लोके = संसार में, व्युत्पन्नस्य = ज्ञानी पुरुष को, वेदार्थप्रतीतिः = वेदार्थ का ज्ञान प्राप्त हो जाता है।

**व्याख्या—** संसार में पूर्ण ज्ञानी पुरुषों को वेद के वास्तविक अर्थ का ज्ञान प्राप्त हो जाता है, कारण यह है कि शब्द-शक्ति लोक और वेद में समान है, पृथक्-पृथक् नहीं ॥४०॥

**( ३६८ ) न त्रिभिरपौरुषेयत्वाद्वेदस्य तदर्थस्याप्यतीन्द्रियत्वात्॥ ४१ ॥**

**सूत्रार्थ—** त्रिभिः = तीनों (आप्तोपदेश, वृद्ध-व्यवहार और प्रसिद्ध पद) द्वारा, वेदस्य अपौरुषेयत्वात् = वेद के अपौरुषेय (पुरुष के सीमा से परे) होने से, तदर्थस्य = उसके अर्थ के, अपि = भी, अतीन्द्रियत्वात् = अतीन्द्रिय (इन्द्रियों की सीमा से परे) होने से, न = सम्भव नहीं होता।

**व्याख्या—** जो किसी व्यक्ति द्वारा न किया गया हो,(अथवा न कहा गया हो) वह अपौरुषेय कहा जाता है। वेदों की रचना किसी पुरुष द्वारा नहीं की गई, इसलिए वेद अपौरुषेय कहलाते हैं। वेद का एक अर्थ अतीन्द्रिय ज्ञान है। इस प्रकार अपौरुषेय और अतीन्द्रिय वेद शब्द का अर्थ आप्तवचन, वृद्ध व्यवहार और प्रसिद्ध पद समानाधिकरण इन तीनों में किसी के द्वारा भी समझने योग्य नहीं है॥ ४१ ॥

**( ३६९ ) न यज्ञादेः स्वरूपतो धर्मत्वं वैशिष्ट्यात्॥ ४२ ॥**

**सूत्रार्थ—** न = ऐसा (उपर्युक्त कथन उचित) नहीं है। (क्योंकि) वैशिष्ट्यात् = फल आदि देने की विशिष्टता होने से, यज्ञादेः = यज्ञ आदि (वैदिक) कृत्यों का, स्वरूपतः = स्वरूप से ही, धर्मत्वं = धर्मी होना सिद्ध है।

**व्याख्या—** स्वरूप से यज्ञादि को वेद-विहित कार्य माना जाता है। वेदविहित विविध यज्ञ-अनुष्ठान आदि विशिष्ट फल भी प्रदान करते हैं। इस प्रकार वेद के लक्षण स्वरूप यज्ञ-अनुष्ठानादि की उपयोगिता सिद्ध ही है। तब वेद शब्द का अर्थ अतीन्द्रिय अर्थात् न समझ में आने योग्य अथवा अप्रकट मानना उचित प्रतीत नहीं होता॥४२ ॥

**( ३७० ) निजशक्तिर्व्युत्पत्त्या व्यवच्छिद्यते॥ ४३ ॥**

**सूत्रार्थ—** निजशक्तिः = वेद की अपनी शक्ति, व्युत्पत्या = व्युत्पत्ति के द्वारा, व्यवच्छिद्यते = वैभिन्य पूर्वक कही जाती है।

**व्याख्या—** वेदों की निज की स्वाभाविक शक्ति को पूर्ण ज्ञानी विद्वज्जन वेद-ज्ञान के द्वारा शब्दों का प्रथक्-प्रथक् अर्थ करके कहते हैं। अभिप्राय यह है कि यद्यपि वेद अपौरुषेय हैं। किसी व्यक्ति द्वारा उनकी रचना नहीं हुई है, तो भी उनके शब्दों की स्वाभाविक शक्ति के कारण अनेक विद्वान् उन शब्दों के अर्थों का भिन्न-भिन्न प्रकार से वर्णन करते हैं। इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि कोई व्यक्ति अपनी क्षमता से उन अर्थों को करते हैं, वरन् वेदों की स्वाभाविक शक्ति के कारण ऐसा है। [यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि अपौरुषेय वेद और लोक (लौकिक ग्रन्थ) में अन्तर इतना ही है कि लोक में शब्दार्थ का संकेत ऋषियों अथवा आभिधानिक आचार्यों द्वारा किया जाता है, तथा वेद शब्दों में यह अर्थ स्वाभाविक रूप से शक्तिरूप में छिपा है, जो ऋषियों द्वारा जाना जाता है] ॥४३ ॥

**( ३७१ ) योग्यायोग्येषु प्रतीतिजनकत्वात् तत्सिद्धिः ॥ ४४॥**

**सूत्रार्थ—** योग्य अयोग्येषु = योग्य और अयोग्य में, प्रतीतिजनकत्वात् = ज्ञान का उत्पन्न कर्त्ता होने से, तत्सिद्धिः = उसकी सिद्धि होती है।

**व्याख्या—** योग्य पदार्थ उसे कहते हैं, जो इन्द्रियों द्वारा ग्रहण किया जा सकता है एवं जो प्रत्यक्ष है। अयोग्य पदार्थ का इन्द्रियों द्वारा ग्रहण नहीं हो सकता; क्योंकि वह प्रकट नहीं, परोक्ष होता है। वेद इन दोनों से युक्त है। वह योग्य इस प्रकार है कि उसके अर्थ स्वरूप यज्ञ-अनुष्ठानादि का श्रेष्ठ प्रतिफल प्रत्यक्ष दिखाई देता है एवं अयोग्य या अतीन्द्रिय इसलिए है कि वह ज्ञान के बिना अग्राह्य है अर्थात् ज्ञान के बिना उसे समझ सकना सम्भव नहीं है। ज्ञान का जनक होने से वेद स्वयं सिद्ध भी है॥४४ ॥

**( ३७२ ) न नित्यत्वं वेदानां कार्यत्वश्रुतेः ॥ ४५ ॥**

**सूत्रार्थ—** कार्यत्वश्रुतेः = कार्यरूप सुना जाने से, वेदानाम् = वेदों का, नित्यत्वम् = नित्यत्व अर्थात् अविनाशी होना, न = सिद्ध नहीं होता।

**व्याख्या—** श्रुति में वेद को कार्यरूप कहा जाता है, इसलिए उनको नित्य (अविनाशी) नहीं माना जा सकता। शतपथ ब्राह्मण ११.५.८.३ में उल्लेख है- **त्रयो वेदा अजायन्त**'। इसी प्रकार यजुर्वेद में इस मंत्र '**तस्माद्यज्ञात्सर्व हुत ऋचः सामानि जज्ञिरे। छन्दा ᳪ सि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत** (यजु० ३१.७)' के अनुसार ऋक्, यजु, साम उस विराट् पुरुष से उत्पन्न बताये गये हैं। जो किसी के कार्य रूप हैं, उनका शाश्वत होना कैसे सम्भव है? इस प्रकार वेदों को शाश्वत (नित्य) नहीं माना जा सकता॥४५॥

**( ३७३ ) न पौरुषेयत्वं तत्कर्त्तुः पुरुषस्याभावात्॥ ४६॥**

**सूत्रार्थ—** तत्कर्त्तुः = उसके कर्त्ता, पुरुषस्य = पुरुष के, अभावात् = अभाव से, पौरुषेयत्वम् = वेद पौरुषेय है, न = ऐसा सिद्ध नहीं होता।

**व्याख्या—** वेद का निर्माता (कर्त्ता) कोई पुरुष (व्यक्ति विशेष) नहीं है। इसलिए उन्हें पौरुषेय अर्थात् किसी पुरुष द्वारा रचित नहीं माना जा सकता। कुछ विद्वानों का मत है कि वेदों का कर्त्ता ईश्वर है; किन्तु सांख्य दर्शन में ईश्वर को अकर्त्ता माना जाता है। जब ईश्वर अकर्त्ता है, तब वह वेदों का कर्त्ता कैसे हो सकता है?॥४६॥

**( ३७४ ) न मुक्तामुक्तयोरयोग्यत्वात्॥ ४७॥**

**सूत्रार्थ—** मुक्तामुक्तयोः = मुक्त और बद्ध दोनों के, अयोग्यत्वात् = अयोग्य होने से, न = वेद का कर्त्ता होना शक्य नहीं है।

**व्याख्या—** ईश्वर को यदि मुक्त अथवा बद्ध किसी भी अवस्था वाला मानें, तो भी उसे वेद का कर्त्ता नहीं माना जा सकता; क्योंकि यदि उसे मुक्त मानें, तो सर्वज्ञ होने पर भी वह राग रहित अर्थात् कार्यशक्ति के अभाव में वेद के निर्माण के योग्य नहीं हो सकता और यदि उसे बद्ध (अमुक्त) मानें, तो ऐसी स्थिति में अज्ञानी होने के कारण (क्योंकि अज्ञान ही बन्धन का कारण है) वह वेद जैसे गूढ़ और रहस्यमय ज्ञान ग्रन्थ का सृजन (ज्ञान को लिपिबद्ध) करने में अयोग्य होगा। इस प्रकार मुक्त और अमुक्त दोनों ही अवस्थाओं में ईश्वर को वेद रचयिता सिद्ध नहीं किया जा सकता॥४७॥

**अगले सूत्र में बताते हैं कि यदि वेद अपौरुषेय भी है तो भी उन्हें नित्य नहीं माना जा सकता-**

**( ३७५ ) नापौरुषेयत्वान्नित्यत्वमंकुरादिवत्॥ ४८॥**

**सूत्रार्थ—** अपौरुषेयत्वात् = अपौरुषेय होने से, अंकुरादिवत् = अंकुर आदि की तरह, नित्यत्वम् = वेदों की नित्यता, न = सिद्ध नहीं होती।

**व्याख्या—** यदि कोई वस्तु या तत्त्व अपौरुषेय है (अर्थात् किसी व्यक्ति द्वारा उसका रचा जाना सम्भव नहीं है), तो भी उसे नित्य अर्थात् अविनाशी नहीं माना जा सकता। जिस प्रकार अङ्कुर आदि किसी व्यक्ति की रचना नहीं है, तो भी वे अविनाशी नहीं हैं अर्थात् नश्वर हैं। उसी प्रकार वेद भी किसी व्यक्ति की रचना न होने से अपौरुषेय हैं; किन्तु अविनाशी नहीं हो सकते॥४८॥

**( ३७६ ) तेषामपि तद्योगे दृष्टबाधादिप्रसक्तिः ॥ ४९ ॥**

**सूत्रार्थ—** तेषाम् अपि = उन (अंकुर आदि) का भी, तद्योगे = उसके साथ योग होने से, दृष्टबाधादि = दृष्ट- प्रत्यक्ष होने की बाधा आदि का, प्रसक्तिः = प्रसङ्ग आयेगा।

**व्याख्या**— यदि अङ्कुर आदि को पौरुषेय (किसी पुरुष के द्वारा उत्पादित) मान लें (क्योंकि व्यक्ति द्वारा बीज बोने पर ही अङ्कुर निकलता है), तो दृष्ट की बाधा उपस्थित होगी। अभिप्राय यह है कि अङ्कुर तो प्रत्यक्षत: स्वत: ही उत्पन्न होते हुए दीखते हैं, कोई उनका प्रत्यक्ष कारण दिखाई नहीं पड़ता। इस प्रकार बिना कारण के जो प्रत्यक्ष दिखाई पड़ता है, वह झूठा सिद्ध होगा।।४९॥

**अपौरुषेय किसे कहते हैं, इसकी परिभाषा देते हुए निराकरण करते हैं-**

**( ३७७ ) यस्मिन्नदृष्टेऽपि कृतबुद्धिरुपजायते तत्पौरुषेयम्॥ ५०॥**

**सूत्रार्थ**— यस्मिन् = जिस, अदृष्टे = देखी न जाने वाली वस्तु में, अपि = भी, कृतबुद्धि: = रचना की गई है, ऐसा बोध कराने वाली बुद्धि, उपजायते = उत्पन्न होती है, तत् = वह वस्तु, पौरुषेयम् = पुरुष द्वारा जिसकी रचना हुई है, ऐसी मानी जाती है।

**व्याख्या**— जिस वस्तु (कार्य) को देखकर उसके कर्त्ता के दिखाई न पड़ने पर भी ऐसी बुद्धि उत्पन्न हो कि ये मनुष्य कृत हैं, तो वह पौरुषेय अर्थात् मनुष्यकृत मानी जाती है। उदाहरणार्थ- एक ऐसा सन्दूक है जो किसी मनुष्य का बनाया हुआ है और दूसरा ऐसा है, जिसके बनाने वाले को हमने नहीं देखा पर मनुष्यकृत जैसा लगने की अनुमान बुद्धि से उसे मनुष्यकृत ही माना जायेगा; किन्तु एक पुरुष को देखकर यह बुद्धि उत्पन्न नहीं होगी कि ये मनुष्यकृत हैं। इसी प्रकार अंकुर आदि के विषय में भी उसके मनुष्यकृत होने की बुद्धि उत्पन्न नहीं होती। वेदों के विषय में भी ऐसा ही है; क्योंकि सृष्टि के आरम्भिक काल में जब इनका प्राकट्य हुआ था, तब मनुष्यों को कोई ऐसा अनुभव या ज्ञान नहीं था, जैसा कि वेदों में अध्यात्म का गूढ़ रहस्य और विज्ञान का कौशल भरा है। अस्तु, उन्हें देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि बद्ध-मुक्त किसी भी प्रकार के मनुष्यों (जीवों) द्वारा इनका (वेदों का) रचा जाना सम्भव नहीं है। वेदों के सन्दर्भ में इस प्रकार की कृत बुद्धि उत्पन्न न होने से वे अपौरुषेय ही हैं॥ ५०॥

**( ३७८ ) निजशक्त्यभिव्यक्तेः स्वतः प्रामाण्यम्॥ ५१॥**

**सूत्रार्थ** — निज शक्त्यभियक्तेः = अपनी शक्ति की अभिव्यक्ति (प्राकट्य) से वेद, स्वत: प्रामाण्यम् = स्वत: (अपने आप) सिद्ध है।

**व्याख्या**— वेदों में अर्थ बोधन की अपनी स्वाभाविक शक्ति है। वेद का अर्थ विदित हो जाने पर उससे यथार्थ का ज्ञान हो जाता है। अस्तु, वेद स्वत: प्रमाण हैं; क्योंकि वेदों के शब्दार्थ हेतु किसी सम्बन्धित ग्रन्थ के प्रमाण की आवश्यकता नहीं होती; अत: वे स्वयं ही अपने अर्थ को प्रकट करते हैं। इसका एक कारण यह भी है कि वेद सबसे प्राचीन हैं, उनके अर्थ को इनसे बाद रचित कौन सा ग्रन्थ प्रमाणित करेगा? विज्ञजनों का ऐसा अभिमत है कि वेद प्रत्येक सृष्टि के आरम्भ में प्रकट होते हैं। सर्वेश्वर परमात्मा उन्हें पुन: ऋषियों के हृदय में प्रकट करते हैं। इस प्रकार वे परत: प्रमाण न होकर स्वत: प्रमाण हैं॥ ५१॥

**अब तक १२ वें सूत्र में वर्णित जगत् के उपादान कारण स्वरूप प्रकृति के सन्दर्भ में श्रुति प्रमाण और अनुमान प्रमाण की बात कही गई। अब प्रकृति के सन्दर्भ में प्रत्यक्ष प्रमाण सम्बंधी प्रतिपादन प्रस्तुत है-**

**( ३७९ ) नासतः ख्यानं नृशृङ्गवत्॥ ५२॥**

**सूत्रार्थ**— नृशृङ्गवत् = मनुष्य के शृंग (सींग) के समान, असत: = असत् का, ख्यानम् = ज्ञान, न = शक्य नहीं है।

**व्याख्या**- मनुष्य के सींग न होने की बात प्रत्यक्ष ही है, इसी प्रकार असत् का ज्ञान न हो सकने की बात भी (न शृंगवत्) प्रत्यक्ष है। अभिप्राय यह है कि रस्सी में सर्प का भ्रम हो जाता है; पर वस्तुत: वहाँ

सर्प का अस्तित्व नहीं है, इसलिए भ्रम ही असत् है (क्योंकि उसकी प्रतीति भर होती है, वस्तुत: वह नहीं है) और असत् का ज्ञान नहीं हो सकता। कदाचित् असत् का ज्ञान हो सकता, तो मनुष्य के सिर पर सींग भी हो सकते थे। यह बात ही इस उदाहरण द्वारा समझाई गई है। अस्तु, रस्सी में सर्प की प्रतीति और सीपी में चाँदी की प्रतीति को असत्ख्याति (असत का ज्ञान) कहना उचित नहीं है॥५२॥

**( ३८० ) न सतो बाधदर्शनात्॥ ५३॥**

**सूत्रार्थ—** बाधदर्शनात् = बाधा देखने से, सत: = सत्, न = नहीं है।

**व्याख्या—** बाधा के दिखाई पड़ने से सत् की ख्याति (ज्ञान) सम्भव नहीं है। अभिप्राय यह है कि पहले रस्सी को सर्प समझा गया, फिर सत्य बात का पता चला कि यह सर्प नहीं रस्सी है, इससे सर्प की बाधा होने से सर्प की समाप्ति हो गई। इस प्रकार सत् रूप सर्प का ज्ञान प्राप्त हो गया, यह मानना उचित प्रतीत नहीं होता; क्योंकि ज्ञान सत् और असत् दोनों प्रकार की वस्तुओं का हो सकता है॥५३॥

**( ३८१ ) नानिर्वचनीयस्य तदभावात्॥ ५४॥**

**सूत्रार्थ—** तद् अभावात् = उसका अभाव होने से, अनिर्वचनीयस्य = अनिर्वचनीय का भाव, न = नहीं होगा।

**व्याख्या—** यदि यह माना जाये कि सत् और असत् पदार्थों से भिन्न कोई अनिर्वचनीय पदार्थ हो, तो उसकी ख्याति सम्भव है, तो यह भी शक्य नहीं है; क्योंकि संसार में सत् या असत् दो ही प्रकार के पदार्थ हैं। कोई ऐसा पदार्थ है ही नहीं, जिसका रूप ज्ञान न हो (अर्थात् वह अरूप हो) तथा वह वाणी द्वारा कहे जाने योग्य भी न हो अर्थात् अनिर्वचनीय हो। अस्तु, कल्पना मात्र के आधार पर ऐसे तत्त्व का होना भी नहीं माना जा सकता॥ ५४॥

**( ३८२ ) नान्यथा ख्याति: स्ववचोव्याघातात्॥ ५५॥**

**सूत्रार्थ—** स्ववचोव्याघातात् = अपने वचन के व्याघात् (विरोध) से, अन्यथा = अन्यथा (विपरीत) ख्याति: = (ज्ञान) हो, न = ऐसा भी नहीं है।

**व्याख्या—** रस्सी में सर्प का ज्ञान होने के पश्चात् जब हमें यह विदित होता है कि यह सर्प नहीं रस्सी ही है, हमें सर्प सम्बन्धी झूठा ज्ञान हो गया था, तो इस कथन से हमारी अपनी ही बात का विरोध (व्याघात) हो जाता है। कारण यह है कि अन्य वस्तु में अन्य वस्तु का ज्ञान भी नृशृंगवत् मिथ्या ही है। इस प्रकार स्पष्ट है कि अन्य वस्तु से अन्य वस्तु का आभास होने का तथ्य युक्ति संगत नहीं है॥ ५५॥

**उपर्युक्त भ्रान्ति-स्थलों के कई विवेचन होने पर भी जो तथ्य को प्रमाणित कर दे, ऐसा कोई भी विवेचन नहीं है,तो क्या यह विवेचन शक्य नहीं है? नहीं। अस्तु , अगले सूत्र में सूत्रकार इस विषय का उपयुक्त समाधान देते हैं-**

**( ३८३ ) सदसत्ख्यातिर्बाधाबाधात्॥ ५६॥**

**सूत्रार्थ—** बाधाबाधात् = बाध और अबाध होने से, सदसत् = सत् या असत्, ख्याति: = ज्ञान होता है (माननीय है)।

**व्याख्या—** इस सूत्र में 'सदसत्ख्याति' पद मिथ्या प्रतीति के लिए आया है। रज्जु में सर्प की मिथ्या प्रतीति होती है, उस समय जंगल में रहने वाले सर्प का ध्यान आते ही भय और आशंका उत्पन्न होती है कि कहीं यह सर्प हमें डस न ले। अस्तु,इस प्रतीति में भय और आशंका निमित्त कारण बनी। इस प्रतीति के बाद जैसे ही हमें यह ज्ञान होता है कि डसने वाला सर्प तो जंगल में ही है, यह तो रस्सी है; इस ज्ञान से

सर्प बाधित होता है अर्थात् पहले सर्प की भ्रान्ति हुई, तो वह सर्प का 'अबाध' हुआ और भ्रान्ति मिटते ही सर्प का 'बाध' हो गया। 'बाध' और 'अबाध' इन दोनों प्रक्रियाओं को ही सदसत् ख्याति कहते हैं ॥५६॥

**अब अगले कुछ सूत्रों में शब्द और उसके भेद सम्बन्धी चर्चा की जा रही है -**

**( ३८४ ) प्रतीत्यप्रतीतिभ्यां न स्फोटात्मकः शब्दः ॥ ५७॥**

**सूत्रार्थ —** प्रतीत्यप्रतीतिभ्याम् = प्रतीति और अप्रतीति दोनों के होने पर, शब्दः = शब्द, स्फोटात्मकः = स्फोटात्मक, न = नहीं है।

**व्याख्या—** शब्द से जो अर्थ का ज्ञान प्रकट होता है, उसे 'स्फोट' कहते हैं तथा स्फोट (शब्द के अर्थ का ज्ञान) शब्द से प्रकट हुआ करता है, इसलिए शब्द को स्फोटात्मक कहा जाता है; किन्तु जहाँ सत्य का बोध नहीं होता, वहाँ शब्द को स्फोटात्मक नहीं माना जा सकता। रज्जु में सर्प का ज्ञान होना, फिर न होना, इस प्रकार एक बार प्रतीति हुई और एक बार उसकी अप्रतीति हुई। इस प्रकार इस विषय में कोई एक सत्य धारणा नहीं बनी, अतः यहाँ प्रयुक्त शब्द को स्फोटात्मक नहीं माना जायेगा। एक अन्य उदाहरण से इसे इस प्रकार समझा जा सकता है। ग् एवं औ इन दो वर्णों से मिलकर 'गौ' शब्द बनता है, जिससे एक गाय का बोध होता है, जिसके चार पैर हैं, जो दूध देती है, जिसके पूँछ है आदि। किन्तु ग् और औ का अलग से कोई अर्थ प्रकट नहीं होता। मिलकर 'गौ' शब्द बनने से ही वह एक 'पशु' विशेष का बोध कराता है। अस्तु, यह 'गौ' शब्द स्फोटात्मक है। इसी प्रकार कलम कहने से किसी लिखने वाली लेखनी का बोध होता है; किन्तु पेन कहने से अर्थ स्पष्ट नहीं होता, वह लेखनी भी हो सकती है और पीड़ा (दर्द) भी। अस्तु, यह पेन शब्द स्फोटात्मक नहीं होगा॥ ५७॥

**( ३८५ ) न शब्दनित्यत्वं कार्यताप्रतीतेः ॥ ५८ ॥**

**सूत्रार्थ—** कार्यताप्रतीतेः = कार्यता प्रतीति होने से, शब्द = शब्द की, नित्यत्वम् = नित्यता, न = नहीं हो सकती।

**व्याख्या—** शब्द को नित्य नहीं माना जा सकता। नित्य उसे कहते हैं, जो न उत्पन्न होता है और न विनष्ट होता है; किन्तु शब्द तो करने से उत्पन्न होता है, अतः वह कार्य है कारण नहीं और कार्य नित्य नहीं हो सकता। अस्तु, शब्द-अनित्य है ॥५८॥

**अब शब्द को नित्य मानने वाले शब्द को अगले सूत्र में नित्य बताते हैं-**

**( ३८६ ) पूर्वसिद्धसत्त्वस्याभिव्यक्तिर्दीपेनेव घटस्य॥ ५९॥**

**सूत्रार्थ —** दीपेन=दीपक के द्वारा, घटस्य इव= घड़े की तरह,पूर्वसिद्ध=पूर्व में सिद्ध हुए, सत्त्वस्य=सत्त्व का, अभिव्यक्तिः = प्राकट्य है।

**व्याख्या—** कुछ विद्वान् शब्द को नित्य मानते हैं। इस सन्दर्भ में उनकी मान्यता है कि शब्द की सत्ता पहले से ही विद्यमान है; किन्तु वह निमित्त (वाणी आदि) द्वारा केवल प्रकट होता है। जिस प्रकार अन्धेरे घर में कोई घड़ा आदि रखे हों, वे दिखाई न पड़ रहे हों, पर दीपक का प्रकाश होते ही वे दिखाई देने लगते हैं, अर्थात् प्रकट हो जाते हैं। इसका यह अर्थ नहीं है कि वे वहाँ पर थे ही नहीं और दीपक के प्रकाश से उत्पन्न हो गये, वरन् वास्तविकता यह है कि वे वहाँ पर विद्यमान थे, प्रकाश होने पर दिखाई देने लगे। इसी प्रकार शब्द पहले से ही विद्यमान है; किन्तु उच्चारण आदि निमित्तों का प्रयोग होते ही वे प्रकट हो जाते हैं। अस्तु, शब्द नित्य हैं॥ ५९॥

**इस सन्दर्भ में शंकाओं का समाधान करते हुए, सांख्यकार निर्णयस्वरूप अपना मत प्रतिपादित करते हैं-**

## ( ३८७ ) सत्कार्यसिद्धान्तश्चेत्सिद्धसाधनम्॥ ६०॥

**सूत्रार्थ—** सत्कार्यसिद्धान्त: = सत्कार्य का सिद्धान्त (अर्थात् कार्य के कारण में विद्यमान रहने का सिद्धान्त), चेत्=यदि मान लिया जाय, सिद्धसाधनम् = सिद्ध वस्तु का साधन होता है।

**व्याख्या—** यदि वस्तु सिद्ध हो तो भी उसे प्रकट करने के लिए साधन की आवश्यकता होती है। यदि सत्कार्य के सिद्धान्त को मान लिया जाये अर्थात् यह स्वीकार कर लिया जाये कि कार्य अपने कारण में पहले से ही विद्यमान है, तो इस शंका का समाधान हो सकता है कि शब्द नित्य है या अनित्य? तब शब्द पहले से ही विद्यमान रहेगा और उच्चारण का निमित्त बनने पर प्रकट होगा, तो शब्द का नित्य होना सिद्ध हो जायेगा और उच्चारण उसको प्रकट करने वाला साधन होगा। इस प्रकार शब्द की नित्यता सिद्ध होती है ॥६० ॥

**अभी तक प्रकृति के उपादान कारणत्व विषयक चर्चा के अन्तर्गत शब्द आदि प्रमाणों का प्रतिपादन किया गया। अब अद्वैतवादादि का खण्डन करते हुए पुरुष के भेदों का वर्णन किया जा रहा है-**

## ( ३८८ ) नाद्वैतमात्मनो लिंगात् तद्भेदप्रतीतेः ॥ ६१ ॥

**सूत्रार्थ—** आत्मन: = आत्मा का, अद्वैतम् = अद्वैत (एक) होना, न = सम्भव नहीं है, लिङ्गात् = लक्षण से, तद्भेदप्रतीते: = उसमें भिन्नता का ज्ञान होने से।

**व्याख्या—** यह मानना उचित नहीं है कि आत्मा एक ही है; क्योंकि यह प्रत्यक्ष ही देखा जाता है कि संसार में अनेक आत्माएँ हैं। कोई जन्मता है, कोई मरता है, कोई अस्वस्थ होता है तथा कोई सुख और कोई दु:ख भोगता है। यदि अद्वैत मतानुसार सबमें एक ही आत्मा होती, तो सब एक साथ जन्मते, एक साथ मरते तथा एक साथ ही सुख-दु:खादि भोग करते। इस प्रकार आत्मा एक ही है, यह सिद्ध नहीं होता ॥६१ ॥

## ( ३८९ ) नानात्मनापि प्रत्यक्षबाधात्॥ ६२॥

**सूत्रार्थ—** अनात्मना= अनात्मा अर्थात् जड़ है तत्त्व के अपि=भी, प्रत्यक्षबाधात् = प्रत्यक्ष बाधा होने से (आत्मा का एक होना सिद्ध नहीं होता)।

**व्याख्या—** लोक में यह प्रत्यक्ष देखा जाता है कि आत्मा (चेतन) का सम्बन्ध जब शरीर (अचेतन)से होता है, तभी वह सक्रिय होकर चलता-फिरता एवं विभिन्न विषयों को ग्रहण करता है; किन्तु जैसे ही आत्मा शरीर से निकलती है, वैसे ही वह चेष्टारहित (निष्क्रिय) हो जाता है अर्थात् उसकी मृत्यु हो जाती है। इस प्रकार यह देखा जाता है कि जिस शरीर से आत्मा निष्क्रमण कर जाती है, उसी की मृत्यु होती है, सभी की नहीं। इससे यही सिद्ध होता है कि आत्मा एक नहीं अनेक हैं ॥६२ ॥

## ( ३९० ) नोभाभ्यां तेनैव॥ ६३॥

**सूत्रार्थ—** तेनैव = उपर्युक्त कारण से, उभाभ्याम् = दोनों के अलग होने से, न = अद्वैत होने की पुष्टि नहीं होती।

**व्याख्या—** उपर्युक्त कारण से ऐसा भी नहीं माना जा सकता कि चेतन आत्मा और अचेतन शरीर दोनों मिलकर एक हैं; क्योंकि दोनों प्रत्यक्षत: पृथक्-पृथक् हैं, ऐसा देखने में आता है। आत्मा के शरीर से बाहर निकल जाने पर शरीर निश्चेष्ट होकर पड़ा रह जाता है। तब यह कैसे माना जाये कि दोनों एक ही हैं? अस्तु, इससे भी आत्मा के एक होने की पुष्टि नहीं होती ॥६३ ॥

## ( ३९१ ) अन्यपरत्वमविवेकानां तत्र ॥ ६४॥

**सूत्रार्थ—** तत्र=उनमें,अन्यपरत्वम् = द्वैत से भिन्न अद्वैत का अर्थ निकालना, अविवेकानां = विवेकहीनों का कार्य है।

**व्याख्या**— उपर्युक्त कई प्रमाणों से यह निष्कर्ष निकल चुका है कि आत्मा (चैतन्य पुरुष) और शरीर (जड़ प्रकृति) भिन्न-भिन्न हैं अर्थात् आत्मा एक नहीं अनेक हैं, तो भी यदि कोई इसका अभिप्राय सभी आत्माओं के एक होने के रूप में निकाले, तो यह निश्चित ही किसी अविवेकी व्यक्ति का कार्य होगा; क्योंकि विवेकी और ज्ञानी पुरुष ऐसा असंगत अर्थ नहीं निकाल सकता ॥६४॥

**(३९२) नात्माविद्या नोभयं जगदुपादानकारणं निःसंगत्वात् ॥ ६५ ॥**

**सूत्रार्थ**— आत्मा = आत्मा, अविद्या = अविद्या, निस्संगत्वात् = निस्संग अर्थात् असङ्ग होने से, जगदुपादानकारणम् = जगत् के उपादान कारण, न = नहीं हो सकते, उभयम् = दोनों (आत्मा और अविद्या) मिलकर भी, न = नहीं हो सकते।

**व्याख्या**— इस सूत्र में सांख्यकार का मत है कि आत्मा जगत् का उपादान कारण नहीं हो सकता; क्योंकि आत्मा चेतन है और समस्त चेतन तत्त्व अपरिणामी होते हैं अर्थात् उनका कोई कार्य नहीं होता (तो जगत् उस चेतन का कार्य कैसे हो सकता है?)। अविद्या को इसलिए जगत् का कारण नहीं कह सकते; क्योंकि वह चेतन के आश्रित है। यदि अविद्या का कोई कार्य हो भी, तो वह चेतन के आश्रित माना जायेगा और वह आश्रय भी उससे कुछ न कुछ प्रभावित अवश्य होगा। यदि यह माना जाय कि चेतन और अविद्या दोनों मिलकर जगत् के उपादान कारण हो सकते हैं, तो यह भी सम्भव नहीं है; क्योंकि चेतन पुरुष (आत्मा) का वह धर्म ही नहीं है, इसलिए अविद्या के साथ मिलकर वह कार्य नहीं कर सकता। अस्तु, यह भी सम्भव नहीं है ॥६५॥

**(३९३) नैकस्यानन्दचिद्रूपत्वे द्वयोर्भेदात् ॥ ६६ ॥**

**सूत्रार्थ**— एकस्य = एक जीवात्मा का, आनन्दचिद्रूपत्वे = आनन्द रूप और चैतन्य होना, द्वयोर्भेदात् = दोनों के भेद से, न = सिद्ध नहीं होता।

**व्याख्या**— चैतन्य दो होते हैं, एक जीवात्मा और एक परमात्मा। जीवात्मा शरीर धारण करता है; किन्तु परमात्मा शरीर धारण नहीं करता। श्रुति में परमात्मा के विषय में कहा गया है- **'सत्यं विज्ञानमानन्द ब्रह्म'** अर्थात् परब्रह्म (परमात्मा) सत्य, विज्ञानमय और आनन्दरूप है। जीवात्मा के ये चिह्न नहीं हैं। जीवात्मा चिद्रूप (चैतन्य) तो है, पर आनन्द रूप नहीं है; क्योंकि शरीर धारण करके उसे विभिन्न प्रकार के सुख-दुःखों का भोग करना पड़ता है, उसे आनन्द कहाँ? (यहाँ यह बात समझ लेने जैसी है कि सुख और आनन्द में अन्तर है। सांसारिक विषय भोगों में जो अनुकूलता प्राप्त होती है, वह सुख है और समाधि लगने पर जो आत्म-साक्षात्कार होता है और अतिशय दिव्य अनुकूलता अथवा कैवल्य का अनुभव होता है, वह आनन्द है।) इस प्रकार जीवात्मा और परमात्मा में भेद होने से यह सिद्ध होता है कि जीवात्मा चैतन्य होने से चिद्रूप तो है; पर आनन्द रूप नहीं है ॥६६॥

**(३९४) दुःखनिवृत्तेर्गौणः ॥ ६७ ॥**

**सूत्रार्थ**— दुःखनिवृत्तेः = दुःख से निवृत्ति मिलने के कारण, गौण = जीवात्मा को आनन्द स्वरूप कहा जाना गौण है।

**व्याख्या**— वस्तुतः आनन्द स्वरूप केवल परमात्मा है, जीवात्मा नहीं। इसलिए मुक्ति अथवा आत्मसाक्षात्कार की अवस्था में जिस आनन्द की अनुभूति होती है, उसे गौण कहा गया है; क्योंकि वह वस्तुतः जीवात्मा का स्वभाव नहीं है, परमात्मा ही आनन्द स्वरूप है ॥६७॥

**(३९५) विमुक्तिप्रशंसा मन्दानाम् ॥ ६८ ॥**

**( ३९५ ) विमुक्तिप्रशंसा मन्दानाम्॥ ६८॥**

**सूत्रार्थ—** मन्दानाम्=अज्ञानियों अथवा मूर्खों के लिए, विमुक्तिप्रशंसा = मोक्ष की प्रशंसा मात्र है।

**व्याख्या—** आर्ष ग्रन्थों में मुक्त पुरुष की स्थिति की भूरि-भूरि प्रशंसा की गई है। कई जगह उसमें अत्युक्ति भी की गई है; ताकि उससे प्रभावित होकर विषयों में डूबे अज्ञानी जन भी मोक्ष प्राप्ति के प्रति उत्सुक हो सकें। (इसीलिए जीवात्मा के मोक्ष की स्थिति को आनन्द स्वरूप बताया है। वस्तुत: आनन्द का अनुभव मात्र मुक्तावस्था में होता है; क्योंकि जीवात्मा ईश्वर का सान्निध्य अनुभव करता है और ईश्वर आनन्द स्वरूप है। जीवात्मा तो केवल चैतन्य है॥ ६८॥

**अब मन के व्यापक होने का खण्डन किया जा रहा है-**

**( ३९६ ) न व्यापकत्त्वं मनसः करणत्वादिन्द्रियत्वाद्वा॥ ६९॥**

**सूत्रार्थ—** मनसः व्यापकत्त्वम् = मन का व्यापक होना, न = सिद्ध नहीं होता, करणत्वात् = करण होने से, वा = अथवा, इन्द्रियत्वात् = इन्द्रिय होने से।

**व्याख्या—** मन करण और इन्द्रिय दोनों है। कोई भी करण या इन्द्रिय विभु अथवा व्यापक नहीं होता। यदि करण या इन्द्रिय को व्यापक माना जाय, तो वह अपने कार्य अथवा विषय से सदैव सम्बद्ध रहेगी और तब वह कार्य अथवा विषय निरन्तर चलता रहेगा; किन्तु ऐसा होता नहीं। भोजन जैसे ही समाप्त होता है, तुरन्त उसकी क्रिया रुक जाती है। निरन्तर चलते रहने पर थकान आ जाती है, जिसके कारण भी रुकना पड़ता है। इस प्रकार करण अथवा इन्द्रियों के एक देशीय अथवा परिच्छिन्न होने के कारण तथा इनके कार्य को निरन्तर एक जैसा न मानने के कारण इन्हें व्यापक नहीं माना जा सकता। चूँकि मन भी एक इन्द्रिय है। अस्तु, इसे भी व्यापक नहीं माना जा सकता॥६९॥

**( ३९७ ) सक्रियत्वाद्गतिश्रुतेः॥ ७०॥**

**सूत्रार्थ—** गतिश्रुतेः = गति का प्रतिपादन करने वाली श्रुति से, सक्रियत्वात् = क्रियाशील होने के कारण भी (मन को व्यापक नहीं माना जा सकता)।

**व्यापक-** वेदों-शास्त्रों में मन की गति का प्रतिपादन किया गया है। मन देश-देशान्तर में भ्रमण करता रहता है। वेदों में इसके कई प्रमाण मिलते हैं। यथा- **यत्ते यमं वैवस्वतं मनो जगाम दूरकम्। .......यत्ते भूतं च भव्यं च मनो जगाम दूरकम्** (ऋ० १०.५८.१-१२) आदि अनेक श्रुति वाक्यों से मन के गतिमान् होने की पुष्टि होती है। जो गतिमान् अर्थात् सक्रिय है, वह व्यापक नहीं हो सकता। मन भी इन्हीं विशेषताओं से युक्त है, अत: उसे भी व्यापक मानना अनुचित है॥७०॥

**अब मन की अनित्यता को अगले सूत्रों में स्पष्ट किया जा रहा है-**

**( ३९८ ) न निर्भागत्वं तद्योगाद्घटवत्॥ ७१॥**

**सूत्रार्थ—** निर्भागत्वं = अवयव रहित होना, तद्योगात् = अवयवों के योग से, न = नहीं होता, घटवत् = घड़े के समान।

**व्याख्या—** जिस वस्तु में अवयव नहीं होते, वह नित्य और जिसमें अवयव होते हैं, उसे अनित्य अर्थात् नश्वर कहते हैं। जब कुछ तत्त्व मिल जाते हैं, तो वे ही आकार धारण करके अवयव रूप हो जाते हैं। जैसे-घट (पृथ्वी, जल, अग्नि आदि) अनेक तत्त्वों से मिलकर बना है। अत: वह नश्वर अर्थात् परिणामी है। तत्त्व ही मिलकर आगे परिणत हुआ करते हैं, इसलिए उन्हें परिणामी कहते हैं। चूँकि मन भी तीन गुणों सत्त्व, रज और तम के अवयवों वाला है अर्थात् सावयव है। अत: मन को भी नित्य नहीं कह सकते॥७१॥

**( ३९९ ) प्रकृतिपुरुषयोरन्यत्सर्वमनित्यम्॥ ७२॥**

**सूत्रार्थ**— प्रकृतिपुरुषयोः = प्रकृति और पुरुष से, अन्यत् = अन्य जो कुछ भी है, सर्वम् = वह सब कुछ, अनित्यम् = अनित्य है।

**व्याख्या**— चेतन-पुरुष जीवात्मा एवं परमात्मा तथा प्रकृति, जो जगत् का मूल उपादान कारण है, ये सभी नित्य अर्थात् शाश्वत् हैं, जो कभी नष्ट नहीं होते। इनके अतिरिक्त अन्य जो कुछ भी है, सब अनित्य अर्थात् नश्वर है॥७२॥

**( ४०० ) न भागलाभो भोगिनो निर्भागत्वश्रुतेः॥ ७३॥**

**सूत्रार्थ**— निर्भागत्वश्रुतेः = श्रुति (वेदों) में निर्भाग (अवयव रहित) बताये जाने से, भोगिनां = भोक्ता (पुरुष) और भोग्या (प्रकृति) का, भागलाभः = भाग वाला अर्थात् अवयवयुक्त होना, न = सिद्ध नहीं होता।

**व्याख्या**— भोक्ता (भोगने वाला) पुरुष और भोग्या (भोगी जाने वाली) प्रकृति इन दोनों को वेदों में अवयव रहित कहा गया है। यथा 'निरवयवं निराधारं निर्विकारं---(त्रि०म०ना० ७/७),' इस तथ्य के अनुसार पुरुष को निरवयव प्रतिपादित किया गया है, अभिप्राय यह है कि इसकी रचना किन्हीं अन्य तत्त्वों के संयोग से नहीं होती। अस्तु, पुरुष (ब्रह्म) सर्वथा अपरिणामी तत्त्व है। जिसे रचा नहीं जाता वह नित्य होता है। इसी प्रकार श्रुति में प्रकृति भी अवयवरहित निरूपित है। अस्तु, यह भी नित्य है। अतः इन दोनों का सावयव होना सिद्ध नहीं होता॥७३॥

**( ४०१ ) नानन्दाभिव्यक्तिर्मुक्तिर्निर्धर्मत्वात्॥ ७४॥**

**सूत्रार्थ**— निर्धर्मत्वात् = निर्धर्मत्व होने से, आनन्दाभिव्यक्तिः = आनन्द की अभिव्यक्ति, न = नहीं है, मुक्तिः = मुक्ति (मोक्ष)।

**व्याख्या**— चेतन स्वरूप होने के कारण आत्मा में कोई धर्म नहीं होता। इस कारण आत्मा में जिस आनन्द रूप धर्म की अभिव्यक्ति होती है, उसको मोक्ष नहीं कहा जा सकता; क्योंकि आत्मा सदैव नित्य और एक-सा है। अस्तु, उसमें कोई अन्य धर्म आदि प्रकट नहीं हो सकते॥७४॥

**( ४०२ ) न विशेषगुणोच्छित्तिस्तद्वत्॥ ७५॥**

**सूत्रार्थ**— विशेषगुणोच्छित्तिः = विशिष्ट गुणों का उच्छेद, तद्वत् = उसी प्रकार, न = मोक्ष नहीं कहा जा सकता।

**व्याख्या**— आत्मा के कुछ विशिष्ट गुणों के उच्छेद हो जाने को मुक्ति मानें, यह भी पूर्व वर्णन के समान उचित नहीं है। पूर्व में कहा जा चुका है कि दुःख-सुख से निवृत्ति को मोक्ष नहीं कहते; क्योंकि आत्मा चैतन्य स्वरूप है, उसमें कोई बाह्य गुण समाविष्ट नहीं हो सकते; क्योंकि सुख-दुःख, इच्छा, द्वेष आदि सत्त्व आदि त्रिगुण के परिणाम हैं। सत्त्व, रज और तम आदि गुण आत्मा के लिए तभी तक साधन उपलब्ध करा सकते हैं, जब तक वह बद्ध स्थिति में है; किन्तु जब उसे ज्ञान हो जाता है, तब इन गुणों के सम्पर्क में रहने पर भी उनसे प्रभावित नहीं होता। यही गुणों का उच्छेद होना है। कुछ आचार्यों ने इसे ही मुक्ति माना है; किन्तु आचार्य कपिल की दृष्टि से इसे मुक्ति नहीं कहा जा सकता। पहला कारण यह है कि जो गुण अपने स्वरूप में अवस्थित है, उसका उच्छेद नहीं हो सकता। दूसरा कारण यह कि आत्मा का वह स्वरूप नहीं है, आत्मा गुणों से सम्पर्क की स्थिति में भी गुणातीत है। इसलिए गुणों में से किसी विशेष गुण का कार्य न करने को आत्मा का मोक्ष नहीं कहा जा सकता॥७५॥

**( ४०३ ) न विशेषगतिर्निष्क्रियस्य॥ ७६ ॥**

**सूत्रार्थ—** निष्क्रियस्य = निष्क्रिय आत्मा की, विशेष गति: = विशेषगति, न = नहीं है (मोक्ष)।

**व्याख्या—** जब क्रिया रहित अथवा निष्क्रिय आत्मा किसी विशिष्ट गति को पाकर अर्थात् आत्मज्ञान प्राप्त करके जीवन्मुक्त हो जाता है,तो इस स्थिति को भी मोक्ष कहना उचित नहीं है। कारण यह है कि मोक्ष की स्थिति में आत्मा सूक्ष्म शरीर सम्पन्न भी नहीं रहता, इसलिए वह गतिहीन हो जाता है। इससे स्पष्ट है कि जहाँ आत्मा को गतिशील कहा जाता है,वहाँ उसके मोक्ष प्राप्त करने की सिद्धि नहीं होती॥ ७६ ॥

**( ४०४ ) नाकारोपरागोच्छित्तिः क्षणिकत्वादिदोषात्॥ ७७॥**

**सूत्रार्थ—** क्षणिकत्वादिदोषात् = क्षणिक आदि दोष के कारण, आकारोपरागोच्छित्ति: = आकार रूप उपराग का उच्छेद, न = मोक्ष नहीं हो सकता।

**व्याख्या—** बाह्य विषयों के आकार की वासना अर्थात् विषय वासना के विनष्ट होने को भी मोक्ष नहीं मान सकते; क्योंकि विषयों की वासना नश्वर और क्षणिक है। एक वासना के नष्ट होते ही दूसरी वासना आती और विनष्ट होती रहती है। ऐसी स्थिति में उन वासनाओं के नष्ट होने को ही मोक्ष कैसे माना जा सकता है? जो वासना आज चली गई, कल फिर भी दुबारा आ सकती है। अस्तु, इस क्रम को भी मोक्ष नहीं माना जा सकता ॥७७ ॥

**( ४०५ ) न सर्वोच्छित्तिरपुरुषार्थत्वादिदोषात्॥ ७८ ॥**

**सूत्रार्थ—** सर्वोच्छिति: = सबका उच्छेद (सबका नष्ट होना), अपुरुषार्थत्वादि दोषात् = अपुरुषार्थत्व आदि दोष से, न = मोक्ष नहीं कहा जा सकता।

**व्याख्या—** यदि यह माना जाय कि चेतन और अचेतन अर्थात् आत्मा और अनात्मा का विनाश हो जाता है, तो सबके नष्ट हो जाने से पुरुषार्थ भी नहीं रहेगा; क्योंकि ऐसा देखा जाता है कि आत्मा निकल जाने के बाद शरीर में पुरुषार्थ नहीं रहता। चूँकि पुरुषार्थ (पुरुषार्थचतुष्टय-धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) के अन्तर्गत ही मोक्ष है। अत: पुरुषार्थ ही नहीं, तो मोक्ष कैसे होगा? ॥७८ ॥

**( ४०६ ) एवं शून्यमपि॥ ७९ ॥**

**सूत्रार्थ—** एवम् = इसी प्रकार, शून्यम् = शून्यवाद में, अपि = भी।

**व्याख्या—** यदि ऐसा मानें कि शून्यवाद के अनुसार (अर्थात् आत्मा के नष्ट हो जाने पर) मुक्ति है, तो यह भी सम्भव नहीं है; क्योंकि आत्मा न रहेगी; तो शरीर से पुरुषार्थ न होगा और पुरुषार्थ के बिना मोक्ष नहीं हो सकता (अथवा पुरुषार्थ के अन्तर्गत ही मोक्ष है)॥ ७९ ॥

**( ४०७ ) संयोगाश्च वियोगान्ता इति न देशादिलाभोऽपि॥ ८० ॥**

**सूत्रार्थ—** संयोगा: = संयोग, च = और, वियोगान्ता = वियोगान्तक होने से, इति = यह, देशादि लाभ: = देश आदि (देश, स्थान, घर, स्त्री आदि) लाभ, अपि = भी, न = मोक्ष नहीं है।

**व्याख्या—** देश लाभ आदि अर्थात् देश (स्थान) घर, स्त्री, ऐश्वर्य आदि संयोग और वियोगान्त हैं, अर्थात् संसार के जो भी पदार्थ और स्थल आदि हैं, वे मिलने के उपरान्त बिछुड़ने वाले हैं। संयोगान्तक और वियोगान्तक होने से इनकी प्राप्ति को भी मोक्ष नहीं कहा जा सकता॥८०॥

**( ४०८ ) न भागियोगो भागस्य॥ ८१ ॥**

**सूत्रार्थ—** भागस्य = हिस्से (अंश) का, भागियोग: = अंशी के साथ संयोग, न = मोक्ष नहीं है।

**व्याख्या—** जीवात्मा को ईश्वर का अंश तथा ईश्वर को अंशी कहा जाता है। ऐसी स्थिति में अंश

(जीवात्मा) का अंशी (परमात्मा) में लीन हो जाना मोक्ष नहीं है। कारण यह है कि अंश का अंशी में यदि संयोग है तो इनका कभी न कभी वियोग होना भी सुनिश्चित है। इस प्रकार यह संयोग नित्य नहीं है। अस्तु, इस अनित्यता के कारण मोक्ष की स्थिति सम्भव नहीं है॥८१॥

**(४०९) नाणिमादियोगोऽप्यवश्यंभावित्वात्तदुच्छित्तेरितरयोगवत्॥८२॥**

**सूत्रार्थ—** अणिमादि योगः = अणिमा आदि- सिद्धियों का योग (प्राप्ति) भी, इतरयोगवत्=अन्य ऐश्वर्यों के संयोग के समान, तदुच्छितेः = उस (अणिमा आदि) के उच्छेद से, अवश्यंभावित्वात्=सुनिश्चत रूप से होने वाला होने से, अपि=भी, न=मोक्ष नहीं कहा जा सकता।

**व्याख्या—** अणिमा, लघिमा, गरिमा, महिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व और वशित्व ये अष्ट सिद्धियाँ मानी गई हैं। जिस प्रकार अन्य ऐश्वर्यों का संयोग अन्ततः नश्वर है, उसी प्रकार इन सिद्धियों के संयोग का विनाश अर्थात् वियोग भी अवश्यम्भावी है। अतः इनकी प्राप्ति को भी मोक्ष नहीं माना जा सकता॥ ८२॥

**(४१०) नेन्द्रादिपदयोगोऽपि तद्वत्॥८३॥**

**सूत्रार्थ—** इन्द्रादिपद योगः = इन्द्र आदि पदों की प्राप्ति, अपि = भी, तद्वत् = उसी (पूर्व में वर्णित) प्रकार, न = मोक्ष नहीं है।

**व्याख्या—** इन्द्र आदि देवों के पद प्राप्त करने को यदि मोक्ष मानें, तो वह भी युक्ति संगत नहीं; क्योंकि ये पद भी स्थाई नहीं हैं; अर्थात् सत्कर्मफल भोग के निमित्त स्वर्ग आदि प्राप्त होते हैं। उनके (कर्मफल के) समाप्त होते ही पुनः मर्त्यलोक में आना होता है। अतः इन इन्द्रादि पदों की प्राप्ति को भी मोक्ष नहीं माना जा सकता॥ ८३॥

**(४११) न भूतप्रकृतित्वमिन्द्रियाणामाहंकारिकत्वश्रुतेः॥८४॥**

**सूत्रार्थ—** इन्द्रियाणाम् = इन्द्रियों के, आहंकारिकत्व = आहंकारिक होने में, श्रुतेः = श्रुति प्रमाण से, भूतप्रकृतित्वम् = इन्द्रियों का भौतिक होना, न = सिद्ध नहीं होता।

**व्याख्या—** इन्द्रियों की उत्पत्ति अहंकार से हुई है (अतः इन्द्रियाँ आहंकारिक हैं)। अतएव पृथ्वी आकाश आदि पञ्चतत्त्व- पञ्चभूत इनके उपादान कारण नहीं हैं। यह तथ्य श्रुति प्रमाण (**एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च**-मुण्डक० २.१३) से भी सिद्ध है तथा पूर्व में (सांख्य दर्शन २.२० में) भी इसी का प्रतिपादन है। अस्तु, इन्द्रियाँ पंचभूतों से उत्पन्न नहीं हैं॥ ८४॥

**(४१२) न षट्पदार्थनियमस्तद्बोधान्मुक्तिः॥८५॥**

**सूत्रार्थ—** षट्पदार्थनियमः = षट् पदार्थ का नियम तथा, तद्बोधात्=उनके बोध से, न मुक्तिः = मोक्ष नहीं होता।

**व्याख्या—** वैशेषिक दर्शन षट्पदार्थ (छः पदार्थ- 'द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय') मानता है, वह इन्हीं के सम्यक् ज्ञान को मोक्ष कहता है; किन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं है; क्योंकि 'द्रव्य' के अन्तर्गत जो ९ विभाग किये गये हैं, उनमें पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन हैं। अतः इनके बोध को मुक्ति नहीं माना जा सकता। सांख्य दर्शन में तो प्रकृति और पुरुष इन दो के विवेक को ही मोक्ष माना गया है। अस्तु, छः पदार्थों के ज्ञान को मुक्ति नहीं माना जा सकता॥८५॥

**(४१३) षोडशादिष्वप्येवम्॥८६॥**

**सूत्रार्थ—** एवम्=इसी प्रकार, षोडशादिषु=सोलह आदि पदार्थों के ज्ञान से,अपि = भी, (मोक्ष की

**व्याख्या—** न्याय दर्शन में सोलह पदार्थों (प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रह स्थान) के ज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति वर्णित है; किन्तु यह भी उचित नहीं है। सांख्य दर्शन में तो केवल प्रकृति और पुरुष ये दो ही तत्त्व मान्य हैं, इन्हीं के विवेक से मुक्ति सम्भव है॥८६॥

**(४१४) नाणुनित्यता तत्कार्यत्वश्रुतेः॥ ८७॥**

**सूत्रार्थ—** अणु = अणु की, नित्यता = नित्यता (नित्य होना), तत्कार्यत्व = उसके कार्यरूप होने से सम्बन्धित, श्रुतेः = श्रुति होने से, न = सिद्धि नहीं होती।

**व्याख्या—** अणु के कार्यरूप होने से श्रुति में अणु की अनित्यता प्रतिपादित है अथवा प्राचीनकाल से ही विद्वज्जनों द्वारा यह तथ्य सुना जाता रहा है। पृथ्वी आदि तत्त्वों के सूक्ष्म कण जिनमें पृथ्वीत्व विद्यमान है, सुनिश्चित रूप से संघात होने के कारण अनित्य हैं। महाराज मनु ने भी '**अण्व्यो मात्रा विनाशिन्यः** (मनु०१.२७)'कहकर पृथ्वी आदि अणु तत्त्वों का विनाशशील होना प्रतिपादित किया है॥८७॥

**(४१५) न निर्भागत्वं कार्यत्वात्॥ ८८॥**

**सूत्रार्थ—** कार्यत्वात् = कार्यत्व होने से, निर्भागत्वम् = भाग रहित होना, न = सिद्ध नहीं होता।

**व्याख्या—** अणु को कार्य माना गया है, अतः वह कारण नहीं है। न्याय दर्शन में परमाणुओं को व्यक्त (सावयव) माना गया है इसलिए इन्हें नित्य नहीं माना जा सकता। ये नाशवान् हैं। अस्तु, इनका अवयव रहित (भाग रहित) होना सिद्ध नहीं होता॥८८॥

**(४१६) न रूपनिबंधनात् प्रत्यक्षनियमः॥ ८९॥**

**सूत्रार्थ—** रूपनिबन्धनात् = रूप के निबन्धन (निमित्त) से, प्रत्यक्ष नियमः = प्रत्यक्ष का नियम, न= नहीं है।

**व्याख्या—** यदि ऐसा माना जाय कि रूप के निमित्त होने से ही प्रत्यक्ष होता है,तो ऐसी बात नहीं है। स्थूल द्रव्य का दर्शन बाह्यतः होता है और सूक्ष्म का अनुभव स्पर्श आदि से होता है। वायु प्रत्यक्षतः नेत्रों द्वारा न दीखने पर भी अनुभव में आता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि रूप से प्रत्यक्ष होना आवश्यक नहीं॥

**(४१७) न परिमाणचातुर्विध्यं द्वाभ्यां तद्योगात्॥ ९०॥**

**सूत्रार्थ—** तत् = उन, द्वाभ्याम् = दोनों के, योगात् = योग से, परिमाणचातुर्विध्यम् = परिमाण चार प्रकार का, न = नहीं होता।

**व्याख्या—** वैशेषिक दर्शन में परिमाण के-अणु, महत्, ह्रस्व और दीर्घ ये चार प्रकार माने गये हैं। सूत्रकार का कहना है कि जब दो प्रकार के परिमाणों, अणु और महत् से कार्य हो सकता है, तब चार परिमाण मानने की क्या आवश्यकता है? कारण यह है कि ह्रस्व और दीर्घ का समाहार तो अणु और महत् में ही हो जाता है, फिर अलग से इन्हें मानना युक्ति संगत नहीं है। यदि ऐसा न मानें, तो फिर असंख्य परिमाण मानने होंगे, फिर कई कठिनाइयाँ होंगी और उन परिमाणों की गणना भी कठिन होगी॥९०॥

**(४१८) अनित्यत्वेऽपि स्थिरतायोगात् प्रत्यभिज्ञानं सामान्यस्य॥ ९१॥**

**सूत्रार्थ—** अनित्यत्वे = नाशवान् होने में, अपि = भी, स्थिरतायोगात् = स्थिरत्व के योग से, सामान्यस्य = सामान्य का, प्रत्यभिज्ञानम् = प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त होता है।

**व्याख्या—** अनित्य होते हुए भी स्थिरतावश सामान्यता का ज्ञान होता है। संसार में जो भी वस्तु उत्पन्न हुई है वह एक दिन नष्ट अवश्य होगी; किन्तु फिर भी वह संसार में कुछ समय तक स्थिर रहती है

और उसके सामान्य धर्म के अनुरूप अर्थात् जिस रूप की वह है, उसी रूप में रहती भी है। इस सामान्य धर्म के कारण वह प्रत्यक्षत: दृष्टिगोचर (प्रत्यभिज्ञान) होती है॥९१॥

**( ४१९ ) न तदपलापस्तस्मात्॥ ९२॥**

**सूत्रार्थ—** तस्मात् = उससे, तत् = उसका, अपलाप: = मिथ्या प्रलाप या झूठ कथन, न = नहीं माना जा सकता।

**व्याख्या—** सामान्य धर्म का प्रत्यक्ष ज्ञान होने से उसका अपलाप अर्थात् मिथ्या कथन नहीं हो सकता। जैसे-मनुष्य का रूप अन्य सभी शरीरधारियों से भिन्न है, इसी प्रकार गाय के रूप का अन्य कोई पशु आदि नहीं हो सकता। इस प्रकार जिस रूप-रंग का जो प्राणी है, वही उसका सामान्य धर्म कहलायेगा॥९२॥

**( ४२० ) नान्यनिवृत्तिरूपत्वं भावप्रतीते:॥ ९३॥**

**सूत्रार्थ—** भावप्रतीते: = भाव की प्रतीति होने से, अन्य निवृत्ति रूपत्वम् = अन्य का निवृत्ति स्वरूप होना, न = सिद्ध नहीं होता।

**व्याख्या—** भाव की प्रतीति से अन्य की निवृत्ति ही सामान्य का रूप नहीं है। तात्पर्य यह है कि 'भाव की प्रतीति' जैसे-यह घट है, इसे कल मैंने देखा था। यह प्रतीति तभी सम्भव है कि यह कल वाला ही घड़ा है, जब उस पूर्व दृष्ट घड़े का रूप, रंग, लक्षण सभी ज्यों के त्यों बने रहें। यह सामान्य भाव की प्रतीति है। इसकी पहिचान कि यह कल वाला ही घड़ा है, अन्य रूप वाली वस्तुओं जैसे वस्त्र, रस्सी आदि से नहीं हो सकती॥९३॥

**( ४२१ ) न तत्त्वान्तरं सादृश्यं प्रत्यक्षोपलब्धे:॥ ९४॥**

**सूत्रार्थ--** प्रत्यक्षोपलब्धे: = प्रत्यक्ष उपलब्धि होने से, सादृश्यम् = सादृश्य (समानता)में, तत्त्वान्तरम् = तत्त्वान्तर, न = नहीं है।

**व्याख्या—** सामान्य और सादृश्य में कोई तात्त्विक अन्तर नहीं, वरन् दोनों एक ही हैं। उदाहरणार्थ जो घड़ा कल देखा गया था, वही आज समक्ष विद्यमान है, इसी कारण उसके सामान्य लक्षण को ही सादृश्य कह सकते हैं। सादृश्य अलग से कुछ भी नहीं है॥९४॥

**( ४२२ ) निजशक्त्यभिव्यक्तिर्वा वैशिष्ट्यात्तदुपलब्धे:॥ ९५॥**

**सूत्रार्थ—** वा = अथवा, निजशक्ति-अभिव्यक्ति: = स्वाभाविक शक्ति की अभिव्यक्ति अथवा प्राकट्य, वैशिष्ट्यात् = असाधारण होने से, तदुपलब्धे: = उसकी उपलब्धि होती है।

**व्याख्या—** इस सूत्र में सूत्रकार ने सादृश्य को स्वाभाविक शक्ति की अभिव्यक्ति कहा है। जिस-जिस पदार्थ की जो-जो शक्ति है, वह उसका सामान्य धर्म है। उसकी अपनी विशेषता के कारण ही सामान्य धर्म प्रकट हो सकता है। इस प्रकार सामान्य और सादृश्य एक ही है॥९५॥

**( ४२३ ) न संज्ञासंज्ञिसम्बन्धोऽपि॥ ९६॥**

**सूत्रार्थ—** संज्ञासंज्ञिसम्बन्ध: = संज्ञा और संज्ञी का सम्बन्ध, अपि=भी, न=नहीं है (अर्थात् सादृश्य नहीं है)।

**व्याख्या—** शब्द और अर्थ का सम्बन्ध, संज्ञा और संज्ञी का सम्बन्ध कहलाता है। जो पुरुष किन्हीं दो वस्तुओं की संज्ञा (नाम) को नहीं जानता, वह भी उन दोनों वस्तुओं के अन्तर अर्थात् 'यह अलग-अलग है' या 'एक सी है' यह जान लेता है। इस प्रकार संज्ञा-संज्ञी के सम्बन्ध और सादृश्य ज्ञान के एक होने की बात सिद्ध नहीं होती॥९६॥

**( ४२४ ) न सम्बन्धनित्यतोभयानित्यत्वात्॥ ९७॥**

**सूत्रार्थ**— उभयानित्यत्वात् = दोनों के अनित्य होने से, सम्बन्धनित्यता = सम्बन्ध की नित्यता, न = सिद्ध नहीं होती।

**व्याख्या**— चूँकि संज्ञा और संज्ञि दोनों ही नश्वर अर्थात् अनित्य हैं, अतः इनके सम्बन्ध को भी नित्य नहीं माना जा सकता॥९७॥

**( ४२५ ) नाजः सम्बन्धो धर्मिग्राहकप्रमाणबाधात्॥ ९८॥**

**सूत्रार्थ**— धर्मिग्राहकप्रमाणबाधात् = धर्मी होने का प्रमाण न होने के कारण, सम्बन्धः = सम्बन्ध, अजः = जन्म न लेने वाला और न अन्त वाला, न = नहीं होता।

**व्याख्या**— किसी धर्मी अर्थात् संज्ञी का सम्बन्ध अनादि हो, ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिलता। जो रूपवान् है, वह नित्य नहीं हो सकता। पृथ्वी, आकाश और काल आदि सभी अनित्य हैं। जो पदार्थ नित्य हैं, उनका कभी भाग नहीं हो सकता। जो पृथक्-पृथक् होंगे, उन्हीं का सम्बन्ध होना सम्भव है। इसे इस प्रकार भी समझा जा सकता है कि संज्ञी वस्तु के ग्राहक होने का अर्थात् किसी वस्तु की एक ही संज्ञा होने का कोई प्रमाण नहीं मिलता। जब आवश्यकता समझें, तब चाहे जिस पदार्थ का चाहे जो नाम (संज्ञा) रख सकते हैं, तब शब्द और अर्थ अर्थात् संज्ञा और संज्ञी में नित्य सम्बन्ध कहाँ रह सका?॥९८॥

**यदि यह माना जाय कि न्यायशास्त्र में वर्णित समवाय सम्बन्ध तो नित्य है, तो इसका उत्तर अगले सूत्र में देते हुए सूत्रकार कहता है-**

**( ४२६ ) न समवायोऽस्ति प्रमाणाभावात्॥ ९९॥**

**सूत्रार्थ**— प्रमाणाभावात् = प्रमाण के अभाव में, समवायः = समवाय, न = नहीं, अस्ति = है।

**व्याख्या**— यदि समवाय सम्बन्ध को नित्य मानें, तो समवाय नामक किसी सम्बन्ध का प्रमाण नहीं मिलता। वैशेषिक दर्शन में-- द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय ये छः पदार्थ माने गये हैं; किन्तु सांख्य दर्शन में ऐसी मान्यता नहीं है। अस्तु, इन्हें नित्य नहीं माना जा सकता ॥९९॥

**यदि यह कहें कि प्रमाण नहीं हैं, प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण तो होते हैं, तो इसका उत्तर देते हुए आगे कहता है-**

**( ४२७ ) उभयत्राप्यन्यथासिद्धेर्न प्रत्यक्षमनुमानं वा ॥ १००॥**

**सूत्रार्थ**— वा = अथवा, उभयत्रापि = दोनों में भी, अन्यथा = समवाय के अभाव में, **सिद्धेः** = सिद्धि है इसलिए, प्रत्यक्षम् = प्रत्यक्ष एवं, अनुमानम् = अनुमान, न = नहीं हो सकता।

**व्याख्या**— प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण इसलिए नहीं(नित्य) माने जा सकते; क्योंकि दोनों की अन्यथा (समवाय के बिना ही)सिद्ध होती है। न्याय और वैशेषिक दर्शन में जिसे समवाय सम्बन्ध कहा गया है, सांख्य दर्शन में उसी को स्वरूप सम्बन्ध माना गया है, इसलिए यहाँ समवाय सम्बन्ध को स्वीकार नहीं किया जा सकता। घट रक्तवर्ण का है यह बात स्वरूप से ही सिद्ध हो जाती है, तो समवाय सम्बन्ध के प्रत्यक्ष और अनुमान रूप जो प्रमाण हैं, उनके प्रयोग की क्या आवश्यकता है?॥१००॥

**( ४२८ ) नानुमेयत्वमेव क्रियायानेदिष्ठस्य तत्तद्वतोरेवापरोक्षप्रतीतेः॥ १०१॥**

**सूत्रार्थ**— नेदिष्ठस्य = निकट वाले पुरुष को, अपरोक्षप्रतीतेः = अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) की प्रतीति से, तत्तद्वतोरेव = क्रिया और क्रियावान् दोनों की ही, क्रियायाः = क्रिया का, अनुमेयत्वम् = अनुमान से ही ज्ञान नहीं होता है।

**व्याख्या**— क्रिया को केवल अनुमेय अर्थात् अनुमान से ही ज्ञात होने वाली नहीं मानना चाहिए;

क्योंकि अति निकटस्थ व्यक्ति की क्रिया और उसके आधार का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। अतः स्पष्ट है कि क्रिया अनुमान से ही नहीं जानी जाती, उसे प्रत्यक्षतः देखा भी जा सकता है। जैसे- कोई भोजन कर रहा है, कोई गाड़ी चल रही है, यह क्रिया प्रत्यक्ष देखी जाती है। अस्तु, क्रिया प्रत्यक्ष प्रमाण से ही सिद्ध है, तो अनुमान प्रमाण की इसमें क्या आवश्यकता है?॥१०१॥

**( ४२९ ) न पाञ्चभौतिकं शरीरं बहूनामुपादानायोगात्॥ १०२॥**

**सूत्रार्थ**— बहूनाम् = बहुतों (विजातीय तत्त्वों) के, उपादानअयोगात् = उपादान योग न होने से, शरीरम् = शरीर, पाञ्चभौतिकम्=पंचभूतों से निर्मित, न = नहीं है।

**व्याख्या**— इस सूत्र में सूत्रकार उनके मत का खण्डन करते हैं, जो शरीर को पञ्च तत्त्वों से बना हुआ मानते हैं। सूत्रकार का मानना है कि बहुत से अलग-अलग पदार्थों अथवा विजातीय तत्त्वों से कोई वस्तु नहीं बन सकती, कारण यह है कि किसी भी वस्तु के उत्पादन में उसके उपादान तत्त्व सजातीय होने चाहिए।

शरीर में जिन तत्त्वों को लगा माना जाता है, वे पृथ्वी, अग्नि, जल, वायु और आकाश एक जाति के नहीं हैं। अतः यह शरीर पाञ्चभौतिक नहीं हो सकता॥१०२॥

**( ४३० ) न स्थूलमिति नियम आतिवाहिकस्यापि विद्यमानत्वात्॥ १०३॥**

**सूत्रार्थ**— आतिवाहिकस्य अपि = आतिवाहिक (सूक्ष्म) शरीर के भी, विद्यमानत्वात् = विद्यमान होने से, स्थूलम् = स्थूल शरीर होने का, इति = ऐसा, न नियमः = नियम नहीं है।

**व्याख्या**— यह भी कहना युक्तिसंगत नहीं है कि स्थूल शरीर के अतिरिक्त अन्य कोई शरीर नहीं है। क्योंकि एक स्थूल शरीर से दूसरे शरीर तक ले जाने वाला आतिवाहिक शरीर अर्थात् सूक्ष्म शरीर भी तो विद्यमान है। अतः यह मानना ठीक नहीं है कि पाञ्च भौतिक (स्थूल) शरीर ही होता है। जबकि १७ सूक्ष्म तत्त्वों से निर्मित सूक्ष्म शरीर भी तो होता है॥१०३॥

**( ४३१ ) नाप्राप्तप्रकाशकत्वमिन्द्रियाणामप्राप्तेः सर्वप्राप्तेर्वा॥ १०४॥**

**सूत्रार्थ**— अप्राप्तेः = प्राप्ति के अभाव में, सर्वप्राप्तेः = सब प्राप्त होने के प्रसङ्ग से, इन्द्रियाणाम् = इन्द्रियों का, अप्राप्त प्रकाशकत्वम् = जो प्राप्त नहीं हुआ, उसे प्रकाशित करना, न = शक्य नहीं है।

**व्याख्या**— इन्द्रियों से बिना प्राप्त (बिना सम्बन्ध जुड़े) उनमें प्रकाशकत्व की शक्ति नहीं है, साथ ही सर्व प्राप्ति का भी अभाव है। तात्पर्य यह है कि किसी भी विषय की प्राप्ति के बिना उसका ज्ञान नहीं हो सकता, यदि ऐसा हो सकता तो संसार की समस्त वस्तुओं को उनके उत्पन्न होने से पूर्व ही देख लिया गया होता, किन्तु ऐसा नहीं होता।

इससे स्पष्ट है कि जो वस्तु अप्रकट है, उसे दिखाने में नेत्र इन्द्रिय समर्थ नहीं हो सकती। अस्तु, इन्द्रियाँ अप्राप्त (पदार्थों के बिना सम्पर्क में आये ) प्रकाशक नहीं हैं॥१०४॥

**( ४३२ ) न तेजोऽपसर्पणात् तैजसं चक्षुर्वृत्तितस्तत्सिद्धेः॥ १०५॥**

**सूत्रार्थ**— तेजोऽपसर्पणात् = तेज के अपसर्पण अर्थात् दूर तक पहुँचने से, चक्षुः = नेत्रेन्द्रिय, न तैजसम् = तैजस नहीं है, वृत्तितः तत्सिद्धेः = उसकी सिद्धि वृत्ति से होती है।

**व्याख्या**— नेत्र के गोलक क्षेत्र से विषय प्रदेश तक तेज के अपसर्पण करने (सरकने या पहुँचने) के कारण नेत्रेन्द्रिय को तैजस कहना तर्क सङ्गत नहीं है; क्योंकि तेज का ग्रहण इन्द्रिय वृत्ति से होता है न कि स्वयं इन्द्रिय के विषय प्रदेश तक जाने से। अतः नेत्र इन्द्रिय को तैजस नहीं माना जा सकता॥१०५॥

**( ४३३ ) प्राप्तार्थप्रकाशलिंगाद्वृत्तिसिद्धिः ॥ १०६ ॥**

**सूत्रार्थ—** प्राप्तार्थप्रकाशलिङ्गात् = प्राप्त विषय को प्रकट (प्रकाशित) करने के चिह्न (लक्षण) से, वृत्तिसिद्धिः = वृत्ति होने की सिद्धि होती है।

**व्याख्या—** जो विषय अप्राप्त हैं, उन्हें इन्द्रियाँ नहीं बतातीं; किन्तु जो विषय प्राप्त हैं अर्थात् जो दृश्य सामने दिखाई पड़ रहे हैं, नेत्रेन्द्रिय उन्हीं को प्रकाशित करती है। इन्द्रिय अपने स्थान पर बनी रहे और समक्ष आये पदार्थ को प्रकाशित भी करे (दिखाये)। यह तभी सम्भव है, जब इन्द्रिय के अतिरिक्त वृत्ति भी कोई पदार्थ हो। अस्तु, वृत्ति का होना सिद्ध ही है। लगता है कि प्राप्त विषय को ग्रहण करना ही वृत्ति है। आगे इसको और स्पष्ट किया गया है॥१०६॥

**( ४३४ ) भागगुणाभ्यां तत्त्वान्तरं वृत्तिःसम्बन्धार्थं सर्पतीति॥ १०७॥**

**सूत्रार्थ—** भागगुणाभ्याम् = भाग और गुण से, तत्त्वान्तरम् = पृथक् तत्त्व, वृत्तिः सम्बन्धार्थम्=वृत्ति के सम्बन्ध के निमित्त, सर्पतीति=सरकते हैं या पहुँचते हैं।

**व्याख्या—** वृत्ति को इन्द्रिय का अंश (भाग) और गुण भी नहीं माना जा सकता; क्योंकि वह तो एक दूसरा ही तत्त्व है। जैसे नेत्र इन्द्रिय को ही लें, तो चक्षु की वृत्ति को उसका (नेत्र का) भाग (चिनगारी की तरह) इसलिए नहीं मान सकते कि चिनगारी तो अग्नि से स्वतः निकलकर बाहर चली जाती है; किन्तु वह अग्नि से किसी पदार्थ का सम्बन्ध नहीं करा पाती। इसी प्रकार यदि चक्षु की वृत्ति नेत्र से निकलकर किसी विषय पर पहुँच जाये, तो वह सम्बन्ध 'वृत्ति और विषय' का होगा; पर सम्बन्ध नेत्र और विषय का होता है। अस्तु, स्पष्ट है कि विषय वृत्ति चिनगारी की तरह नहीं है। यदि यह मानें कि रूप आदि की तरह वृत्ति चक्षु इन्द्रिय का गुण है, तो यह भी उचित नहीं है; क्योंकि चक्षु का गुण आँख से निकलकर बाहर नहीं जा सकता और कोई गुण अपने पदार्थ को छोड़ भी नहीं सकता; किन्तु वृत्ति विषय तक अवश्य पहुँचती है। अतः यह भी प्रकट है कि वृत्ति कोई गुण भी नहीं है। यदि वृत्ति भाग और गुण भी नहीं है, तो फिर उसे क्या माना जाय? इसके उत्तर में प्रसिद्ध भाष्यकार पं० तुलसीराम स्वामी का मानना है कि नेत्र आदि इन्द्रियों का अति सूक्ष्म परिणाम जो अहंकार का कार्य है, ऐसे ही किसी पदार्थ को वृत्ति समझा जाय॥१०७॥

**( ४३५ ) न द्रव्यनियमस्तद्योगात् ॥ १०८॥**

**सूत्रार्थ—** तद्योगात् = उसके योग (सम्बन्ध) होने से, द्रव्यनियमः = द्रव्य होने का नियम, न = नहीं हो सकता।

**व्याख्या—** द्रव्य में ही क्रिया होने का नियम नहीं है, फिर सांख्य दर्शन में वैशेषिक की तरह नौ द्रव्य भी नहीं माने जाते। इसलिए यदि यह कहा जाय कि वृत्ति (क्रिया) में योग होने से वृत्ति द्रव्य होगी, तो यह भी उचित नहीं है। जब वृत्ति में क्रिया की प्रतीति होती है,तो उसे क्रिया मानना ही उचित लगता है॥

**( ४३६ ) न देशभेदेऽप्यन्योपादानताऽस्मदादिवन्नियमः॥ १०९॥**

**सूत्रार्थ—** देशभेदेअपि = देश भेद होने पर भी, अन्योपादानता = अन्य उपादान का, अस्मदादिवत् = हम भू-लोक वालों की तरह,न नियमः = नियम नहीं है।

**व्याख्या—** जिस प्रकार हम पृथ्वी लोक में निवास करने वाले मानव इन्द्रियों को अहंकार से उद्भूत मानते हैं, उसी प्रकार अन्य समस्त लोकों में भी मानते हैं। देश भेद होने पर भी इन्द्रियों को किसी अन्य पदार्थ से उत्पन्न नहीं माना जाता। अस्तु, देश भेद से भी इन्द्रियों के कारण के सन्दर्भ में कोई अन्तर नहीं आता॥१०९॥

**( ४३७ ) निमित्तव्यपदेशात्तद्व्यपदेशः ॥ ११० ॥**

**सूत्रार्थ—** निमित्तव्यपदेशात्=निमित्त का कथन करने से, तद्व्यपदेशः = वैसा ही कहा जाता है।

**व्याख्या—** कभी-कभी ऐसा होता है कि किसी निमित्त का प्राधान्य प्रकट करने हेतु उपादानता का ही कथन किया जाता है। जैसे किसी का अंग उष्ण लोहे से जल जाये, तो कहा जाता है कि लोहे से अंग (शरीर का कोई अवयव) जल गया है, जबकि लोहे में जलाने की सामर्थ्य नहीं होती। वह तो अग्नि का कार्य है; किन्तु यहाँ लोहा प्रत्यक्षतः जलाने का निमित्त बन गया है (.क्योंकि लोहा अग्नि सान्निध्य से गर्म हो गया है)।

अतः उसी को जलाने वाला मान लिया गया है। इसी प्रकार वस्तुतः इन्द्रियाँ भौतिक नहीं हैं; किन्तु निमित्त रूप होने के कारण उन्हें भौतिक कह दिया गया है ॥११०॥

**( ४३८ ) ऊष्मजाण्डजजरायुजोद्भिज्जसांकल्पिक सांसिद्धिकं चेति न नियमः ॥**

**सूत्रार्थ—** ऊष्मजाण्डज जरायुजोद्भिज्जसांकल्पिकसांसिद्धिकम्=ऊष्मज(गर्मी से उत्पन्न),अण्डज (अण्डों से उत्पन्न), जरायुज = जरायु (गर्भ की झिल्ली) से उत्पन्न मनुष्य, पशु आदि, उद्भिज्ज = वृक्ष लता आदि, सांकल्पिक = संकल्प से उत्पन्न, सांसिद्धिकम् = सिद्धि से योगीजनों द्वारा नया शरीर धारण कर लेने जैसा, च = और, (इससे भिन्न) न नियमः = नियम नहीं है।

**व्याख्या—** देहधारियों के छः प्रकार हैं १. ऊष्मज अर्थात् ऊष्मा (गर्मी) से उत्पन्न होने वाले जैसे- कीड़े, मच्छर, डाँस आदि, २. अण्डज अर्थात् अण्डों से उत्पन्न चींटी, पक्षी, सर्प आदि, ३. जरायुज अर्थात् जरायु (झिल्ली) से उत्पन्न मनुष्य, पशु आदि ४. उद्भिज्ज अर्थात् वृक्ष, लताएँ आदि, ५. सांकल्पिक अर्थात् सृष्टि के आदि में ही संकल्प मात्र से उत्पन्न हुए ऋषि आदि तथा ६. सांसिद्धिक अर्थात् सिद्धि प्राप्त योगीजनों द्वारा स्वेच्छा से देह धारण करने की स्थिति आदि।

इस प्रकार इन छः देह धारियों के वर्ग में ही सभी समाहित हो जाते हैं, सम्भवतः इनके अतिरिक्त और भी कोई वर्ग हों॥१११॥

**( ४३९ ) सर्वेषु पृथिव्युपादानमसाधारण्यात्तद्व्यपदेशः पूर्ववत् ॥ ११२ ॥**

**सूत्रार्थ—** सर्वेषु = सभी में, असाधारण्यात् = असाधारण (विशिष्ट) होने से, पृथिव्युपादानम् = पृथिवी को उपादान माना गया है, अतः तद्व्यपदेशः = इसका वर्णन, पूर्ववत् = पूर्व की तरह ही है।

**व्याख्या—** पृथिवी को असाधारण तत्त्व तथा समस्त जीवधारियों में उसी (पृथ्वी तत्त्व) का आधिक्य माना गया है। अस्तु, शरीर और इन्द्रियों को भौतिक कहा जाता है। जिस प्रकार नेत्र आदि इन्द्रियों की स्थिति शरीर में रहते हुए भी उन्हें आहंकारिक (अहंकार से उत्पन्न) कहा जाता है, उसी प्रकार शरीर को पञ्चभूतों से उत्पन्न कहा जाता है॥११२॥

**( ४४० ) न देहारंभकस्य प्राणत्वमिन्द्रियशक्तितस्तत्सिद्धेः ॥ ११३ ॥**

**सूत्रार्थ—** इन्द्रियशक्तितः = इन्द्रियों की शक्ति से, तत्सिद्धेः = उसकी सिद्धि होने से, देह आरम्भकस्य = शरीर आरम्भ करने वाले का, प्राणत्वम् = प्राण होना, न = सिद्ध नहीं है।

**व्याख्या—** देह का आरम्भक वायु है; किन्तु वह प्राण नहीं है। कारण यह है कि प्राण इन्द्रियों की शक्ति से सिद्ध होता है। प्राण समस्त कारणों की सामान्य वृत्ति होती है। जब इन्द्रियाँ देह का परित्याग करती हैं, तब उनकी वृत्ति स्वरूप प्राण शरीर का परित्याग कर देता है। आरम्भक का अभिप्राय उपादान कारण है। इस प्रकार स्पष्ट है कि वायु शरीर का उपादान कारण है। वायु-प्राण नहीं है॥११३॥

**( ४४१ ) भोक्तुरधिष्ठानाद्भोगायतननिर्माणमन्यथा पूतिभावप्रसंगात्॥ ११४॥**

**सूत्रार्थ—** भोक्तुराधिष्ठानात् = भोक्ता के अधिष्ठान होने से, भोगायतन = भोग के आश्रय स्वरूप शरीर का, निर्माणम् = निर्माण, पूतिभाव प्रसङ्गात् = दुर्गन्ध पूर्ण भाव (सड़ने के) प्रसङ्ग से, सिद्ध होता है।

**व्याख्या—** भोगों के आश्रय स्वरूप शरीर का निर्माण तभी सम्भव है, जब उसमें भोक्ता निवास करे अर्थात् जीवात्मा (भोक्ता) के देह में अधिष्ठान से ही शरीर रचना सम्भव है। यदि जीवात्मा के अभाव में शरीर रचना हो, तो वह (रज-वीर्य जिसके संयोग से शरीर बनता है) सड़ जायेगा और उसमें दुर्गन्ध उत्पन्न हो जायेगी॥११४॥

**( ४४२ ) भृत्यद्वारास्वाम्यधिष्ठितिर्नैकान्तात्॥ ११५॥**

**सूत्रार्थ—** भृत्यद्वारा = भृत्य (सेवक) द्वारा, स्वाम्यधिष्ठति: = स्वामी का अधिष्ठान है, एकान्तात् न = एकान्त होने से नहीं है।

**व्याख्या—** जीवात्मा शरीर का अधिष्ठाता है ऐसा माना गया है; परन्तु वह एकाकी उसमें निवास नहीं करता, वरन् वह जीवात्मा अपने भृत्य (सहयोगी) के द्वारा शरीर में अधिष्ठान करने में सक्षम होता है अर्थात् एकाकी वह समर्थ नहीं है॥११५॥

**यदि यह कहा जाय कि जीवात्मा प्राण द्वारा नहीं, एकाकी ही शरीर का अधिष्ठाता है, तो इसका उत्तर देते हुए अगले सूत्र में कहते हैं-**

**( ४४३ ) समाधिसुषुप्तिमोक्षेषु ब्रह्मरूपता॥ ११६॥**

**सूत्रार्थ—** समाधिसुषुप्तिमोक्षेषु=समाधि, सुषुप्ति और मोक्ष में, ब्रह्मरूपता=ब्रह्मरूपता हो जाती है।

**व्याख्या—** समाधि, सुषुप्ति और मोक्ष यह तीन अवस्थाएँ हैं, जिनमें ब्रह्म ज्ञान में लीन होकर साधक की ब्रह्मरूपता हो जाती है। अभिप्राय यह है कि मुक्ति की स्थिति में जिस ब्रह्म भाव की प्राप्ति होती है, उस भाव का कुछ अंश समाधि और सुषुप्ति की स्थिति में भी होता है। इनमें समाधि वह है, जिसमें योगीजन गहन ध्यानावस्था में पहुँचकर एकाग्र हो जाते हैं तथा सुषुप्ति स्वप्नावस्था से आगे की स्थिति है, जिसमें स्वप्न नहीं आते (गहरी निद्रा की स्थिति)॥११६॥

**( ४४४ ) द्वयो: सबीजमन्यत्र तद्धति:॥ ११७॥**

**सूत्रार्थ—** द्वयो: = दोनों में, सबीजम्=बीज सहित है, अन्यत्र=अन्य अवस्था में, तद्धति: = उसकी हानि होती है।

**व्याख्या—** ऊपर जो तीन अवस्थाएँ वर्णित की गई हैं, उनमें समाधि और सुषुप्ति दो अवस्थाओं में दु:ख आदि का अभाव तो रहता है; किन्तु उनका बीज मौजूद रहता है। इसलिए इनका (दु:ख आदि का) अभाव स्वल्प समय के लिए ही होता है। (सामान्य स्थिति आने पर उनका पुन: अनुभव होने लगता है)। मोक्ष की स्थिति में कर्म और स्वरूप भोग क्षीण हो जाने से इनके बीज का भी विनाश हो जाता है अर्थात् दु:ख आदि का लेश मात्र भी नहीं रहता॥११७॥

**अब यदि यह माना जाय कि सुषुप्ति और समाधि ये दोनों अवस्थाएँ तो जीवों द्वारा प्रत्यक्ष देखीं ( अनुभव की ) जाती हैं, किन्तु मोक्ष की स्थिति तो नहीं दिखती ऐसी स्थिति में क्या दो ही अवस्थाएँ ( सुषुप्ति और समाधि ) मानें? तो इसका उत्तर अगले सूत्र में सूत्रकार देते हैं -**

**( ४४५ ) द्वयोरिव त्रयस्यापि दृष्टत्वान्नतु द्वौ॥ ११८॥**

**सूत्रार्थ—** द्वयोरिव = दोनों के समान, त्रयस्य = तीसरी, अपि = भी, दृष्टत्वात् = देखी जाने के कारण, तु = तो, द्वौ = दो, न = नहीं मानी जा सकती।

**व्याख्या—** जिस प्रकार समाधि और सुषुप्ति ये दोनों अवस्थाएँ देखी (अनुभव की) जाती हैं,

उसी प्रकार मोक्ष अवस्था का भी तो ऋषि-मुनि आत्म साक्षात्कार के उपरान्त वर्णन करते हैं। अत: उस तीसरी (मोक्ष) अवस्था का भी तो देखा जाना (अनुभव किया जाना) सिद्ध होता है, तो दो ही अवस्थाएँ कैसे मानें? इससे स्पष्ट है कि तीनों ही अवस्थाएँ होती हैं॥११८॥

**अब प्रश्न यह है कि समाधि अवस्था में तो क्लेश कर्म आदि की वासना वैराग्य के कारण कुण्ठित हो जाती है, तो इस स्थिति में तो जीवात्मा की ब्रह्मरूपता मानी जा सकती है; किन्तु सुषुप्ति की स्थिति में क्लेश कर्म आदि कुण्ठित न होने से उनकी विद्यमानता रहती है, तो उस स्थिति में ब्रह्मरूपता कैसे होगी; इसे अगले सूत्र में बता रहे हैं-**

**( ४४६ ) वासनयानर्थख्यापनं दोषयोगेऽपि निमित्तस्य प्रधानबाधकत्वम्॥ ११९॥**

**सूत्रार्थ—** दोष योगे = (सुषुप्ति में) निद्रारूप दोष का योग होने पर, वासनया अपि = वासना के द्वारा भी, अनर्थख्यापनम् = अर्थ का ज्ञान नहीं होता, निमित्तस्य = वासना (विषयों) आदि के निमित्त होने से, प्रधानबाधकत्वम् = प्रधान दोष (निद्रा आदि दोष) का बाधक होना, न = सम्भव नहीं लगता।

**व्याख्या—** समाधि, की अवस्था में तीव्र वैराग्य के कारण वासनाओं का अधिक प्रभाव नहीं पड़ता; परन्तु सुषुप्तावस्था में निद्रा आदि का दोष उत्पन्न हो जाता है, जिसके कारण वासना की उपस्थिति होते हुए भी बाह्य विषयों से अनभिज्ञता बनी रहती है। इससे वासना आदि को निद्रा दोष में बाधक नहीं माना जा सकता, वरन् वास्तविकता यह है कि निद्रा अपनी प्रबलता से वासनाओं को वशीभूत किये रहती है। इस प्रकार स्पष्ट है कि समाधि और सुषुप्ति दोनों अवस्थाओं में (विषयों के दबे रहने के कारण)ब्रह्म रूपता (आंशिक रूप से) अवश्य होती है॥११९॥

**( ४४७ ) एक: संस्कार: क्रियानिर्वर्त्तको न तु प्रतिक्रियं संस्कारभेदा बहुकल्पनाप्रसक्ते:॥ १२०॥**

**सूत्रार्थ—** एक: = एक, संस्कार: = संस्कार, क्रियानिर्वर्त्तक: = क्रिया को सिद्ध कर देने वाला है, न = नहीं, तु = तो, प्रतिक्रियम् = प्रत्येक क्रिया को (के लिए), संस्कारभेदा: = संस्कार के विभिन्न भेदों की, बहु= बहुत, कल्पनाप्रसक्ते: = कल्पना का प्रसङ्ग उपस्थित हो जायेगा।

**व्याख्या—** तीर चलाते समय उसे धनुष पर चढ़ाकर तीव्रता से खींचकर उसे (तीर को) एक तीव्र वेग (संस्कार) दिया जाता है, उसी संस्कार के फलस्वरूप तीर दूर तक चला जाता है और जब वह संस्कार (वेग) समाप्त हो जाता है, तभी तीर गिर जाता है। इसी प्रकार कुम्भकार 'चाक' को एक बार घुमा देता है, जब तक उसमें वह घूमने का वेग रहता है, तब तक चाक घूमता है, बाद में रुक जाता है। ऐसा नहीं है कि तीर अथवा चाक को बार-बार (हर आवृत्ति के लिए) घुमाना पड़े; क्योंकि इसके लिए तो फिर क्रिया के विभिन्न संस्कारों की कल्पना करनी पड़ेगी, जो निरर्थक होगी।

ठीक इसी प्रकार जीवात्मा के क्रिया कलापों के विषय में समझा जा सकता है। जीवात्मा भी पूर्व जन्मों के संस्कारों वश अनेक भोगार्थ क्रियाएँ करता रहता है। ऐसा नहीं है कि अनेक संस्कार क्रमश: हों, तभी क्रियाएँ हों॥१२०॥

**( ४४८ ) न बाह्यबुद्धिनियमो वृक्षगुल्मलतौषधिवनस्पतितृणवीरुधादीनामपि भोक्तृभोगायतनत्वं पूर्ववत्॥ १२१॥**

**सूत्रार्थ —** न बाह्यबुद्धिनियम: = बाहरी बुद्धि का नियम नहीं है, वृक्षगुल्मलतौषधिवनस्पतितृणवीरुधादीनाम्=वृक्ष, गुल्म, लता, ओषधि, वनस्पति, तृण और वीरुध आदि का, अपि=भी, भोक्तृभोगायतनत्वं= भोक्ता और भोगायतन (शरीर) होना, पूर्ववत्=पहले की तरह (ऊष्मज एवं अण्डज आदि की तरह) है।

**व्याख्या**— बाह्य विषयों का ज्ञान होने के नियम से, एक संस्कार के द्वारा एक ही क्रिया होने की सिद्धि नहीं होती; क्योंकि वृक्ष लता आदि अन्य योनियाँ भी जीवात्मा के लिए आश्रय स्वरूप हैं। भावार्थ यह है कि जिस प्रकार एक संस्कार से मनुष्य पशु आदि के शरीरों में जीवात्मा (पूर्व संस्कार वश) विभिन्न क्रिया-कलाप करता रहता है और इन शरीरों में जीवात्मा को बाह्य विषयों का ज्ञान बना रहता है; किन्तु जिन शरीरों में बाह्य ज्ञान नहीं रहता। वे वृक्ष, लता, गुल्म वनस्पति, ओषधि, तृण और वीरुध आदि भी तो जीवात्मा के भोगायतन (भोग के शरीर) हैं। अतः इनमें भी पूर्व संस्कारवश ही जीवात्मा आता है। [इनमें जिन पर पुष्प से फल लगें, उन्हें वृक्ष, झाड़ी बेर के आकार वाले पौधों को गुल्म, अमृता, सोमलता आदि की लता, जो एक बार फल देकर विनष्ट हो जाएँ उन्हें ओषधि, जिनमें पुष्प के बिना ही फल लगें, उन (गूलर, पीपल आदि) को वनस्पति, जड़ों से फैलने वाली दूर्वा आदि को तृण तथा शाखादि से बहुत फैलाव वाली बेलों को वीरुध कहते हैं।] ॥१२१॥

**( ४४९ ) स्मृतेश्च ॥ १२२ ॥**

**सूत्रार्थ**— स्मृतेः = स्मृति से, च = और (भी यही बात सिद्ध होती है)।

**व्याख्या**— स्मृतियों में भी इस तथ्य का उल्लेख मिलता है, जिससे स्थावर योनियों (वृक्षादिकों) के भोक्तृ भोगायतनत्व की सिद्धि होती है। मनुस्मृति अ०१२ में कहा गया है- **शरीरजैः कर्म दोषैर्याति स्थावरतां नरः। वाचिकैः पक्षिमृगतां मानसैरन्त्यजातिताम्॥**

अर्थात् मनुष्य, शरीर के कर्म दोषों के कारण फलभोगार्थ स्थावर शरीरों (वृक्षादि) को प्राप्त करता है। वाक् दोषों के कारण पक्षी और मृगादि होता है तथा मानसिक कर्म दोषों से चाण्डालादि होता है ॥१२२॥

**( ४५० ) न देहमात्रतः कर्माधिकारित्वं वैशिष्ट्यश्रुतेः ॥ १२३ ॥**

**सूत्रार्थ**— वैशिष्ट्यश्रुतेः = श्रुति (वेद शास्त्रों) में विशिष्टता कही जाने से, देहमात्रतः = शरीर मात्र से, कर्माधिकारित्वम् = कर्म के अधिकार होने की, न= सिद्धि नहीं होती।

**व्याख्या**— धर्म-अधर्म (मोक्ष) आदि की प्राप्ति के निमित्त कर्म रूपी अनुष्ठानों में केवल देह ही आधार नहीं है। उनमें चेतन तत्त्व की प्रमुखता अपेक्षित है; क्योंकि मोक्ष आदि पाने के लिए जो जप, तप, तितीक्षा, उपरति, शम, दम आदि अपेक्षित होते हैं। वे जड़ देह से सम्भव नहीं, उनके लिए चैतन्य का अस्तित्व आवश्यक है। अतः चैतन्य की उपेक्षा करके देह मात्र से इन कर्मों में अधिकार का प्रतिपादन अप्रामाणिक है; क्योंकि वेद शास्त्रों में भी जिन विशिष्ट अनुष्ठानों की चर्चा की गई है, वे जड़ के सहारे सम्भव नहीं हैं। अस्तु, कर्म का अधिकारी शरीर नहीं, जीवात्मा है ॥१२३॥

**( ४५१ ) त्रिधा त्रयाणां व्यवस्था कर्मदेहोपभोगदेहोभयदेहाः ॥ १२४ ॥**

**सूत्रार्थ** — त्रिधा = तीन प्रकार से, त्रयाणाम् = तीन का, व्यवस्था = वर्गीकरण है, कर्मदेहोपभोगदेहोभयदेहाः = कर्म देह, उपभोग देह और उभय देह।

**व्याख्या**— शरीरों का वर्गीकरण तीन प्रकार से किया गया है। उत्तम, मध्यम और अधम देहों को क्रमशः कर्मदेह, उपभोग देह और उभयदेह कहते हैं। कर्मदेह उन ऋषि-मुनियों के शरीरों को कहते हैं, जो आजीवन जप, तप और अनुष्ठानादि धर्म कृत्यों में प्रवृत्त रहते हैं। उपभोग देह उनको माना जाता है, जो अपने पूर्वकृत् कर्मों का प्रतिफल भोगने हेतु जन्म अथवा भोग देह धारण करते हैं। इनमें देवों से लेकर पशु-पक्षी, कीट, पतंगादि तथा स्थावर (पेड़-पौधे) आदि सभी आ जाते हैं। इनमें इन्द्र आदि देव पुण्य फलों का भोग करते हैं और पशु-पक्षी, वृक्ष आदि पाप कर्मों का भोग करते हैं; किन्तु उभय देह वाले कर्म और भोग दोनों करते हैं। इनमें राजर्षि, गृहस्थ आदि आते हैं, जो पूर्व कर्मों का उपभोग भी करते हैं और कर्म करने में भी तत्पर रहते हैं ॥१२४॥

**( ४५२ ) न किञ्चिदप्यनुशयिनः॥ १२५॥**

**सूत्रार्थ**— अनुशयिन: = अनुशयी (कर्म फल भोगे हुए) का, किञ्चिदपि = किञ्चित् (कुछ) भी, न = नहीं होता।

**व्याख्या**— ऊपर जिन तीन शरीरों का वर्णन किया गया है, उन्हें त्यागने के पश्चात् जीवात्मा जब सूक्ष्म रूप में सुषुप्तावस्था को प्राप्त होता है, तब वह किसी भी शरीर (योनि) को प्राप्त करने से पहले अथवा यों कहें भोगों का उपभोग करके निवृत्त होने की स्थिति तथा किसी योनि विशेष को प्राप्त करने के मध्य की स्थिति में उस जीव को अनुशयी कहते हैं; क्योंकि उस स्थिति में वह किसी दूसरे के आधार पर शयन करता है। अस्तु, सांख्यकार ने स्पष्ट किया है कि इस अवस्था में जीवात्मा का (कर्मदेह, भोगदेह और उभयदेह में से) कोई शरीर नहीं होता॥१२५॥

**( ४५३ ) न बुद्ध्यादिनित्यत्वमाश्रयविशेषेऽपि वह्निवत्॥ १२६॥**

**सूत्रार्थ**— आश्रयविशेषेऽपि = आश्रय विशेष में भी, बुद्ध्यादि = बुद्धि आदि का, नित्यत्वम् = नित्य होना, वह्निवत् = अग्नि के समान, न = उचित नहीं है।

**व्याख्या**— जिस प्रकार किसी काष्ठ में अग्नि लग जाती है, तो काष्ठ के सम्पूर्ण जल चुकने पर वह स्वत: ही बुझ जाती है। इसलिए उस काष्ठ (लकड़ी) को नित्य नहीं माना जाता। उसी प्रकार बुद्धि भी अपने आश्रय स्वरूप आत्मा में निवास करती है; किन्तु वह अनित्य है; क्योंकि बुद्धि निश्चयात्मिका वृत्ति को कहते हैं। अस्तु, वह कारण (उपादान) है और उपादान नित्य नहीं हो सकता॥१२६॥

**अगले सूत्र द्वारा भी बुद्धि को अनित्य सिद्ध किया जा रहा है -**

**( ४५४ ) आश्रयासिद्धेश्च॥ १२७॥**

**सूत्रार्थ**— आश्रयअसिद्धे: = आश्रय की असिद्धि होने के कारण,च=भी(यह मान्यता उचित है)।

**व्याख्या**— यदि आत्मा का अस्तित्व स्वीकार न किया जाय, तो फिर बुद्धि के आश्रय की सिद्धि नहीं होती। अत: किसी भी स्थिति में बुद्धि आदि के आश्रय के निमित्त आत्मा का अस्तित्व अनिवार्यत: अपेक्षित है। चूँकि बुद्धि आदि प्रकृति के कार्य हैं, और प्रकृति अचेतन है, किन्तु तथ्य यह है कि अचेतन के कार्य कभी नित्य नहीं हो सकते, तो बुद्धि भी अनित्य है।

इस सूत्र की व्याख्या में पं० तुलसीराम स्वामी का मानना है कि बुद्धि आदि का आश्रय जीव को नहीं माना जा सकता; क्योंकि जीव असङ्ग है अर्थात् वह किसी के साथ नहीं रहता। अत: वह बुद्धि आदि का स्थायी रूप से आश्रय भी नहीं बन सकता; क्योंकि बुद्धि आदि कार्य होने से अनित्य है और जीव नित्य। अस्तु, इस मत से भी बुद्धि की अनित्यता सिद्ध होती है॥१२७॥

**अब सांख्यकार सांसिद्धिक शरीर और आत्मा के अस्तित्व की पुष्टि के निमित्त योग सिद्धियों के विषय में वर्णन कर रहे हैं-**

**( ४५५ ) योगसिद्धयोऽप्यौषधादिसिद्धिवन्नापलपनीयाः॥ १२८॥**

**सूत्रार्थ**— औषधादि सिद्धिवत् = औषधि आदि की सिद्धि की तरह, योग सिद्धय: = योग की सिद्धियाँ, अपि = भी, अपलपनीया: =अपलाप (बकवास) के योग्य, न = नहीं मानी जा सकती।

**व्याख्या**— लोक में यह प्रत्यक्ष देखा जाता है कि विभिन्न ओषधियों के प्रयोग से हमारे शरीर के रोग दूर हो जाते हैं और अनुकूल स्थिति प्राप्त हो जाती है। इसी प्रकार योग-साधनाओं द्वारा अत्यन्त उच्चस्तरीय और चमत्कारिक सिद्धियाँ होती देखी जाती हैं। उनकी भी उपेक्षा करके उन्हें केवल व्यर्थ

**( ४५६ ) न भूतचैतन्यं प्रत्येकादृष्टेः सांहत्येऽपि च सांहत्येऽपि च॥ १२९॥**

**सूत्रार्थ —** च=और, प्रत्येकादृष्टेः=प्रत्येक में न देखे जाने से, सांहत्ये=संघात में, अपि=भी, भूतचैतन्यं= भूतों का चैतन्य होना, न= सिद्ध नहीं होता।

**व्याख्या —** पृथिवी आदि सभी भूत (तत्त्व)अचेतन हैं। यदि सभी तत्त्व संघातरूप (एकत्र)हो जायें, तो भी उनका चैतन्य होना सम्भव नहीं है। जिस प्रकार एक तिल में तेल है, तो कई तिलों के समूह से तेल निकल सकता है; किन्तु बालू का एक कण भी चिकनाई युक्त (स्नेहयुक्त) नहीं है, तो कई बालू कण एकत्र हो जाएँ, तो भी उनमें से तेल नहीं निकल सकता। इसी प्रकार पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश ये सभी तत्त्व अचेतन हैं। यदि सभी तत्त्व संघात रूप हो जाएँ तो भी उनमें से किसी भी तरह चैतन्य तत्त्व प्रकट नहीं हो सकता। अतः भूतों (पंचतत्त्वों) का चैतन्य होना सिद्ध नहीं होता॥ १२९॥

**सूत्र में दुबारा ''सांहत्येऽपि च'' पद अध्याय की समाप्ति सूचक है, इसलिए इसका अलग से अर्थ नहीं किया गया है-**

## ॥ इति पञ्चमोऽध्यायः समाप्तः ॥



# ॥ अथ षष्ठोऽध्यायः ॥

**इस अध्याय में भूतादि ( प्रकृति ) से भिन्न आत्मा के अस्तित्व का उपपादन ( सिद्ध ) किया गया है। उसी प्रकरण का यह प्रथम सूत्र प्रारम्भ हो रहा है—**

**( ४५७ ) अस्त्यात्मा नास्तित्वसाधनाभावात्॥ १ ॥**

**सूत्रार्थ**— अस्तित्वसाधनाभावात् = अस्तित्व होने के साधन (प्रमाण) का अभाव, न = न होने से, आत्मा = आत्मा का अस्तित्व, अस्ति = सिद्ध होता है।

**व्याख्या**— किसी भी वस्तु अथवा पदार्थ के अस्तित्व के होने या न होने की मान्यता उसके साधनों व प्रमाण के आधार पर ही होती हैं। साधक प्रमाण होने से वस्तु का अस्तित्व सिद्ध होता है तथा बाधक प्रमाण होने से वस्तु का अभाव सिद्ध होता है। आत्मा का अस्तित्व प्रत्यक्ष प्रमाण अर्थात् मैं हूँ, ऐसी प्रतीति होने से सिद्ध होता है, इसके साथ ही 'आत्मा नहीं है' इस तथ्य का कोई ठोस प्रमाण नहीं उपलब्ध होता। अतः इससे यही सिद्ध होता है कि 'आत्मा है' [आत्मा के अस्तित्व के साधक प्रमाणों का (प्र०अ० के सू० क्र० १०४ से अध्याय समाप्ति तक में) विस्तृत उपपादन किया गया है और बाधक प्रमाणों के अभाव का निर्देश यहाँ षष्ठ अ० के इस सूत्र से किया जा रहा है।] ॥ १ ॥

**( ४५८ ) देहादिव्यतिरिक्तोऽसौ वैचित्र्यात्॥ २ ॥**

**सूत्रार्थ**— असौ = वह आत्मा, वैचित्र्यात् = विलक्षण होने के कारण, देहादिव्यतिरिक्तः = देह आदि से अतिरिक्त (भिन्न) है।

**व्याख्या**— वह आत्मा, देह (शरीर), इन्द्रियों एवं अन्तःकरण आदि समस्त चेतना शून्य तथा नाशवान् पदार्थों (तत्त्वों) से अतिरिक्त (भिन्न) है; क्योंकि वह (आत्मा) इन सभी से विलक्षण माना जाता है। देहादि सभी पदार्थ परिणामी, अचेतन एवं नाशवान् हैं; किन्तु आत्मा अपरिणामी चेतन एवं नित्य लक्षणों वाला कहा गया है। श्रुति वचनों में आत्मा को '**साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च**' एवं '**अपाणिपादो जवनो ग्रहीता**' आदि शब्द प्रमाणों द्वारा भी देहादि से व्यतिरिक्त परिणामी सिद्ध होता है। जब शरीर (देह) से आत्मा उत्क्रमण कर जाती है, तब देह में कोई भी चेतना दृष्टिगोचर नहीं होती है। देहादि प्राकृत पदार्थों का दूसरे के लिए होना भी चैतन्य आत्मा का इससे अलग होना सिद्ध करता है। उपर्युक्त सभी प्रमाणों द्वारा यही सिद्ध होता है कि देहादि से विपरीत लक्षणों से युक्त होने से आत्मा उससे पृथक् है॥ २॥

**( ४५९ ) षष्ठी व्यपदेशादपि॥ ३ ॥**

**सूत्रार्थ**— षष्ठी=छठी विभक्ति के, व्यपदेशात् = व्यवहार कथन होने से, अपि = भी (यही मान्यता उचित है)।

**व्याख्या**— 'मेरी यह देह है,मेरा यह हाथ है,मेरी बुद्धि प्रखर है,इत्यादि रूप में छठी विभक्ति के साथ देहादि का कथन-व्यवहार किया जाता है। कोई यह नहीं कहता कि 'मैं देह हूँ,मैं हाथ हूँ'। यह षष्ठी विभक्ति का कथन वस्तुओं में भेद होने से घटित होता है। इस तरह से 'मैं' और 'देह' की पृथकता प्रत्यक्ष है। इस कारण से भी आत्मा को देहादि रूप नहीं मानना चाहिए। वस्तुतः आत्मा शरीर से पृथक् है॥ ३॥

**( ४६० ) न शिलापुत्रवद्धर्मिग्राहकमानबाधात्॥ ४॥**

**सूत्रार्थ**— धर्मिग्राहकमानबाधात् = धर्मी-आत्मा के साक्षात् जाननेरूप (ग्रहण करने वाले के) प्रमाण का अभाव (बाधा) होने से, शिलापुत्रवत् = पत्थर के पुत्र (पुतले) के समान, न = नहीं होता।

**व्याख्या**— यदि यह कहा जाये कि छठी विभक्ति का कथन-व्यवहार 'पत्थर का पुत्र (पुतला)' जैसा है, तो यह कहना उचित नहीं है; क्योंकि 'मैं' धर्मी (आत्मा) का बोध होने पर उस 'मैं' के ग्राहक प्रमाण से उस अवस्था में 'शरीर आत्मा है' इसकी बाधा हो जाती है अर्थात् शरीर आत्मा नहीं है, यह सिद्ध हो जाता है। आत्मा का साक्षात्कार हो जाने से शरीर उसकी बराबरी में नहीं आ पाता। उस समय आत्मा एवं शरीर का स्पष्ट रूप से भेद प्रतीत होता है। यहाँ यह स्पष्ट है कि 'मेरा शरीर' 'मेरा हाथ' 'मेरी बुद्धि' आदि कथन-व्यवहार स्व-स्वामिभाव को लेकर आता हैं, वह स्वामीभाव भी नाशवान् हैं। ऐसी स्थिति में शरीर को आत्मा कहना तो बहुत ही दूर की बात है। अत: शरीरादि से पृथक् अपरिणामी चेतन आत्मा है, यह सिद्ध होता है॥ ४॥

**( ४६१ ) अत्यन्तदु:खनिवृत्या कृतकृत्यता॥ ५॥**

**सूत्रार्थ**— अत्यन्तदु:खनिवृत्या=दु:ख की पूर्णतया निवृत्ति हो जाने से, कृतकृत्यता = कृतार्थता (मुक्ति) हो जाती है।

**व्याख्या**— त्रिविध दु:ख अर्थात् सभी प्रकार के दु:खों की अत्यन्त निवृत्ति से ही आत्मा की कृतार्थता (मुक्ति) हो जाती है। शरीर के सम्पर्क में आ जाने से आत्मा को भोग एवं मोक्ष दो कार्य करने होते हैं। भोगों का उपभोग कर लेने के पश्चात् जब उनसे विरक्ति हो जाती है, तब आत्मिक ज्ञान हेतु वह प्रयत्नशील होता है। कर्मानुसार जीवात्मा भोग का उपभोग करता हुआ आध्यात्मिक पथ पर प्रवृत्त होकर जब अपने निजरूप का बोध कर लेता है, तब कृतार्थ हो जाता है अर्थात् अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है। इसे ही मुक्तावस्था कहा गया है॥ ५॥

**( ४६२ ) यथादु:खात्क्लेश: पुरुषस्य न तथा सुखादभिलाष:॥ ६॥**

**सूत्रार्थ**— यथा = जैसे, पुरुषस्य = पुरुष की, दु:खात्क्लेश: = दु:ख के विषय में कष्ट या द्वेष (की भावना रहती है), तथा = वैसे, सुखादभिलाष: = सुख की विषय में अभिलाषा, न = नहीं रहती।

**व्याख्या**— जैसे दु:ख के कारण आत्मा (पुरुष) को प्रबल कष्ट या द्वेष आदि का अनुभव होता है तथा आत्मा उसे निरन्तर दूर करने के प्रयास में संलग्न रहती है, वैसे ही सुख का अनुभव होने पर उसे अन्य कोई अभिलाषा नहीं रहती; क्योंकि दु:ख के निवारण का प्रयास तो प्रत्येक प्राणी करना चाहता है। सांख्य शास्त्र का 'सुख' पद (शब्द) विषय से सम्बन्धित अनुकूलताओं का साक्षात्कार कराता है, उनका मिलना 'भोग' रूप पुरुषार्थ में अन्तर्हित रहता है, मुक्ति (मोक्ष) में नहीं। अत: मोक्षरूपी परम पुरुषार्थ दु:खों के निवारण में पर्यवसित है। वहाँ पर सुख की आकांक्षा का प्राकट्य होना मोक्ष की अवस्था को और अधिक दूर ले जाना है॥ ६॥

**( ४६३ ) कुत्रापि कोऽपि सुखीति॥ ७॥**

**सूत्रार्थ**— कुत्र-अपि = कहीं ही, क: = कोई, अपि = ही, सुखी-इति = सुखी दिखाई देता है।

**व्याख्या**— कहीं-कहीं, कोई-कोई देहधारी ही सुखी दिखाई देता है। भोग की दृष्टि से 'अर्थ' (धन-पैसे) को ही सुख का साधन समझा जाता है। सुख प्राप्ति की इच्छा से धन के पीछे दौड़ते हुए संसार के समस्त संघर्षों का प्रमुख आधार इस (धन) को ही जानना चाहिए। अत: दु:ख के निवारण की भावना के साथ मोक्ष के लिए इस प्रकार के सुख के प्रति हीन भाव ही आवश्यक होता है। मोक्ष प्राप्ति की इच्छा रखने वाले के लिए सांसारिक सुख की इच्छा रखना अत्यन्त हेय कहा गया है। यथार्थ सुख की प्राप्ति तो एक मात्र आत्मज्ञान द्वारा मोक्ष की प्राप्ति में ही संभव है॥ ७॥

**( ४६४ ) तदपि दु:खशबलमिति दु:खपक्षे नि:क्षिपन्ते विवेचका: ॥ ८ ॥**

**सूत्रार्थ—** तत् = वह सुख, अपि = भी, दु:खशबलम् = दु:ख के प्रभाव से घिरा रहता है, इति = इस प्रकार उस सुख को, विवेचका: = विवेकी पुरुष, दु:खपक्षे = दु:खरूप में ही, नि:क्षिपन्ते = डाल देते या मान लेते हैं।

**व्याख्या—** वह सुख भी सदैव दु:ख के प्रभाव से सम्मिश्रित (घिरा या मिला) रहता है। जहाँ कहीं थोड़ा सुख है, तो वहीं पर अधिक दु:ख, अथवा कहीं धन है, तो सन्तान के अभाव का दु:ख है और यदि कहीं सन्तान है, तो धन के अभाव का दु:ख है। इस प्रकार से सुख के साथ-साथ दु:ख भी बना रहता है। अत: विवेकी पुरुष उस सुख की गणना दु:ख में ही किया करते हैं। इस प्रकार से दु:ख की अत्यन्त निवृत्ति में मोक्षरूप पुरुषार्थ ही सहायक है॥ ८॥

**( ४६५ ) सुखलाभाभावादपुरुषार्थत्वमितिचेन्नद्वैविध्यात्॥ ९॥**

**सूत्रार्थ—** चेत् = यदि वह कहे कि, सुखलाभाभावात् = सुख-प्राप्ति के अभाव से, अपुरुषार्थत्वं = अपुरुषार्थ अर्थात् पुरुषार्थपन नहीं है (मोक्ष) तो, इति = इस प्रकार कहना, न = ठीक नही हैं; क्योंकि द्वैविध्यात् = पुरुषार्थ दो प्रकार का कहा गया है।

**व्याख्या—** आत्मा का शरीर-सम्बद्ध भोग एवं मोक्ष दो कारणों से कहा गया है, इस कारण से पुरुषार्थ के दो प्रकार( भोग एवं मोक्ष)कहे गये हैं। इसके अन्तर्गत जो लोग सुख-प्राप्ति को ही पुरुषार्थ कहते हैं, ऐसी उनकी मान्यता उचित नहीं है। यदि यह कहें कि मोक्ष में सुख का अभाव है। अत: वह पुरुषार्थ नहीं है, तो यह कहना भी उचित नहीं है; क्योंकि मोक्ष में तो दु:खों का पूरी तरह से निवारण हो जाता है। दु:ख पूर्णरूपेण समाप्त हो जाते हैं। जब दु:ख नहीं होता, तब पूरी तरह से सुख ही सुख बना रहता है॥ ९॥

**( ४६६ ) निर्गुणत्वमात्मनोऽसंगत्वादिश्रुते: ॥ १०॥**

**सूत्रार्थ—** असङ्गत्वादि = असंग है आत्मा, ऐसा कहने वाली, श्रुते: = श्रुति है, अत:; आत्मन: = आत्मा का, निर्गुणत्वम् = निर्गुण होना सिद्ध होता है।

**व्याख्या—** श्रुति वचनों ('असंगो ह्ययं पुरुष:' एवं 'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च' आदि श्रुति वाक्यों) के अनुसार आत्मा को निर्गुण (गुण रहित) होना माना जाता है। आत्मा सुख-दु:ख एवं मोह; सत्त्व, रजस् एवं तमस् आदि गुणों से सर्वथा रहित है। वह स्वभाववश सुख-दु:ख आदि द्वन्द्वों से परे है, तब आत्मा के लिए दु:ख के निवारण का और क्या आशय हो सकता है? अत: उस गुणरहित (आत्मा) को दु:ख का निवारण करने वाला कहना असंगत ही कहा जायेगा॥ १०॥

**( ४६७ ) परधर्मत्वेऽपि तत्सिद्धिरविवेकात्॥ ११॥**

**सूत्रार्थ—** अविवेकात् = अविवेक से, परधर्मत्वेऽपि = दूसरे का धर्म होने पर भी, तत्सिद्धि: = उस (आत्मा) को सुख:-दु:ख आदि की अनुभूति होती है।

**व्याख्या—** सत्त्व, रजस् एवं तमस् गुणों के विकार स्वरूप सुख-दु:खादि आत्मा के स्वभाव-धर्म (गुण) नहीं हैं। ये शरीर के स्वाभाविक गुण हैं, फिर भी सुख-दु:ख आदि विकारों की अनुभूति तो आत्मा को होती ही है। इसका कारण अविवेक है। अविवेक से ही मनुष्य शरीर को ही अपना मानकर ... द्वारा उत्पन्न सुख एवं दु:ख आदि में सुखी व दु:खी होता रहता है। आत्म साक्षात्कार हो जाने पर अविवक समाप्त हो जाता है, तभी वह सुख-दु:खादि समस्त विकारों को भी कुछ नहीं मानता॥ ११॥

**( ४६८ ) अनादिरविवेकोऽन्यथा दोषद्वयप्रसक्तेः॥ १२॥**

**सूत्रार्थ**— अविवेकः = अविवेक, अनादिः = अनादि है; इससे, अन्यथा = विपरीत मानने पर, दोषद्वय = दो तरह के दोषों का, प्रसक्तेः =प्रसङ्ग उपस्थित हो जायेगा।

**व्याख्या**— जिस प्रकार आत्मा अनादि है, उसी प्रकार से अविवेक भी अनादि है; क्योंकि अविवेक के कारण ही आत्मा को बद्धावस्था की प्राप्ति होती है अर्थात् जन्म-मृत्यु के चक्र में फँसना पड़ता है। यदि अविवेक को अनादि न माना जाये, तो इसमें दो प्रकार के दोष हो जायेंगे। प्रथम तो यह कि इसको बिना किसी कारण के कहीं से प्रकट हुआ मानें, तो मुक्तावस्था में रहते हुए आत्माओं को भी अविवेक की प्राप्ति करके बन्धावस्था में आ जाना चाहिए, जो कि अप्रामाणिक है। दूसरा यह कि इसे कर्म आदि से उत्पन्न हुआ मानें, तो उस अविवेक को प्रकट करने वाले कारण (कर्म) को खोजना पड़ेगा। तब फिर उस कर्म का कोई कारण ढूँढ़ना होगा तथा वह अविवेक रूप होगा। इससे अनवस्था दोष की प्राप्ति हो जायेगी। इस कारण से अविवेक को अनादि माना जाना ही उचित होगा॥ १२॥

**( ४६९ ) न नित्यः स्यादात्मवदन्यथानुच्छित्तिः॥ १३॥**

**सूत्रार्थ**— आत्मवत् = आत्मा के समान, न नित्यः स्यात् = (अविवेक) नित्य नहीं है, अन्यथा = ऐसा न मानें, तो उसका; अनुच्छित्तिः = उच्छेद (नाश) नहीं होता।

**व्याख्या**— आत्मा अजर-अमर-अविनाशी है। वह कभी मृत्यु को नहीं प्राप्त होती तथा अविवेक अनित्य है। यदि अविवेक को अनित्य न माना जाये, तो वह भी विनाश को नहीं प्राप्त होगा। ऐसी स्थिति में विवेक ज्ञान के जाग्रत् हो जाने पर अथवा मोक्ष की प्राप्ति हो जाने पर भी अविवेक ज्ञान यथावत् बना रहेगा और मोक्ष द्वारा जिस ब्रह्ममय परमानन्द की प्राप्ति कही गई है,उसकी प्राप्ति नहीं हो पायेगी॥१३॥

**( ४७० ) प्रतिनियतकारणनाश्यत्वमस्य ध्वान्तवत्॥ १४॥**

**सूत्रार्थ**— ध्वान्तवत् = अन्धकार के समान, अस्य = इस (अविवेक) का, प्रतिनियतकारणनाश्यत्वं = प्रतिनियत अर्थात् विरोधी नियत कारण से नाश होता है।

**व्याख्या**— अन्धकार के समान अपने विरोधी (प्रतिनियत) कारण के द्वारा अविवेक का विनाश हो जाता है। जिस प्रकार से अन्धकार का विनाश अपने विरोधी निश्चित कारण प्रकाश से होता है, वैसे ही अविवेक का विनाश करने के लिए अपने निश्चित विरोधी विवेक की आवश्यकता पड़ती है। यहाँ सूत्र में यह स्पष्ट किया गया है कि जड़-चेतन अथवा प्रकृति एवं पुरुष के भेद का बोध (ज्ञान) हो जाना ही विवेक है। ज्ञान की प्राप्ति होने पर ही अज्ञानता की निवृत्ति हो जाती है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि अविवेक अनित्य है॥ १४॥

**( ४७१ ) अत्रापि प्रतिनियमोऽन्वयव्यतिरेकात्॥ १५॥**

**सूत्रार्थ**— अत्र-अपि = यहाँ भी (अविवेक एवं विवेक के अन्तर्गत) 'अन्वयव्यतिरेकात् = अन्वय एवं व्यतिरेक के द्वारा, प्रतिनियमः = निश्चित विरोधी भाव (नाश्यनाशक भाव) ज्ञात होता है।

**व्याख्या**— अन्धकार एवं प्रकाश की भाँति अविवेक एवं विवेक का भी अन्वय-व्यतिरेक द्वारा नियत विरोधी भाव सिद्ध होता है। विवेक में भी श्रवण, चिन्तन, मनन एवं ध्यान आदि ही कारण हैं। कर्म द्वारा विवेक का प्रकटीकरण नहीं होता। अतः कर्म का व्यतिरेक यानी कारण न मानना ही उचित है; क्योंकि कर्मादि तो विवेक के बाह्य अंग-अवयव हैं। सूत्रकार ने विवेक का निश्चित कारण अन्वयव्यतिरेक द्वारा इस प्रकार विवेचित किया है- आत्मविषयक, श्रवण, मनन-चिन्तन, निदिध्यासन, यम-नियम आदि

के पालन से समाधि लाभ प्राप्त होता है। इसके होने पर 'आत्म एवं अनात्म' विवेक की प्राप्ति होती है तथा इसके न होने से विवेक की प्राप्ति नहीं होती॥ १५॥

**( ४७२ ) प्रकारान्तरासंभवादविवेक एव बन्धः॥ १६॥**

**सूत्रार्थ—** प्रकारान्तरासंभवात् = अन्य किसी प्रकार से सम्भव न होने से, अविवेकः = अविवेक (विवेक रहित), एव = ही, बन्धः = बन्धन का कारण है।

**व्याख्या —** आत्मा का बन्धन में पड़ना अविवेक द्वारा ही संभव होता है। अविवेक के अतिरिक्त अन्य कोई दूसरा कारण जीवात्मा के बन्धन का नहीं हो सकता। अतः अविवेक ही एक मात्र आत्मा का बन्धन है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि प्रथमान्त पद मानने से कार्यकारण अभेद भावना द्वारा मात्र अविवेक ही आत्मा के बन्धन का मुख्य कारण सिद्ध होता है॥ **१६**॥

**( ४७३ ) न मुक्तस्य पुनर्बन्धयोगोऽप्यनावृत्तिश्रुतेः॥ १७॥**

**सूत्रार्थ—** अनावृत्तिश्रुतेः = अनावृत्ति बतलाने वाली श्रुति होने से, अपि = भी, मुक्तस्य = मुक्त पुरुष (आत्मा) का, बन्धयोगः = बन्धन में पड़ना, न = नहीं सिद्ध होता है।

**व्याख्या—** मुक्तात्मा- पुरुष का संसार में पुनः आगमन नहीं होता। मुक्तावस्था को प्राप्त पुरुष पुनः बन्धन में नहीं पड़ता। इस सन्दर्भ में छान्दोग्य उपनिषद् ८/१५ के सूत्र 'न च पुनरावर्तते' से भी प्रमाणित हो जाता है कि मुक्तावस्था में जन्म-मृत्यु का चक्र आवर्तित नहीं होता। इससे यह सिद्ध हुआ कि मुक्त हुआ पुरुष जन्म-मरण के चक्र से मुक्त हो जाता है। उसका पुनः आगमन नहीं होता। वह समस्त बन्धनों से मुक्त होकर मोक्ष प्राप्ति का अधिकारी हो जाता है॥ १७॥

**( ४७४ ) अपुरुषार्थत्वमन्यथा॥ १८॥**

**सूत्रार्थ—** अन्यथा = यदि ऐसा न मानें तो, अपुरुषार्थत्वम् = मोक्ष को पुरुषार्थमय नहीं मान पायेंगे अर्थात् मोक्ष अपुरुषार्थ हो जायेगा।

**व्याख्या—** यदि मुक्त हुए आत्मा का संसार में पुनः आगमन मान लें, तब तो मोक्ष की अवस्था ही परिवर्तित हो जायेगी। वह तो परम पुरुषार्थ ही न रह पायेगा। उसे अपुरुषार्थ ही कहना पड़ेगा। वह गतिशील जगत् की भाँति ही हो जायेगा, ऐसी स्थिति में तो उसके लिए शम-दम आदि साधन, यम-नियमादि का अनुष्ठान एवं समाधि जैसे सभी उपादान निरर्थक हो जायेंगे। अतः इससे मुक्तात्मा का पुनरागमन न होना ही सत्य सिद्ध होता है॥ १८॥

**( ४७५ ) अविशेषापत्तिरुभयोः॥ १९॥**

**सूत्रार्थ—** उभयोः = (बन्धन एवं मोक्ष) दोनों ही अवस्थाओं में, अविशेषापत्तिः = विशेषता न होने की प्राप्ति होगी।

**व्याख्या—** यदि मुक्तात्मा अथवा मुक्त पुरुष को इस संसार में पुनः वापस आया हुआ मानें, तो बन्धन एवं मुक्तावस्था इन दोनों की एक ही जैसी स्थिति हो जायेगी। इसके साथ ही पाप-पुण्य रूपी कर्मों में भी किसी तरह का कोई विशेष अन्तर नहीं होगा। अतः इस परिणाम के अनुसार कोई भी प्राणी कर्म न करके अकर्मण्य बन जायेगा तथा उसकी मुक्ति प्राप्त करने की आकांक्षा भी प्रायः समाप्त हो जायेगी॥१९॥

**( ४७६ ) मुक्तिरन्तरायध्वस्तेर्न परः॥ २०॥**

**सूत्रार्थ—** अन्तरायध्वस्तेः = विघ्न-बाधाओं के ध्वंस होने से, परः = अतिरिक्त, मुक्तिः = मुक्ति का (अन्य कोई स्वरूप), न = नहीं रहेगा।

**व्याख्या—** अन्तराय अर्थात् विघ्न-बाधाओं का पूरी तरह से विनाश होना ही मुक्ति है। इसके अतिरिक्त मुक्ति का और कोई भी स्वरूप नहीं है। नित्य-मुक्त आत्मा के स्वल्प साक्षात्कार में जो विघ्न-बाधाएँ हैं, उन्हें ही यहाँ सूत्र में 'अन्तराय' पद से संबोधित किया गया है। यह श्रेष्ठ अन्तराय (विघ्न बाधा) ही अविवेक है। अविवेक का बना रहना ही आत्मा का बन्धन और इसका अलग हो जाना ही आत्मा का मोक्ष है। मुक्तात्मा का पुन: आगमन मान लेने पर मुक्ति का स्वरूप अन्तराय के दूर होने तक ही सीमित रहता है। जिसके द्वारा सांसारिक कार्यों के विघ्न दूर हुए, यदि उसे ही मोक्ष की प्राप्ति होना मान लिया जायेगा, तब तो दु:खों की अत्यन्त निवृत्ति एवं ब्रह्मानन्द की प्राप्ति कभी नहीं हो पायेगी॥ २०॥

**(४७७) तत्राप्यविरोध:॥ २१॥**

**सूत्रार्थ—** तत्र-अपि = वैसा होने पर भी, अविरोध: = कोई विरोध नहीं है।

**व्याख्या—** विघ्न-बाधाओं के विनाश को ही यदि मोक्ष मान लिया जाये, तो उसमें भी कोई विरोध नहीं है; क्योंकि अन्तराय अविवेक का नाम है, जिसे दु:ख का कारण कहा गया है। इसलिए कार्यध्वंस या कारणध्वंस किसी रूप में भी कहकर मुक्ति का विवेचन किया जा सकता है। जब अविवेक जीवात्मा का बन्धन माना गया है, तब उसके कार्यों का विनाश होना भी एक पुरुषार्थ ही कहा जायेगा। पुरुषार्थ को बन्ध या भोग भी कहा गया है; किन्तु उस अवस्था का न रहना अत्यन्त पुरुषार्थ या परम पुरुषार्थ है। अत: इनको व्यवहार रूप में मानने से भी इनका पुरुषार्थ क्रिया में किसी भी तरह के विरोध की शंका करना बेकार है॥ २१॥

**(४७८) अधिकारित्रैविध्यान्न नियम:॥ २२॥**

**सूत्रार्थ—** त्रैविध्यात् = तीन प्रकार के, अधिकारी = अधिकारी होने से, नियम: = नियम, न = नहीं है।

**व्याख्या—** आत्मज्ञान प्राप्त करने वाले अधिकारी तीन प्रकार के कहे गये हैं, जिनमें से प्रथम उत्तम, द्वितीय मध्यम और तृतीय अधम (निकृष्ट)। इन्हें ही तीव्र,मध्य एवं मन्द कहा गया है। श्रवण मात्र से समस्त अधिकारियों को आत्मज्ञान की प्राप्ति हो जाये,ऐसा कोई भी नियम नहीं है। जो जन्म-जन्मान्तरों के संचित पूर्व संस्कारों के कारण श्रवण कर आत्मज्ञान प्राप्त कर लें,वे ही श्रेष्ठ-उत्तम अधिकारी माने जाते हैं। अन्य अधिकारियों को ऐसा नहीं होता; उन्हें लम्बे समय तक चिन्तन, मनन, निदिध्यासन, यम-नियम आदि का पालन एवं समाधि लाभ हेतु अन्य आवश्यक साधनों का प्रयासपूर्वक अनुष्ठान करना आवश्यक होता है। अत: यह जरूरी नहीं कि हर अधिकारी को श्रवण-मात्र से ही आत्मज्ञान की प्राप्ति हो जाये। उन्हें तो मात्र उनके द्वारा किये हुए साधन एवं दीर्घकालीन अभ्यास के आधार पर ही आत्मज्ञान की प्राप्ति होना संभव होता है॥ २२॥

**(४७९) दार्ढ्यार्थमुत्तरेषाम्॥ २३॥**

**सूत्रार्थ—** दार्ढ्यार्थम् = दृढ़ता के लिए, उत्तरेषां = अन्यों अर्थात् श्रवण से आगे मनन, निदिध्यासन आदि साधनों का भी प्रयोग करना चाहिए।

**व्याख्या—** श्रवण-मात्र से आत्मज्ञान होने एवं अन्तरायों (विघ्न-बाधाओं) का विनाश होने से यह सम्भावना हो सकती है कि कोई संस्कार शेष रहे और विघ्न-बाधा कहीं फिर न उभरकर आ जाये तथा अविवेक को विकसित होने का अवसर प्रदान कर दे। अत: अविवेक या विघ्न-बाधा के विनष्ट होने का दृढ़-विश्वास लेकर चिन्तन-मनन एवं यम-नियमादि का अभ्यास करते हुए समाधि लाभ प्राप्त करते

रहना चाहिए। अधिकारी को मध्यम व निकृष्ट (अधम) होने के अनुसार उसे दृढ़ समाधि लाभ हेतु प्रयासपूर्वक अभ्यास (साधन) करते रहना अत्यन्त आवश्यक कहा गया है॥ २३॥

**( ४८० ) स्थिरसुखमासनमिति न नियमः॥ २४॥**

**सूत्रार्थ—** स्थिरसुखमासनम् = जिस आसन से सुखपूर्वक स्थिर होकर बैठा जा सके, वही स्थिर आसन है, इति = इसलिए, उसके अतिरिक्त किसी आसन विशेष का, नियमः = नियम, न = नहीं है।

**व्याख्या—** जिस आसन के द्वारा सुखानुभूति हो तथा चित्त स्थिर रहे,उसी आसन से स्थिरतापूर्वक बैठकर अभ्यास करना चाहिए। अन्य किसी विशेष आसन-पद्मासन आदि से ही सिद्धि मिलेगी,ऐसा कोई विशेष नियम नहीं है। यहाँ स्थिर होने का यह भाव है कि हिले-डुले नहीं,स्थिर एवं शांत होकर बैठा रहे। यदि स्थिरता पूर्वक न बैठेंगे,तो चित्त एकाग्र नहीं होगा। अत: स्थिर एवं सुख पूर्वक बैठकर एकाग्र मन से अभ्यास(साधना)करने का ही इस सूत्र में उल्लेख किया गया है॥ २४

**( ४८१ ) ध्यानं निर्विषयं मनः॥ २५॥**

**सूत्रार्थ—** मनः = मन का, निर्विषयं = विषय रहित हो जाना ही, ध्यानम् = ध्यान है।

**व्याख्या—** आसन के स्थिर हो जाने से समस्त बाह्य इंद्रियाँ अपने-अपने विषयों का परित्याग कर देती हैं; किन्तु विषयों में वासना होने से मन की चञ्चलता अवरुद्ध नहीं होती। अत: मन को विषयों से अवरुद्ध करके आत्म-चिन्तन में लगाते हुए सदैव आत्मसाक्षात्कार के लिए प्रयत्नशील रहना चाहिए। मन जब विषय-वासनाओं से हटकर अलग हो जाता है, तभी वह एकाग्र हो पाता है। ऐसी ही उच्चस्थिति (अवस्था) को ध्यान कहा जाता है॥ २५॥

**( ४८२ ) उभयथाप्यविशेषश्चेन्नैवमुपरागनिरोधाद्विशेषः॥ २६॥**

**सूत्रार्थ—** उभयथा-अपि = ध्यान लगने या ध्यान न लगकर चञ्चलता बनी रहने वाली इन दोनों अवस्थाओं में भी, अविशेषः = आत्मा में कोई विशेषता नहीं होती, चेद् = यदि ऐसा कहें, तो यह कहना, न = नहीं, एवम् = इस प्रकार ध्यान आदि से, उपराग निरोधात् = विषयों एवं दु:ख आदि के निरोध से, विशेषः = आत्मा की विशेष अवस्थाओं का अनुभव प्राप्त होता है।

**व्याख्या—** यदि ऐसा कहें कि ध्यान आदि अवस्था प्राप्त हो अथवा न प्राप्त हो, बल्कि चञ्चलता बनी रहे, इन दोनों ही अवस्थाओं में आत्मा की कोई विशेष स्थिति नहीं देखी जाती। आत्मा असंग है और वह किसी भी स्थिति में एक जैसा रहता है, तब फिर ध्यान अथवा समाधि आदि की क्या आवश्यकता? यदि ऐसी आशंका कोई करे, तो इसका समाधान करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि उसका इस तरह भी आशंका करना उचित नहीं; क्योंकि विभिन्न विषय-भोगों के सम्पर्क से दु:ख-क्लेश आदि के कारण आत्मा की दु:खपूर्ण स्थिति बनी रहती है तथा दु:ख-क्लेश आदि के निवारण से शान्तचित्त एवं आत्मानन्द की प्राप्ति हेतु ध्यान आदि का अभ्यास अत्यधिक आवश्यक कहा गया है। भोग की स्थिति में आत्मा के जिस बोध की अनुभूति नहीं होती, वह ध्यान आदि की अवस्था में हो जाता है, यही उस उच्च स्थिति की विशेषता है॥ २६॥

**( ४८३ ) निःसङ्गेऽप्युपरागोऽविवेकात्॥ २७॥**

**सूत्रार्थ —** निःसंगे-अपि = संग रहित आत्मा में भी, अविवेकात् = अविवेक के कारण, उपरागः = विषयों की प्राप्ति होती है।

**व्याख्या—** आत्मा संगरहित है। नि:संग आत्मा में भोग-उपभोग रूपी दु:ख-क्लेशादि विषयोपराग

अविवेक के कारण ही होता है। आत्मा अविवेक द्वारा ही प्रकृति के सान्निध्य में आता है। यही आत्मा के भोग की अवस्था कहलाती है। जब प्रकृति-पुरुष के भेद का विवेक (आत्मज्ञान) जाग्रत् हो जाता है, तब इन उपरागों का भी पूर्णरूपेण विनाश हो जाता है तथा उस समय आत्मा अपने आत्मवत् रूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। उसे ही 'मोक्ष' की अवस्था कहा गया है॥ २७॥

**( ४८४ ) जवास्फटिकयोरिव नोपरागः किन्त्वभिमानः॥ २८॥**

**सूत्रार्थ**— जवास्फटिकयोः इव = जवा (गुड़हल) और स्फटिक के समान (बुद्धि का आत्मा में), उपरागः = विषयोपराग, न नहीं होता, किन्तु = परन्तु, अभिमानः = अनुभूति रूप भ्रम हो जाता है।

**व्याख्या**— जिस प्रकार जवा कुसुम (गुड़हल का पुष्प) स्फटिक मणि (बिल्लौर नामक पत्थर) के समीप रख देने से श्वेत स्फटिक लाल रंग का दृष्टिगोचर होने लगता है; किन्तु जब रक्ताभपुष्प उसके पास से हटा दिया जाता है, तब स्फटिकमणि अपने वास्तविक रंग की हो जाती है। ठीक ऐसे ही जीवात्मा में विषयोपराग नहीं है; लेकिन बुद्धि के राग-द्वेषादि धर्मों के सान्निध्य से आत्मा भी राग-द्वेषादि के परिणामस्वरूप क्लेशादि का अपने आप में ही अभिमान करने लगता है तथा जैसे ही आत्मज्ञान की प्राप्ति हो जाती है, वैसे ही आत्मा का वह भ्रम समाप्त हो जाता है॥ २८॥

**( ४८५ ) ध्यानधारणाभ्यासवैराग्यादिभिस्तन्निरोधः॥ २९॥**

**सूत्रार्थ**— ध्यानधारणाभ्यासवैराग्यादिभिः = ध्यान, धारणा अभ्यास एवं वैराग्य आदि के द्वारा, तत् निरोधः = उस विषयोपराग का निरोध हो जाता है।

**व्याख्या**— उन समस्त दुःख-क्लेशादि विषयोपरागों का निवारण ध्यान, धारणा, अभ्यास एवं वैराग्य आदि से होता है। यहाँ सूत्र में 'आदि' पद से उपरागों में दोष होने का ज्ञान मान लिया जाना चाहिए; क्योंकि विषयोपरागों के दोषों का विचार अभ्यास से होता है। अभ्यास द्वारा प्राणायाम एवं धारणा आदि से ध्यान (चिन्तन-मनन) की सिद्धि प्राप्त होना जानना चाहिए। साधक जिस समय ध्यान की उच्चस्थिति में पहुँच जाता है, उस समय वह अपने अन्तःकरण को सर्वथा निर्विषय करने का प्रयास करता रहता है। ध्यान की परिपक्वावस्था उस समय होती है, जब अपने अन्तस् में आत्मचिन्तन के सिवाय अन्य किसी भी तरह की वृत्ति का प्राकट्य होना पूर्णतः समाप्त हो जाता है। अष्टांग योग के उपक्रम द्वारा आत्मा के क्लेशादि विषयोपराग का पूर्णरूपेण निरोध (समापन) हो जाता है॥ २९॥

**( ४८६ ) लयविक्षेपयोर्व्यावृत्त्येत्याचार्याः॥ ३०॥**

**सूत्रार्थ**— लय = निद्रा एवं, विक्षेपयोः = विक्षेप में वृत्तियों की, व्यावृत्त्या = निराकरण के द्वारा विषयोपराग निःसृत होते हैं, इति = ऐसा, आचार्याः = आचार्य कहते हैं।

**व्याख्या**- निद्रावृत्ति का अपर नाम 'लय' होना है। इसमें सभी वासनाएँ निद्रा (अज्ञान) में विलीन हो जाती हैं। शेष चार प्रकार की विक्षेप-वृत्तियाँ निम्न हैं-१. प्रमाण २. विपर्यय ३. विकल्प एवं ४. स्मृति। ये सभी वृत्तियाँ ध्यान आदि की अवस्था प्राप्त हो जाने पर अवरुद्ध हो जाती हैं। इस प्रकार व्यावृत्ति द्वारा पुरुष (आत्मा) के विषयोपराग का निरोध हो जाता है और ध्यान के पूर्ण परिपक्वता को प्राप्त हो जाने पर आत्मा सभी तरह के दुःख-क्लेशादि उपरागों से मुक्त हो जाता है। यही सिद्धान्त सांख्याचार्यों का है। आचार्य कपिल के अनुसार-योग प्रक्रिया के निष्णात् आचार्यों का समाधि के सन्दर्भ में यही विचार पूर्वकाल से चला आ रहा है॥ ३०॥

**( ४८७ ) न स्थाननियमश्चित्तप्रसादात्॥ ३१॥**

**सूत्रार्थ—** चित्तप्रसादात् = चित्त की प्रसन्नता होने पर, स्थाननियम: = स्थान का कोई नियम, न = नहीं है।

**व्याख्या—** चित्त की प्रसन्नता से ही ध्यान आदि की सार्थकता (सफलता) सिद्ध होती है। यदि चित्त में 'विषाद' हो, तो फिर राग का निवारण ही क्या हुआ? चित्त यदि प्रसन्न है, तो कहीं पर भी, किसी भी स्थल में स्थिरतापूर्वक बैठकर ध्यान एवं धारणा आदि से समाधिलाभ प्राप्त किया जा सकता है। यहाँ सूत्र में 'चित्तप्रसाद' पद से यह भी स्वीकार किया जा सकता है कि जहाँ मन चाहे, वहीं साधना हेतु बैठा जा सकता है। इस हेतु मात्र किसी एक स्थल विशेष पर स्थित होने का कोई नियम नहीं है॥ ३१॥

**(४८८) प्रकृतेराद्योपादानतान्येषां कार्यत्व श्रुतेः॥ ३२॥**

**सूत्रार्थ—** प्रकृते: = प्रकृति की, आद्योपादानता = आदि उपादान कारण होना, अन्येषां = अन्य पदार्थों के, कार्यत्व = कार्यरूप होने का, श्रुते: = श्रुति अर्थात् वेद में प्रमाण होने से सिद्ध होता है।

**व्याख्या—** जगत् के प्रादुर्भूत समस्त पदार्थों का आदि उपादान अर्थात् प्रथम मूलकारण प्रकृति है अर्थात् यह जगत् प्रकृति द्वारा उत्पन्न होता है। इस कारण जगत् के सभी पदार्थ प्रकृति के कार्य हैं। ऐसा श्रुति-वेद (शब्द) प्रमाण के आधार पर निश्चित होता है। श्वे० ४/५, ऋ०- १०/१२९/२-३, ऋ०-१०/७२/२ एवं ऋ०- १०/७२/५ के प्रमाण से स्पष्ट हो जाता है कि प्रकृति ही सबका मूल उपादान है, यह वेद प्रमाण से सिद्ध होता है। देखें- ऋ०-१०/७२/२ की ऋचा- **देवानां पूर्व्ये युगेऽसतः सदजायत** अर्थात्- 'देवों की उत्पत्ति से पूर्व असत् (अप्रकट) से सत् उत्पन्न हुआ तत्पश्चात् दिशाएँ एवं वृक्ष उत्पन्न हुए।' ऐसे अनेकों शब्द प्रमाण वेद-शास्त्रों में उपलब्ध हैं॥ ३२॥

**(४८९) नित्यत्वेऽपि नात्मनो योग्यत्वाभावात्॥ ३३॥**

**सूत्रार्थ—** नित्यत्वे = नित्य होने पर, अपि = भी, योग्यत्वाभावात् = आत्मा में उपादान होने (किसी को उत्पन्न करने) की योग्यता का अभाव होने से, आत्मन: = आत्मा का उपादान कारण होना, न = संभव नहीं है।

**व्याख्या—** आत्मा नित्य होने के कारण किसी कार्य- पदार्थ आदि का उपादान कारण (उत्पन्न करने वाला) नहीं हो सकता; क्योंकि उसमें उत्पन्न करने की योग्यता का अभाव है। कोई वस्तु-पदार्थ नाशवान् नहीं है, तो वह उपादान कारण भी होगा, ऐसा नहीं माना जा सकता। सत्त्व, रजस्, तमस्— इन तीन गुणों में उपादान कारण का होना अर्थात् उत्पन्न करने की शक्ति का होना संभव है, आत्मा में नहीं। वह (आत्मा) तो गुण रहित, गुणों से अतीत एवं अपरिणामी है। अत: कूटस्थ नित्य आत्मा आवश्यक योग्यता के अभाव में किसी कार्य, वस्तु या पदार्थ का उपादान कारण नहीं हो सकता। उसके द्वारा ऐसा संभव नहीं है॥ ३३।

**(४९०) श्रुतिविरोधान्नकुतर्कापसदस्यात्मलाभः॥ ३४॥**

**सूत्रार्थ—** श्रुतिविरोधात् = श्रुति का विरोध होने से, कुतर्कापसदस्य = कुतर्की व्यक्ति को, आत्मलाभ: = आत्मसाक्षात्कार, न कभी भी नहीं हो सकता।

**व्याख्या—** जो व्यक्ति श्रुति-वेद का प्रमाण न होते हुए भी आत्मा को उपादानकारण (उत्पन्न करने वाला) मानते हैं, वे अपने इस प्रकार के कुतर्क के कारण ही भ्रम की अवस्था में पड़े रहते हैं। जब तक वे लोग श्रुति-वेद आदि के वचनों के अनुकूल अपने विचार को परिवर्तित नहीं कर लेते तथा साथ ही व्यर्थ के निन्दित विचार-कुतर्कों का परित्याग नहीं कर देते, तब तक उन लोगों को आत्मज्ञान का लाभ

कभी भी नहीं प्राप्त हो सकता है। वे आत्मा के यथार्थ रूप से सर्वथा अन्जान ही बने रहते हैं। आत्मा का अचेतन अथवा परिणामी स्वरूप कभी भी नहीं हो सकता। जो कुतर्की जन आत्मा के स्वरूप को इस प्रकार मानेंगे, वे कभी भी आत्मा की यथार्थता तक नहीं पहुँच पायेंगे और साथ ही वे सदा आत्म-साक्षात्कार के लाभ से वञ्चित बने रहेंगे॥ ३४॥

**( ४९१ ) पारम्पर्येऽपि प्रधानानुवृत्तिरणुवत्॥ ३५॥**

**सूत्रार्थ—** पारम्पर्ये = कार्य-कारण की परम्परा का क्रम होने पर, अपि = भी, अणुवत् = अणु के समान, प्रधानानुवृत्तिः = प्रधान की अनुवृत्ति रहती है।

**व्याख्या—** इस संसार में जितने भी पदार्थ हैं, वे सभी पञ्च भूतादि द्वारा प्रादुर्भूत हुए माने गये हैं; लेकिन वे सभी पदार्थ या पञ्चभूतादि की भी उत्पादक शक्ति किसी और में है। ऐसा अनुभव होने पर प्रकृति को ही उपादान अर्थात् उत्पादनकर्त्ता माना जाता है। इस प्रकार से कारण द्वारा कार्य के प्रादुर्भूत होने की परम्परा यथावत् बनी रहती है। जिस तरह से पृथिवी आदि के अणुओं को पृथ्वी की तरह मान करके उसके कारण को भी पूरी तरह से जाना जा सकता है। ठीक उसी प्रकार से संसार के समस्त पदार्थों को प्रधान-प्रकृति की अनुवृत्तिरूप (रचना के रूप) में माना जाता है॥ ३५॥

**( ४९२ ) सर्वत्र कार्यदर्शनाद्विभुत्वम्॥ ३६॥**

**सूत्रार्थ—** सर्वत्र = सभी जगह, कार्यदर्शनात् = कार्य के देखे जाने से, विभुत्वं = प्रकृति-मूल उपादान का विभु (विराट्) होना माना जाता है।

**व्याख्या—** इस संसार में सर्वत्र कार्य ही कार्य अर्थात् प्रादुर्भूत हुए पदार्थ ही दृष्टिगोचर होते हैं। इससे प्रकृति अर्थात् मूल उपादान तत्त्वों का व्यापक होना माना जाता है। सर्वत्र कार्यरूप में दृष्टिगोचर होने से यहाँ मूल उपादान (प्रकृति) को विभु कहा गया है। कार्य का अस्तित्व कारण के अस्तित्व के अभाव में असंभव है। जब कार्य सभी जगह है, तो कारण को भी होना ही चाहिए। इसी कारण से मूल उपादान कारण अर्थात् (उत्पन्नकर्त्ता) को विभु (विराट्) होना कहा गया है। मूल उपादान एक व्यक्ति रूप से सभी जगह संव्याप्त है, ऐसी भावना उसके विभु (विराट्) कहे जाने में नहीं है। आचार्य कपिल द्वारा प्रतिपादित सांख्य का यह सिद्धान्त गंभीरतापूर्वक विचार करने योग्य है॥ ३६॥

**( ४९३ ) गतियोगेप्याद्यकारणताऽहानिरणुवत्॥ ३७॥**

**सूत्रार्थ—** गतियोगे - अपि = गति (क्रिया) का योग-सम्बन्ध होने पर भी, अणुवत् = अणु के समान, आद्यकारणता = मूल उपादानता की, अहानिः = हानि नहीं होती।

**व्याख्या—** जिस प्रकार गतिशीलता होने पर भी अणु का स्थूल पदार्थों के मूल उपादान कारण होने वाले सिद्धान्त की हानि नहीं होती,उसी प्रकार सत्त्व, रजस्, तमस्- इन तीनों गुणों के क्रियाशील होने पर भी उन सभी को मूल उपादान कारण माना जाने वाला सिद्धान्त अमान्य नहीं होता है।

इसका कारण इन तीनों गुणों की समान अवस्था ही प्रकृति है तथा यह सम्पूर्ण संसार उसी सूक्ष्म प्रकृति का ही कर्म है। प्रकृति की क्रियाशीलता उसकी तीनों गुणों से युक्त क्षोभ वाली गतिशीलता ही समझनी चाहिए॥ ३७॥

**( ४९४ ) प्रसिद्धाधिक्यं प्रधानस्य न नियमः॥ ३८॥**

**सूत्रार्थ—** प्रधानस्य = प्रधान (प्रकृति) की, आधिक्यं = अधिकता, प्रसिद्ध = प्रसिद्धि से है, अतः; नियमः = (यह) नियम, न = नहीं है। (कि ठीक देखे जैसा ही मूल उपादान हो)।

**व्याख्या**— पृथिवी आदि तत्त्वों के दृष्टिगोचर होने पर तथा उन्हें प्रधान अर्थात् मूल उपादान का (प्रकृति का) कार्य मान लेने वाली प्रसिद्धि होने से प्रकृति का पृथिवी आदि तत्त्वों से विशिष्ट होना ज्ञात होता है। यह नियम नहीं है कि जिस प्रकार पृथिव्यादि तत्त्व इन्द्रिय आदि के द्वारा अवगत होते हैं, ठीक उसी प्रकार मूल उपादान तत्त्व हो। सर्ग रचना के शुरू में मूल उपादान तत्त्वों से परिणाम की विविध भूमिकाओं को पार कर पृथिवी आदि मूल तत्त्वों का प्राकट्य होता है। अतः पृथिवी आदि के साथ मूल उपादान की सर्वात्मना समानता असंभव है। कार्य कारण में मात्र त्रिगुणात्मकता की समानता रहती है। कार्य मात्र तो तीनों गुणों से बाहर नहीं है, जो कारण का रूप है। वस्तुतः चेतन एवं अचेतन, प्रकाश एवं अन्धकार की भाँति आपस में सदैव विरुद्ध स्वभाव वाले जो तत्त्व हैं, उनमें से किसी भी एक का दूसरे के रूप में परिणत होना संभव नहीं। अतः कार्यकारण की विलक्षणता के आधार पर अचेतन जगत् को चैतन्य ब्रह्म का परिणाम मान लेना अप्रामाणिक होगा॥ ३८॥

**( ४९५ ) सत्त्वादीनामतद्धर्मत्वं तद्रूपत्वात्॥ ३९॥**

**सूत्रार्थ**— सत्त्वादीनां = सत्त्व आदि गुणों का, तद्रूपत्वात् = उपादानरूप होने से, अतद्धर्मत्वं = मूल उपादान का धर्म होना नहीं कह सकते।

**व्याख्या**— सत्त्व, रजस्, तमस् - ये तीनों गुण मूल उपादान (प्रकृति) के धर्म नहीं हैं, वरन् प्रकृति अर्थात् मूल उपादान रूप ही हैं; क्योंकि इनकी समान अवस्था ही प्रकृति है। यदि ये गुण प्रकृति से पृथक् होते, तो इन्हें उसका धर्म होना माना जा सकता था। सांख्य के अन्तर्गत इन्हें 'गुण' नाम से अभिहित किया गया है, जो कि इनके स्वरूप की विशिष्टता पर अवलम्बित है। ये तीनों गुण ही संसार के मूल उपादान हैं एवं आत्मा के भोग अथवा मोक्ष के सम्पादनार्थ संसार में प्रकृति रचना सम्पन्न करते हैं॥ ३९॥

**( ४९६ ) अनुपभोगेऽपि पुमर्थं सृष्टिः प्रधानस्योष्ट्रकुंकुमवहनवत्॥ ४०॥**

**सूत्रार्थ**— अनुपभोगे-अपि = उपभोग न करने पर भी, उष्ट्रकुंकुमवहनवत् = ऊँट द्वारा केशर ढोने के समान, पुमर्थं = चेतन पुरुष के लिए, प्रधानस्य = प्रधान (प्रकृति) का, सृष्टिः = सृष्टि रचना कार्य चलता है।

**व्याख्या**— इस सूत्र में सूत्रकार ने केशर एवं उसके वाहन ऊँट के उदाहरण द्वारा जगत् की रचना-तीनों गुणों-सत्त्व,रजस् व तमस् के द्वारा होने की बात स्पष्ट की है। जिस प्रकार से ऊँट अपने ऊपर केशर को ढोकर ले जाता है; लेकिन वह उस केशर का कुछ भी उपभोग नहीं कर पाता, यह सब क्रियाएँ वह दूसरों के निमित्त करता रहता है। ठीक ऐसे ही प्रधान (प्रकृति) द्वारा सृष्टि रचना का यह सब कार्य मात्र आत्मा के उपभोग के लिए ही होता है; क्योंकि आत्मा को भोग एवं मोक्ष की प्राप्ति हेतु ही प्रकृति की प्रवृत्ति कही गई है।

प्रकृति द्वारा इस संसार की संरचना उसके स्वयं के उपभोग के लिए नहीं होती, वरन् यह सम्पूर्ण सृष्टि पुरुष (आत्मा) के उपभोग के लिए होती है। चेतन आत्मा इसमें भोक्ता के रूप में विद्यमान रहता है। आत्मा में भोग एवं मोक्ष को पूर्ण करने हेतु ही संसार की सृष्टि होती है। इसका वर्णन पूर्व के अध्यायों (२/१ एवं ३/५८) में भी किया जा चुका है॥ ४०॥

**( ४९७ ) कर्मवैचित्र्यात् सृष्टिवैचित्र्यम्॥ ४१॥**

**सूत्रार्थ**— कर्मवैचित्र्यात् = कर्मों की विचित्रता से, सृष्टिवैचित्र्यम् = सृष्टि की विविधता होती है।

जीवात्मा को अपने कर्मानुसार ही उपभोग रूप साधन प्राप्त होते रहते हैं। इसके अतिरिक्त त्रिगुणात्मक सत्त्व, रजस्, तमस् की विभिन्न क्रियाओं का भिन्न-भिन्न रूपों में प्रकट होना भी जगत् की विचित्रता का कारण है। ये उपादान कारण एक-दूसरे के साथ जितने रूपों में संगठित होते हैं, उनकी गणना करना अत्यन्त दु:साध्य कार्य है। अत: उन अनन्त कोटि के संघटकों के आधार पर जो कार्य उभर कर आते हैं, वे विभिन्न रूपों में संभव हो सकते हैं। अत: इस प्रकार से कर्म ही जगत् की अनेक रूपता का प्रमुख कारण है॥ ४१॥

## ( ४९८ ) साम्यवैषम्याभ्यां कार्यद्वयम्॥ ४२॥

**सूत्रार्थ**— साम्यवैषम्याभ्यां = साम्य एवं वैषम्य रूप से (मूल उपादान के), कार्यद्वयम् = कार्य दो प्रकार से होते हैं।

**व्याख्या**— मूल उपादान तत्त्वों द्वारा सरूप-विरूप अथवा सृष्टि-प्रलय प्राय: दो प्रकार के कार्य माने गये हैं। सरूप परिणाम वाली अवस्था साम्य होती है, इसे प्रलयकाल के रूप में जाना जाता है। दूसरी अवस्था विरूप है- विरूप परिणाम से विचित्र रूप वाली सृष्टि प्रादुर्भूत होती है। प्रथम अवस्था सरूप में सभी कार्य एक मात्र कारण रूप में लीन हो जाते हैं और दूसरी अवस्था विरूप में कार्य अपने-अपने स्वरूप में उत्पन्न हो जाते हैं॥ ४२॥

## ( ४९९ ) विमुक्तबोधान्न सृष्टिः प्रधानस्य लोकवत्॥ ४३॥

**सूत्रार्थ**— विमुक्तबोधात् = विमुक्त (आत्मसाक्षात्कार) का बोध हो जाने से, लोकवत् = लोक के समान, प्रधानस्य = प्रधान (प्रकृति) की, न सृष्टि: = सृष्टि नहीं होती।

**व्याख्या**— जिस मुक्तात्मा (पुरुष) को विवेक-ज्ञान के द्वारा आत्मसाक्षात्कार हो जाता है, उस मुक्त पुरुष के लिए प्रधान (प्रकृति) की सृष्टि-संरचना नहीं होती। सांसारिक भोगों के अतिरिक्त मुक्तात्मा के आत्मबोध के लिए भी प्रकृति द्वारा जगत् के संरचना की आवश्यकता होती है। जब पुरुष का आत्मसाक्षात्कार का प्रयोजन पूर्ण हो जाता है, तब उसे प्रकृति के सम्पर्क में रहने की आवश्यकता नहीं रहती। वह बन्धन मुक्त होकर मोक्ष प्राप्त कर लेता है। सांख्य में इस अवस्था का उल्लेख इस प्रकार किया जाता है कि उस मुक्त पुरुष के लिए प्रकृति अपना कार्य करना छोड़ देती है। प्राय: लोक (संसार) में यह देखा जाता है कि जिस प्रकार कोई व्यक्ति सांसारिक भोगों में बँध जाता है तथा प्रयत्न करने पर वह बन्धन से मुक्त हो जाता है, तब बन्धन में डालने वाला वह कार्य उसके लिए समाप्त हो जाता है। उसी प्रकार बन्धन को नष्ट करने वाले विवेक द्वारा आत्मसाक्षात्कार होने पर, प्रकृति उस मुक्त हुए पुरुष के लिए बन्धन वाला कार्य नहीं करती। मुक्तात्मा के लिए प्रकृति की यही स्थिति होती है॥४३॥

## ( ५०० ) नान्योपसर्पणेऽपि मुक्तोपभोगो निमित्ताभावात्॥ ४४॥

**सूत्रार्थ**— अन्योपसर्पणे = अन्य (दूसरों) के लिए प्रकृति का कार्य संचालन होते रहने पर, अपि = भी, निमित्ताभावात् = निमित्त का अभाव होने से, मुक्तोपभोग: = मुक्त को उपभोग, न = नहीं होता।

**व्याख्या**— अन्य दूसरे बन्धन में पड़े हुए पुरुषों के लिए जन्म-मृत्यु के चक्र में डालकर भोगों का उपभोग कराने वाला प्रकृति का कार्य चलता रहता है। उसके न रुकने पर भी मुक्तात्मा के लिए उन कार्यों की आवश्यकता न होने से उसके लिए उपभोग का कोई निमित्त नहीं होता; क्योंकि उपभोग का निमित्त 'अविवेक' उस स्थिति में नहीं रहता। अविवेक आत्मा को प्रकृति के सम्पर्क में लाता है तथा यह सम्पर्क होने पर ही भोग की संभावना बनती है। जब मूल निमित्त अविवेक न रहा, तब भोग किस तरह

से होगा। अत: प्रधान के कार्यक्रम का प्रवाह सतत बाधारहित प्रवाहित होने पर भी विवेकवान् आत्मा अपने आपको उससे अलग कर लेता है॥ ४४॥

**( ५०१ ) पुरुषबहुत्वं व्यवस्थात:॥ ४५॥**

**सूत्रार्थ**— व्यवस्थात: = व्यवस्था (अवस्था भेद) के कारण, पुरुषबहुत्वं = पुरुष (आत्मा) का बहुत होना सिद्ध होता है।

**व्याख्या**— पुरुष के विभिन्न तरह के सुख-दु:ख, जन्म-मृत्यु एवं बन्ध-मोक्ष आदि की व्यवस्था (अवस्था भेद) से यह निश्चित (सिद्ध) होता है कि वह (पुरुष) बहुत है। सुख-दु:ख, राग-द्वेषादि की विविध अवस्थाएँ व्यक्ति में प्राप्त होती हैं। कोई सुखी रहता है, तो कोई दु:खी। इस प्रकार एक जैसी स्थिति सभी की नहीं होती। यदि सभी में एक ही पुरुष होता तो किसी को सुख और किसी को दु:ख नहीं होता, सभी पुरुष सुखी अथवा दु:खी होते। किसी एक पुरुष के मुक्त होने पर सभी मुक्ति प्राप्त कर लेते या बन्धन में पड़े पुरुषों के साथ मुक्त भी दिखलाई पड़ते। इस तरह न होने से पुरुष की बहुलता सिद्ध होती है॥ ४५॥

**( ५०२ ) उपाधिश्चेत्तत्सिद्धौ पुनर्द्वैतम्॥ ४६॥**

**सूत्रार्थ**— चेत् = यदि, उपाधि: = उपाधि को उक्त व्यवस्था (अवस्था भेद) का नियामक मानें, तत्सिद्धौ = तो उसकी सत्यता सिद्ध होने पर, पुन: = फिर, द्वैतम् = अनेकता के सिद्धांत को मानना पड़ेगा।

**व्याख्या**— स्वयं अपने निज स्वरूप को दूसरे किसी अन्य रूप में ले जाकर उद्भासित करने की प्रक्रिया को उपाधि कहा जाता है। यदि जन्म-मृत्यु आदि को उपाधि भेद से एक पुरुष अर्थात् आत्मा के ही विभिन्न रूप मान लें, तो ऐसा मान लेने से ही एक होना सिद्ध होता है, इस स्थिति में उपहित अर्थात् जिसमें उपाधि रखी गई, वह और उपाधि- ये दोनों अभिन्न हो गये। केवल नाम का ही भेद है, चाहे उपाधि कहिए या आत्मा कहिए, 'वस्तु' एक ही है। जब उपाधि अनेक हो गई, तो आत्मा को भी अनेक मानना पड़ेगा। इसके द्वारा भी यही सिद्धान्त मानना होगा कि पुरुष (आत्मा) एक नहीं, अनेक रूप है॥ ४६॥

**( ५०३ ) द्वाभ्यामपि प्रमाणविरोध:॥ ४७॥**

**सूत्रार्थ**— द्वाभ्यां = अविद्या एवं पुरुष-इन दो तत्त्वों को मानने पर, अपि = भी, प्रमाणविरोध: = प्रमाण का विरोध उपस्थित होगा।

**व्याख्या**— यदि उपाधि को अविद्या द्वारा प्रादुर्भूत हुआ मानें, तो अविद्या के अस्तित्व को ग्रहण करना होगा। यदि ऐसा न स्वीकारें, तो अविद्या का अस्तित्व न होने से जन्म-मृत्यु आदि की व्यवस्था (अवस्थाएँ) न रहेगी। इस प्रकार से अविद्या का अस्तित्व सिद्ध होता है और प्रतिवादी जन जिस प्रमाण के आधार पर एक मात्र वस्तु का अस्तित्व स्वीकारते हैं (एकमेवाद्वितीयम्) वह असिद्ध होने लगेगा। इस स्थिति में अविद्या और आत्मा को अलग-अलग मानना पड़ेगा, तब लोक एवं प्रमाण सिद्ध जन्म-मरण आदि की व्यवस्था आत्मा को अनेक माने बिना सम्पन्न नहीं हो सकती ॥ ४७॥

**( ५०४ ) द्वाभ्यामप्यविरोधान्न पूर्वमुत्तरं च साधकाभावात्॥ ४८॥**

**सूत्रार्थ**— द्वाभ्यां-अपि = दोनों का अस्तित्व मानने से भी, अविरोधात् = विरोध न होने के कारण, साधकाभावात् = साधक प्रमाण के अभाव से, पूर्व-उत्तरं-च = प्रथम (पूर्व) कथन और उत्तर-अगला कथन, न = ठीक सिद्ध नहीं होता।

**व्याख्या**— यदि अविद्या एवं पुरुष के अस्तित्व को माना जाता है, तो इसमें किसी भी तरह का विरोध नहीं; किन्तु प्रथम पक्ष वालों का यह कथन आत्मा के जन्म-मृत्यु आदि बन्धन की व्यवस्था (अवस्था भेद से) उपाधि द्वारा पूर्ण होती है, ऐसा कभी भी नहीं माना जा सकता। दूसरी बात यह है कि आत्मा या पुरुष एक ही स्वीकार कर लेना चाहिए तथा एक ही आत्मा भिन्न-भिन्न रूपों में दृष्टिगोचर होता है- यह मानने योग्य नहीं है; क्योंकि इन दोनों मान्यताओं को सिद्ध करने के लिए कोई उपयुक्त साधक प्रमाण प्राप्त नहीं होता॥ ४८॥

**(५०५) प्रकाशतस्तत्सिद्धौ कर्मकर्तृविरोधः॥ ४९॥**

**सूत्रार्थ**— प्रकाशतः = स्वप्रकाश होने से, तत् सिद्धौ = उस आत्मा की सिद्धि मानने पर, कर्मकर्तृविरोधः = कर्म और कर्त्ता का विरोध होगा।

**व्याख्या**— यदि कहा जाए कि स्वप्रकाश आत्मा अपने एकत्व रूप को सिद्ध करने में स्वतः साधन हो जाएगा, अन्य साधक प्रमाण की क्या आवश्यकता? इस पर सूत्रकार कहते हैं- यदि प्रकाश या ज्ञान को ही आत्मा (पुरुष) स्वरूप या आत्मा को प्रमाणित करने वाला माना जाये, तो कर्म और कर्त्ता का विरोध होगा। स्वयं में कोई एक कर्म एवं कर्त्ता-दोनों नहीं हो सकता। जब कोई एक कर्म है, तो वह स्वयमेव उसी समय में कर्त्ता नहीं हो सकता और यदि वह कर्त्ता है, तो कर्म नहीं हो सकता। कोई भी एक व्यक्ति एक ही समय में एक ही कार्य के प्रति कर्म और कर्त्ता दोनों नहीं हो सकता। इसी प्रकार स्वप्रकाशक भी एक मात्र पुरुष स्वयं प्रकाशक और स्वयमेव प्रकाश्य हो- ऐसा होते नहीं देखा जाता। सांख्य में आत्मा के प्रकाशरूप होने पर भी उसका बोध बुद्धि के सहयोग से ही होता है। ज्ञान भी कर्म है, उसी से आत्मा का ज्ञानवान् होना कहा जा सकता है; किन्तु ज्ञान का ज्ञानी होना नहीं माना जा सकता। ज्ञान और ज्ञानी अलग-अलग ही होंगे। अतः पुरुष का अनेक होना अनिवार्य रूप से सिद्ध होता है॥ ४९॥

**(५०६) जडव्यावृत्तो जडं प्रकाशयति चिद्रूपः॥ ५०॥**

**सूत्रार्थ**— जडव्यावृत्तः = जड़ तत्त्व से सर्वथा विपरीत, चिद्रूपः = चैतन्य तत्त्व (प्रकाश रूप) आत्मा, जडम् = जड़ तत्त्व को, प्रकाशयति = प्रकाशित (प्रेरित) करता है।

**व्याख्या**— चैतन्य आत्मा अचेतन (जड़) तत्त्व से पूर्णरूपेण पृथक् है। उसी चैतन्यमय पुरुष के द्वारा अचेतन शरीर की सभी क्रियायें गतिशील रहती हैं। यहाँ सूत्र में 'प्रकाशयति' पद प्रेरित करने के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इस तरह से चैतन्य पुरुष की प्रेरणा द्वारा ही अचेतन (जड़) शरीर सक्रिय होता है, यही पूर्णतया सत्य सिद्ध होता है। सांख्य में प्रायः यह माना जाता है कि आत्मबोध बुद्धि के सहयोग से प्राप्त होता है। यह मान्यता उक्त वर्णन के सर्वथा विपरीत है; क्योंकि यहाँ जड़ बुद्धि चेतन आत्मतत्त्व को साक्षात् कराकर उसे उद्भासित करती है, यहाँ इसका यही भाव है; किन्तु ऐसा मानना ठीक नहीं। यथार्थतः बुद्धि में आत्मबोध के लिए सहयोग देने की सामर्थ्य आत्मतत्त्व की सन्निकटता से ही सम्भव है। चेतन सहकृत बुद्धितत्त्व अपने सभी कार्य सम्पन्न करने में सक्षम होता है, इसके विपरीत नहीं। अतः बुद्धि मात्र साधन है, नियामक सत्ता नहीं॥ ५०॥

**(५०७) न श्रुतिविरोधो रागिणां वैराग्याय तत्सिद्धेः॥ ५१॥**

**सूत्रार्थ**— रागिणां = राग-विषयों में आसक्त मनुष्यों को, वैराग्याय = वैराग्य के लिए आदेश होने की, तत्सिद्धेः = उसकी सिद्धि से, इसमें, श्रुतिविरोधः = आत्मा की अनेकता का श्रुति के साथ कोई विरोध, न = नहीं है।

**व्याख्या**— आत्मा की अनेकता इस बात से भी सिद्ध होती है कि विषयों में आसक्त हुए मनुष्यों के लिए वैराग्य का नियम निश्चित किया गया है। विषयासक्त मनुष्यों में वैराग्य की भावना जाग्रत् करने के लिए शास्त्रोक्त विवेचन प्रस्तुत किये गये हैं। सब कुछ आत्मा है, वही सत्य तत्त्व है, उसके सिवाय सब असत्य है, ऐसा आत्म विषयक वर्णन अथवा आत्मिक विषय से सम्बन्धित साक्षात्कार पुरुष में जगत् के प्रति वैराग्य की भावना जाग्रत् करता है।

यह भावना ही आत्मज्ञान के पथ में सहयोगी होती है। इस प्रकार से वैराग्य के लिए प्रोत्साहन होने से श्रुति प्रमाण द्वारा विरोध नहीं होता है॥ ५१॥

**( ५०८ ) जगत्सत्यत्वमदुष्टकारणजन्यत्वाद्बाधकाभावात्॥ ५२॥**

**सूत्रार्थ**— अदुष्टकारणजन्यत्वात् = दोषरहित कारणों से उत्पन्न होने से, (तथा सत्य होने में) बाधकाभावात् = निषेध का कोई प्रमाण न होने से, जगत्सत्यत्वं = जगत् का सत्य होना सिद्ध होता है।

**व्याख्या**— किसी भी वस्तु या पदार्थ का सत्य सिद्ध होना अर्थात् उसका अस्तित्व उसके साधक प्रमाणों के होने एवं बाधक-निषेधक प्रमाणों के न होने पर आश्रित रहता है। इस रूप में हम देखते हैं कि जगत् प्रत्यक्ष रूप में स्थित है, अत: वह सत्य है। किसी पदार्थ को असत्य सिद्ध करने के लिए प्रमाण की आवश्यकता होती है तथा जगत् के असत्य सिद्ध होने के सम्बन्ध में किसी भी तरह का प्रमाण प्राप्त नहीं है, इस कारण से भी यह सत्य है।

यह त्रिगुणात्मक जगत् सत्त्व, रजस्, तमस्- इन तीनों गुणों के मूल उपादान तत्त्वों द्वारा प्रादुर्भूत हुआ है तथा यह प्रकृति रूप तीनों गुण निर्दोष हैं, अत: इस कारण से भी जगत् को असत्य नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार नश्वर होते हुए भी जगत् का सत्य होना सिद्ध होता है। वेदों में अदिति, स्वधा, त्रिधातु आदि के रूप में भी मूल उपादान तत्त्वों की सत्यता का विवेचन स्पष्टतया किया गया है॥ ५२॥

**( ५०९ ) प्रकारान्तरासंभवात्सदुत्पत्ति:॥ ५३॥**

**सूत्रार्थ**— प्रकारान्तरासंभवात् = अन्य किसी प्रकार के असंभव होने से, सदुत्पत्ति: = सत् से सत् की उत्पत्ति होना सिद्ध होता है। (यही स्वीकार करना अभीष्ट होगा)।

**व्याख्या**— अन्य किसी भी प्रकार के असम्भव होने से जगत् सत् रूप में सत् द्वारा प्रादुर्भूत होता है, यही सत्य सिद्धान्त है। सांख्य के अन्तर्गत न असत्य का प्राकट्य होता है, न ही असत् द्वारा प्राकट्य होता है तथा न ही अन्य दूसरे से किसी ऐसे प्रकार की सम्भावना है, जिसके द्वारा जगत् के प्रकटीकरण का निश्चित् नियम प्रतिपादित किया जा सके। अत: सत् द्वारा सत् का प्रदुर्भाव होता है अर्थात् सत्य प्रकृति से प्रकट होने के कारण जगत् सत्य है, यही मानना अभीष्ट होगा॥ ५३॥

**( ५१० ) अहंकार: कर्त्ता न पुरुष:॥ ५४॥**

**सूत्रार्थ**— अहङ्कार: = अहंकार, कर्त्ता = कर्त्तापन की भावना का प्रयोजक है, न पुरुष: = केवल पुरुष ही नहीं।

**व्याख्या**— अहंकार ही कर्त्तापन (सुख-दु:ख) की भावना का प्रयोजक है; क्योंकि कर्त्ता एवं भोक्ता की भावना अहंकार द्वारा उद्‍भूत होती है। जैसे-'मैं कर रहा हूँ', 'मैं भोग रहा हूँ' आदि भावना अहंकार के सम्पर्क में आने से प्रकट होती है। मात्र पुरुष में इस प्रकार की भावना नहीं होती। इसलिए केवल पुरुष में कर्त्तापन की भावना नहीं की जाती। अत: पुरुष को कर्त्ता न स्वीकारते हुए मात्र अहंकार को ही स्वीकारना उचित होगा॥ ५४॥

**( ५११ ) चिदवसाना भुक्तिस्तत्कर्मार्जिततत्वात्॥ ५५॥**

**सूत्रार्थ**— तत्कर्मार्जिततत्वात् = उस (चेतनकृत-आत्मा) के कर्मों के द्वारा अर्जित होने से, भुक्तिः = भोग का, अवसाना = अवसान (समाप्ति या प्राप्ति), चित् = चेतन में है।

**व्याख्या**— भोग की समाप्ति या प्राप्ति चेतन पर होती है; क्योंकि वह (भोग) चेतन के कर्मों द्वारा अर्जित होता है। अहंकार को कर्त्ता मानने पर भी भोग चेतन आत्मा को ही मिलता है; लेकिन इसमें शंका यह होती है कि अहंकार कर्त्ता है, तो फिर भोक्ता भी वह क्यों नहीं है? तब इसका समाधान यह होता है कि अपने-अपने अहंकार (अन्तःकरण) के द्वारा किये हुए कर्म, उस आत्मा के ही कर्म हैं। अतः एक के कर्म का फल दूसरे को मिलने का दोष सिद्ध नहीं होता॥ ५५॥

**( ५१२ ) चन्द्रादिलोकेऽप्यावृत्तिर्निमित्तसद्भावात्॥ ५६॥**

**सूत्रार्थ**— निमित्तसद्भावात् = आवृत्ति का कारण निमित्त (अविवेक) के बने रहने से, चन्द्रादिलोके = चन्द्र आदि लोक में पहुँचने के बाद, अपि = भी, आवृत्तिः = आवृत्ति अर्थात् वापस आगमन होता है।

**व्याख्या**— कर्मों के फल का उपभोग करने के लिए चन्द्र आदि लोकों में जाने के पश्चात् वहाँ के सुख-दुःख आदि को भोगकर पुनः संसार में वापस आना पड़ता है। इसका कारण यह है कि जन्म-जन्मान्तर का अज्ञान पूर्णतया नष्ट नहीं हो पाता तथा जब तक अज्ञान बना रहता है, तब तक संसार में आवागमन भी नहीं अवरुद्ध होता, इससे यही सिद्ध होता है कि अविवेक के द्वारा ही जन्म-मृत्यु एवं ऊर्ध्व के लोकों से भी आत्मा का पुनरावर्तन होता रहता है॥ ५६॥

**( ५१३ ) लोकस्य नोपदेशात् सिद्धिः पूर्ववत्॥ ५७॥**

**सूत्रार्थ**— पूर्ववत् = पूर्व-पहले लोक के समान, लोकस्य = किसी भी लोक निवासी के, उपदेशात् = उपदेश मात्र से, सिद्धिः = विवेक की सिद्धि, न = नहीं प्राप्त हो जाती।

**व्याख्या**— जैसे-पूर्व-प्रथम (इह) लोक की भाँति केवल उपदेश श्रवण मात्र से विवेक की सिद्धि नहीं प्राप्त हो जाती, वैसे ही अन्य चन्द्रादि लोकों में निवास करने वाले पुरुष के उपदेश मात्र से विवेक की सिद्धि असम्भव है। कर्मफल का उपभोग आत्मा चाहे किसी भी स्थिति या लोक में करे, विवेक सम्मत शास्त्रों का अध्ययन करे या उपदेश श्रवण करे; किन्तु जब तक फलों के उपभोग या विषयों में आसक्ति बनी रहेगी, तब तक आत्मबोध रूपी विवेक की प्राप्ति असम्भव ही होगी। विवेक की प्राप्ति तो विषयों का परित्याग करके उचित साधनों द्वारा ही सम्भव होगी-ऐसी पुष्टि पूर्वोक्त सूत्रों में भी की जा चुकी है॥ ५७॥

**( ५१४ ) पारम्पर्येण तत्सिद्धौ विमुक्तिश्रुतिः॥ ५८॥**

**सूत्रार्थ**— पारम्पर्येण = परम्परा से, तत्सिद्धौ = विवेक की सिद्धि होने पर, विमुक्तिश्रुतिः = मोक्ष श्रुति-सम्मत है।

**व्याख्या**— परम्परा से यही होता चला आ रहा है कि जब मनुष्य को आत्म-ज्ञान सम्बन्धी शास्त्रादि के अध्ययन या उपदेश श्रवण आदि से किसी प्रकार विषयों से दृढ़ वैराग्य (विरक्ति) हो जाता है, तभी उसे श्रवण, चिन्तन-मनन एवं यम-नियमादि के अभ्यास द्वारा विवेक सिद्धि होती है। विवेक अर्थात् आत्म-ज्ञान की प्राप्ति होने पर मुक्ति मिलना सम्भव होता है, ऐसा ही श्रुति वचन है- **'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति,'** (यजु० ३१/१८) **'आत्मानं चेद्विजानीयात्'** (बृह०४/४/१२) इत्यादि। इन वैदिक

**विदित्वाऽतिमृत्युमेति,**'(यजु० ३१/१८) **'आत्मानं चेद्विजानीयात्**'(बृह०४/४/१२) इत्यादि। इन वैदिक प्रमाणों के अनुसार आत्मसाक्षात्कार करके मोक्ष प्राप्ति का कथन सत्य सिद्ध होता है। यह आत्म-दर्शन यम-नियमादि का पालन, वैराग्य, प्राणायाम एवं ध्यान आदि के सतत अभ्यास से होता है॥ ५८॥

**( ५१५ ) गतिश्रुतेश्च व्यापकत्वेऽप्युपाधियोगाद्भोगदेशकाललाभो व्योमवत्॥५९॥**

**सूत्रार्थ**— च = और, गतिश्रुतेः = गति सुनने से, व्यापकत्वे = आत्मा के व्यापक होने पर , अपि = भी, व्योमवत् = आकाश के समान, भोगदेशकाललाभः = भोगदेश की प्राप्ति और भोगकाल की प्राप्ति, उपाधियोगात् = शरीर आदि के सम्पर्क से होती है।

**व्याख्या**— गति श्रुति से यह विवेक होने पर कि आत्मा एक प्रदेश (क्षेत्र) से दूसरे प्रदेश में पहुँच जाने की योग्यता रखता है। वह भोग देश अथवा भोग काल स्वयं ही ग्रहण नहीं कर सकता। भोग देशकाल की प्राप्ति वह उपाधि के सहयोग से ही प्राप्त कर सकता है। आत्मा के भोग आदि प्राप्त करने वाले साधन रूप स्थूल-सूक्ष्मादि शरीर हैं, आत्मा इनके द्वारा ही भोग-भोगने के स्थान एवं समय को प्राप्त करता है। इसका तात्पर्य यह हुआ की आत्मा एक जन्म से दूसरे जन्म में जाने की सामर्थ्य तो रखता है; लेकिन जब तक वह स्थूल शरीर ग्रहण नहीं कर लेता, तब तक वह (आत्मा) भोगों को भोगने की सामर्थ्य नहीं प्राप्त कर सकता॥ ५९॥

**( ५१६ ) अनधिष्ठितस्य पूतिभावप्रसंगान्न तत्सिद्धिः॥ ६०॥**

**सूत्रार्थ**— अनधिष्ठितस्य = बिना आत्मा के शरीर का, पूतिभावप्रसंगात् = सड़ जाने या दुर्गन्ध युक्त होने का प्रसङ्ग होने से न तत्सिद्धिः = शरीर का समर्थ होना सिद्ध नहीं।

**व्याख्या**— मनुष्य जितने भी कार्य सम्पन्न करता है, वे सभी आत्मा के अभाव में (प्राण-रहित शरीर द्वारा) सम्पन्न नहीं किये जा सकते। यदि यह कहा जाये कि शरीर को ही कर्त्ता अथवा भोक्ता मान लिया जाये, तो यह मान्यता भी उचित नहीं होगी; क्योंकि यदि बिना आत्मा के शरीर कुछ कर सकता, तो मृत्यु के समय में आत्मा के बहिर्गमन होने पर शरीर चेष्टा रहित नहीं होता; किन्तु यह प्रत्यक्ष है कि आत्मा के अभाव में शरीर निश्चेष्ट-जड़वत् पड़ा रहता है तथा उसका यदि शीघ्रतापूर्वक अन्त्येष्टि क्रिया (संस्कार) न कर दिया जाय अथवा किसी पदार्थ या वस्तु के (रासायनिक तत्त्वों के) योग द्वारा उसे सुव्यवस्थित न किया जाये, तो वह प्राण-रहित शरीर सड़ने लगता है। अतः इससे सिद्ध होता है कि आत्मा के अभाव में शरीर किसी भी प्रयोजन का नहीं रह जाता ॥ ६०॥

**( ५१७ ) अदृष्टद्वाराचेदसम्बद्धस्य तदसंभवाज्जलादिवदंकुरे॥ ६१॥**

**सूत्रार्थ**— चेत् = यदि, अदृष्ट द्वारा = शरीर को अदृष्ट के द्वारा उद्भूत हुआ मानें तो, असंबद्धस्य = आत्मा से सम्बन्ध रहित तत्त्वों का, तदसम्भवात् = शरीर रचना के कारण रूप होना सम्भव न होने से, जलादिवत्-अंकुरे = अंकुर की रचना में जल आदि के समान (यह मान्यता उपयुक्त नहीं होगी)।

**व्याख्या**— जिस प्रकार से जितने अंशों में आर्द्रता एवं उष्णता (गर्मी) की आवश्यकता बीज के अंकुरण में होगी, उतना ही जल आदि के प्राप्त होने से बीज में अंकुरण होगा। उसी प्रकार से जो तत्त्व(घटक)आत्मा के लिए जितने अंशों की उपयोगिता होगी, उन तत्त्वों का उतने अंशों में सम्बन्ध होने से शरीर-रचना सम्भव होगी। आत्मा के लिए उपयोगी न होने वाले विरोधी तत्त्वों से शरीर-संरचना सम्भव हो ही नहीं सकती। यदि इस प्रकार कहें कि आत्मा के अभाव में ही मात्र अदृष्ट के द्वारा ही शारीरिक संरचना होती है, तो ऐसा भी नहीं स्वीकार किया जा सकता; क्योंकि आत्मा के द्वारा भोग रूप

शुभाशुभ कार्यों (कर्मों) को अदृष्ट कहते हैं। वे कर्म आत्मा के लिए भोगों की रचना में तो निमित्त रहते हैं; किन्तु वे शरीर के मूल-उपादान कारक (उत्पन्न करने वाले तत्त्व) नहीं हो सकते॥ ६१॥

**( ५१८ ) निर्गुणत्वात्तदसंभवादहङ्कारधर्मा ह्येते॥ ६२॥**

**सूत्रार्थ—** निर्गुणत्वात् = पुरुष के निर्गुण होने के कारण, तदसम्भवात् = उसमें संभव (उत्पन्न) न होने के कारण, हि-एते = निश्चयपूर्वक ये धर्माधर्म आदि, अहंकारधर्मा: = अहंकार के सहयोग से उत्पन्न होने वाले धर्म हैं।

**व्याख्या—** पुरुष (आत्मा) के निर्गुण होने के कारण विशुद्ध पुरुष के सहित धर्माधर्म आदि का प्राकट्य असम्भव है। अहं भावना के विद्यमान रहने पर उन सभी कर्मों का अनुष्ठान प्रारम्भ हो पाता है, जो धर्माधर्म आदि गुणों को प्रादुर्भाव में लाते हैं। अत: इन्हें अहंकार का धर्म कहा जाये, तो उचित ही होगा। सांख्य शास्त्र में 'गुण' पद से सत्त्व, रजस् एवं तमस् का बोध होता है। पुरुष उन मूल उपादान कारक तत्त्वों से अलग होने के कारण ही निर्गुण कहा जाता है। प्रकृति के सान्निध्य में आने के कारण आत्मा (पुरुष) वृत्तिसरूप (सगुण सदृश) हो जाता है। बुद्धि, अहंकार आदि प्राकृत तत्त्व पुरुष की इस अवस्था के लिए सहयोगी-साधन होते हैं॥ ६२॥

**( ५१९ ) विशिष्टस्य जीवत्वमन्वयव्यतिरेकात्॥ ६३॥**

**सूत्रार्थ—** अन्वयव्यतिरेकात् = अन्वय-व्यतिरेक से, विशिष्टस्य = विशिष्ट आत्मा का, जीवत्वं = जीव होना कहा जाता है।

**व्याख्या—** '**जीवबल प्राणधारणयो:**' पद के अनुसार 'जीव' का अर्थ 'प्राणी' होता है; लेकिन अहंकार आदि कारणों की विशिष्टता के कारण ही उसे जीव कहा जाता है;क्योंकि अहंकार के अन्वय अर्थात् संयोग से प्राण-धारण,व्यतिरेक अर्थात् वियोग की स्थिति होने के कारण प्राण विहीन होते हुए देखा जाता है। अत: इस प्रकार संयोग एवं वियोग द्वारा ही आत्मा को जीव कहना या न कहना सिद्ध होता है। मुक्तावस्था में उसकी 'जीव' संज्ञा नहीं होती है,तब उस स्थिति में उसे 'आत्मा' या 'पुरुष' कहा जाता है॥

**( ५२० ) अहंकारकर्त्रधीना कार्यसिद्धिर्नेश्वराधीना प्रमाणाभावात्॥ ६४॥**

**सूत्रार्थ—** अहंकारकर्त्रधीना = अहंकारादियुक्त कर्त्ता के अधीन, कार्यसिद्धि: = कार्य की सिद्धि होती है, प्रमाणाभावात् = प्रमाण का अभाव होने से, ईश्वराधीना = ईश्वर के अधीन, न = नहीं है।

**व्याख्या—** सभी प्रकार के सांसारिक कार्य अहंकारविशिष्ट कर्त्ता अर्थात् जीवात्मा के अधीन हैं, ईश्वर के अधीन नहीं; क्योंकि प्राणिजनों में आकर्षण का केन्द्र बना रहने के कारण जीवात्मा ही अहंकार आदि से सम्पन्न रहकर उन्हें कार्य करने हेतु सतत प्रेरित करता रहता है। इसी कारण उसे उक्त उन कर्मों के फलों को भोगना पड़ता है। यदि उन समस्त कर्मों का कर्त्ता ईश्वर होता अथवा ईश्वर की प्रेरणा द्वारा वे सभी कार्य किये जाते,तो उनका फल-भोग भी ईश्वर द्वारा ही सम्पन्न किया जाता, जीवात्मा क्या करता? यदि ईश्वर के किए कर्मों को जीवात्मा भोगता, तो यह अन्याय होता एवं इसका दोष ईश्वर के ऊपर लगता। इस प्रकार इससे यही सिद्ध होता है कि जीवात्मा ही कर्त्ता एवं भोक्ता है॥ ६४॥

**( ५२१ ) अदृष्टोद्भूतिवत्समानत्वम्॥ ६५॥**

**सूत्रार्थ—** अदृष्टोद्भूतिवत् = अदृष्ट से उत्पन्न करने के समान, समानत्वम् = पुरुषार्थ से उत्पन्न कहना भी वैसी समानता रखता है।

**व्याख्या—** जिस प्रकार से अदृष्ट (धर्माधर्म) द्वारा उद्भव होना कहा गया है, वैसे ही पुरुषार्थ

द्वारा शरीर का प्रादुर्भाव होना कहा गया है। जिस तरह अदृष्ट (धर्माधर्म) जन्म-धारण करने में निमित्त मात्र है, उसी तरह से पुरुषार्थ भी निमित्त मात्र है। ये दोनों उपादान-कारण नहीं हैं। पुरुषार्थ के दो प्रकार कहे गये हैं-प्रथम-भोग एवं द्वितीय-मोक्ष। भोग प्रधान कर्मों से प्रारब्ध का निर्माण होता है तथा तदनुरूप पुनर्जन्म धारण करना होता है और मोक्ष-प्रधान कर्मों के होने पर पुन: जन्म नहीं होता। प्राणी मुक्त होकर अपनी सत्ता को परमात्म सत्ता में समाहित कर लेता है॥ ६५॥

## (५२२) महतोऽन्यत्॥ ६६॥

**सूत्रार्थ**— महत: = शुद्ध बुद्धि तत्त्व से, अन्यत् = (क्रिया अनुष्ठान द्वारा) अन्य-प्रकृति-पुरुष विवेकज्ञान होता है।

**व्याख्या**— महत्तत्त्व अर्थात् शुद्ध सत्त्वमय अतिसूक्ष्म बुद्धि तत्त्व द्वारा सांसारिक एवं आध्यात्मिक कर्मों से भिन्न-विलक्षण प्रकृति-पुरुष विवेक की स्थिति उत्पन्न होती है। जब तक बुद्धि मलिन रहती है तथा विषयों में आसक्ति बनी रहती है, तब तक पुरुषार्थमयी प्रकृति-पुरुष विवेक का लाभ सम्भव नहीं हो पाता। अत: मोक्ष की कामना वाले को वह उच्च स्थिति पाने के लिए तीव्र वैराग्य के साथ अष्टांग योगादि का प्रयास पूर्वक अभ्यास करना चाहिए। इसी अभ्यास द्वारा बुद्धि पवित्र होगी तथा विवेक रूपी परम पुरुषार्थ का लाभ भी प्राप्त होगा॥ ६६॥

## (५२३) कर्मनिमित्त: प्रकृते: स्वस्वामिभावोऽप्यनादिर्बीजांकुरवत्॥ ६७॥

**सूत्रार्थ**— बीजांकुरवत् = बीज एवं अंकुर के समान,प्रकृते:=प्रकृति का,स्वस्वामिभाव:=अपने स्वयं को स्वामी होने का भाव, कर्मनिमित्त: = कर्मरूप कारण से, अपि = भी, अनादि: = अनादि है।

**व्याख्या**— प्रकृति का पुरुष के साथ स्वस्वामिभाव सम्बन्ध कर्म रूप निमित्त से होता हुआ भी बीज एवं अंकुर के सदृश अनादि है। प्रकृति भोग्य 'स्व' है और आत्मा भोक्ता 'स्वामी' है। प्रकृति विविध रूपों में पुरुष के लिए भोग्य पदार्थों एवं भोग साधनों को प्रस्तुत करती है। यह सभी कुछ विराट् पुरुष के कर्मों के निमित्त होता है। कर्मरूप कारण के होते हुए भी यह बीज के अंकुर के सदृश आदि-रहित ही जानना चाहिए। जिस प्रकार बीज एवं अंकुर में कौन सर्वप्रथम प्रकट हुआ, यह स्पष्ट रूप से नहीं कहा जा सकता? उसी प्रकार प्रकृति जीव की स्वामिनी होते हुए भी जीव कर्म के निमित्त उसके सान्निध्य में आता है।

अत: सर्वप्रथम आत्मा प्रकट हुआ अथवा प्रकृति। यह स्पष्ट रूप से नहीं कह सकते; क्योंकि प्रकृति और पुरुष दोनों ही अनादि हैं। इनका प्रादुर्भाव कब और कैसे हुआ यह कोई नहीं जानता? यह प्रवाह अनादि काल से यथावत् चला आ रहा है। इसकी प्रामाणिकता में किसी को भी संदेह नहीं करना चाहिए॥ ६७॥

## (५२४) अविवेकनिमित्तो वा पञ्चशिख:॥ ६८॥

**सूत्रार्थ**— वा = अथवा, अविवेकनिमित्त: = अविवेक रूप कारण से (आत्मा प्रकृति के सम्पर्क में आता है), पञ्चशिख: ऐसा पंचशिख (आचार्य कपिल के प्रमुख शिष्य) का मत है।

**व्याख्या**— पंचशिखाचार्य का ऐसा मानना है कि आत्मा अविवेक के कारण ही प्रकृति के सम्पर्क में आकर बन्धन में आबद्ध होता है। यह अविवेक भी अनादि है। यहाँ इनका तात्पर्य यह हुआ कि जब तक अविवेक बना रहता है, तब तक जन्म-मृत्यु का चक्र भी यथावत् बना रहता है, किन्तु अविवेक जैसे ही नष्ट होता है और आत्म साक्षात्कार होता है, वैसे ही मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है॥ ६८॥

**( ५२५ ) लिङ्गशरीरनिमित्तक इतिसनन्दनाचार्यः ॥ ६९ ॥**

**सूत्रार्थ—** लिङ्गशरीरनिमित्तक = सूक्ष्म शरीर के निमित्त से आत्मा प्रकृति के सम्पर्क में आता है; इति = इस प्रकार का, सनन्दनाचार्य**:** = आचार्य सनन्दन (आचार्य कपिल के सुहृद्) का अभिमत है।

**व्याख्या—** आचार्य सनन्दन का अभिमत है कि आत्मा जैसे ही सूक्ष्म शरीर से आवृत हो जाता है, वैसे ही उसे प्रकृति के सान्निध्य में आना पड़ता है तथा तभी से जन्म-मृत्यु का चक्र शुरू हो जाता है, अन्वयव्यतिरेक से यह सिद्ध होता है कि प्रकृति-पुरुष का भोग्य-भोक्तृभाव सूक्ष्म शरीर की संनिकटता में ही संभव होता है, अत**:** उसे ही निमित्त माना जाना चाहिए। सूक्ष्म शरीर का दूसरा नाम लिङ्ग शरीर है। सूक्ष्म शरीर के आधार पर स्थूल शरीर के सहयोग से आत्मा को सभी भोग एवं अपवर्ग (मोक्ष) की प्राप्ति सम्भव है॥ ६९ ॥

**( ५२६ ) यद्वा तद्वा तदुच्छित्तिः पुरुषार्थस्तदुच्छित्तिः पुरुषार्थः ॥ ७० ॥**

**सूत्रार्थ—** यद्वा-तद्वा = जिस किसी भी निमित्त से हो, तदुच्छित्ति**:** पुरुषार्थ**:** = उसका उच्छेद (नष्ट) होना ही पुरुषार्थ है।

**व्याख्या—** आचार्य कपिल ने सांख्य शास्त्र का शुभारम्भ दैहिक, दैविक एवं भौतिक त्रिविध तापों (दु:खों) की पूर्णरूपेण निवृत्ति रूप पुरुषार्थ का विवेचन करते हुए किया है। सांख्य में प्रकृति एवं पुरुष के स्वरूप का विश्लेषण एवं दु:ख निवृत्ति के उपक्रम का विस्तृत उल्लेख किया गया है। दु:ख-सुख आदि का अस्तित्व प्रकृति-पुरुष के सान्निध्य में ही प्रकट होता है; किन्तु उस सान्निध्य को निरस्त नहीं किया जा सकता, वह अति आवश्यक है। अत: आत्मा प्रकृति के सान्निध्य में चाहे जिस कारण (निमित्त) से आये, उस सान्निध्य (सन्निकटता) को समाप्त करना जीवन का एक मात्र लक्ष्य होना चाहिए। उसी के द्वारा दु:ख आदि द्वन्द्वों की निवृत्ति संभव है, प्रकृति से सम्पर्क न होने को ही अपवर्ग कहा गया है तथा दु:ख-द्वन्द्वों का शमन होना ही 'पुरुषार्थ' है। उसे ही अत्यन्त पुरुषार्थ कहा गया है। सूत्र में '**तदुच्छित्तिः पुरुषार्थः**' पद का दो बार प्रयुक्त होना अध्याय एवं ग्रन्थ की समाप्ति का द्योतक है॥ ७० ॥

## ॥ इति षष्ठोऽध्याय: समाप्त: ॥

## ॥ इति सांख्यदर्शनं समाप्तम् ॥

